विषय सूची

●

अनुवादक की ओर से

अपने क्रान्तिकारी भौतिकवादी विश्व-दर्शन की नींव डालने का श्रीगणेश मार्क्स ने पाण्डुलिपियों के रूप में लिखित अपनी इसी प्रारम्भिक रचना में किया था।

उनकी यह रचना जो, जैसा कि आगे भूमिका में आप पढ़ेंगे, अपूर्ण है और जिसकी पाण्डुलिपियों के कुछ अंश लुप्त हो गये हैं और कुछ पढ़े भी नहीं जा रहे हैं—न केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण है, बल्कि पूंजीवादी प्रचारकों तथा अन्य भ्रान्त लोगों द्वारा अत्यन्त विवादास्पद भी बना दी गयी है।

यही वह बहुचर्चित रचना है जिसको लेकर किन्हीं पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों और दार्शनिकों ने "प्रारम्भिक मार्क्स" और "बाद के मार्क्स" के बीच खुर्दबीन लगाकर भेद ढूंढ निकालने की और यह सिद्ध करने की भगीरथ चेष्टा की है कि युवा मार्क्स बहुत मानवीय और मानववादी थे, किन्तु वयस्क मार्क्स इसके उलटे बन गये थे! दूर की कौड़ी लाने वाले कुछ महानुभावों ने तो इन पाण्डुलिपियों के मार्क्स को छुरी बनाकर बाद के, "पूंजी" तथा अन्य पुष्ट रचनाओं के मार्क्स के सिद्धान्तों का ही गला काटने और उनका खण्डन करने का प्रयास किया है!!

ऐसे सभी प्रयास निराधार और निष्फल सिद्ध हुए हैं। पर, कदाचित्, इस तरह के प्रयास करने का मौका इन सज्जनों को मार्क्स की इस अनुपम कृति के उन अनेक भव्य और काव्यात्मक अंशों से मिल गया है जिनमें कि बहुत ही उदात्त और ओजस्वी शब्दावली में मार्क्स ने मानव की महान गरिमा का बखान किया है और पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के घोर पाशवी और पाखण्डपूर्ण शोषण की गहनतम गहराइयों तक प्रवेश करके न केवल उसके क्रूर मानव-द्रोही रूप को प्रत्यक्ष कर दिया है, बल्कि अपने हृदय के रोष और आक्रोश की तप्त ज्वालाओं से दागकर उसके अनिवार्य अन्त की भी उद्घोषणा कर दी है। पूंजीवादी शोषण की व्यवस्था का ऐसा विशद और भावावेशपूर्ण विश्लेषण स्वयं मार्क्स की रचनाओं में भी अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है।

इस दुर्दान्त तोड़-मरोड़ के-लिए ऐसे लोगों को सम्भवतः इस बात से भी *मनचाहा अवसर मिल गया है कि उस समय तक जिस समय कि, अपने प्रथम* अन्वेषण-कार्य के दौरान, मार्क्स इन टिप्पणियों को लिपिबद्ध कर रहे थे उनके ऊपर हीगेलवादी और फ़ायरबाख़वादी दोनों ही शब्दावलियों का काफी प्रभाव था और जगह-जगह, यद्यपि उन्हें मूलतः नया अर्थ देते हुए, उन्होंने उनका अपनी इस कृति में प्रयोग किया है।

किन्तु, इन्हीं तथा अन्य कारणों से मार्क्स की ये पाण्डुलिपियाँ (जिनकी संख्या तीन है) कहीं-कहीं बहुत ही दुरूह तथा अनुवादक के लिए सर-दर्द बन गयी हैं।

मार्क्स की इन पाण्डुलिपियों को अंग्रेज़ी से हिन्दी में प्रस्तुत करते समय हमने भरसक प्रयास किया है कि प्रस्तुतीकरण में कहीं कोई ग़लती न हो। परन्तु, सच्चाई की माँग है कि हम बतला दें कि, कम से कम दो-चार स्थल तो ऐसे हैं ही जिनके सम्बन्ध में हमें स्वयं पूरा विश्वास नहीं है कि उनका अनुवाद सही हुआ है, या नहीं। अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दावली से परिचित पाठकों की सहायता के लिए इसीलिए अनेक जगह हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेज़ी शब्दों को भी हमने दे दिया है। *फिर भी साधारण पाठकों तथा विज्ञजनों दोनों से हमारी प्रार्थना है कि उन्हें जो भी स्थल इस अनुवाद में अस्पष्ट, अथवा त्रुटिपूर्ण लगें* उनके विषय में वे कृपाकर हमें लिख दें जिससे कि इस मार्क्सवादी क्लासिक के अगले संस्करण में उन्हें सुधार और ठीक कर के दिया जा सके।

इस सबके बावजूद, हमें विश्वास है कि इस कृति के अनुवाद से हिन्दी में अब प्रचुर मात्रा में सुलभ मार्क्सवादी वाङ्मय में वाञ्छनीय अभिवृद्धि होगी और पाठकों को अर्थशास्त्र तथा दर्शन जैसे दक्ष विषयों के भी निरूपण में मार्क्स के मानव-प्रेम से परिपूर्ण अद्भुत भावोन्मेष का रसास्वादन करने एवं मार्क्सवादी दर्शन-सम्बन्धी अपनी समझदारी में कुछ नये आयाम जोड़ने का सुअवसर प्राप्त होगा।

२० अक्तूबर, १९८१ —रमेश सिन्हा
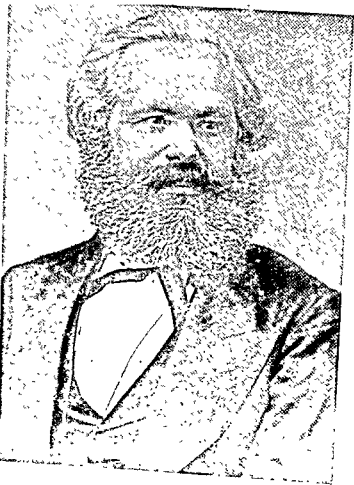
भूमिका

अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ : कार्ल मार्क्स द्वारा
शास्त्र के क्षेत्र में की गयी प्रथम छान-बीन का आरम्भिक प्रारूप (मसौदा)
इस असमाप्त कृति में, जो अपूर्ण दशा में ही हमें प्राप्त हुई है, पूंजीवादी
नीतिक अर्थशास्त्र तथा पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था की आलोचना की गयी

. .

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के संस्थान (मास्को) द्वारा दिये गये शीर्षक,
र्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ" के अन्तर्गत तीन
डुलिपियाँ सम्मिलित हैं। पहली तथा सबसे आरम्भिक पाण्डुलिपि का स्वरूप
कीर्णतया आयोजनात्मक है; मार्क्स की अपनी टीका-टिप्पणियों तथा
कर्षों के साथ, बारी-बारी से, उसमें पूंजीवादी और निम्न-पूंजीवादी अर्थ-
स्त्रियों के भी उद्धरण दिये गये हैं। दूसरी पाण्डुलिपि के केवल अन्तिम चार
ठ बचे हैं। तीसरी पाण्डुलिपि में दूसरी पाण्डुलिपि के लुप्त पृष्ठों से
बन्धित अनुपूरक मन्तव्य पाये जाते हैं। उनमें निजी सम्पत्ति तथा श्रम, निजी
पत्ति तथा कम्युनिज्म (साम्यवाद), और पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत रुपये-
की शक्ति जैसे विषयों का उल्लेख है। तीसरी पाण्डुलिपि के अधिकांश भाग
हीगेलवादी द्वन्द्ववाद तथा सम्पूर्ण हीगेलवादी दर्शन का विश्लेषण है जो
लोचनात्मक ढंग से किया गया है।

तीनों ही पाण्डुलिपियों में बल इस बात पर दिया गया है कि पूंजीवादी
ाज में "श्रम का पृथक्करण" (अलगाव : estrangement of labour),
था "श्रमिक का परकीयकरण" (alienation of the labourer) हो
ता है। हीगेल के दर्शन में और, विशेष रूप से, फायरबाख द्वारा की गयी
की दार्शनिक आलोचना में "पृथक्करण" के प्रवर्ग (category : श्रेणी) का
त्त्व स्थान था। किन्तु, हीगेल ने आत्म-चेतना (self-consciousness) के
कीयकरण की बात की थी और फायरबाख ने अमूर्त, अनैतिहासिक तथा
जीव मनुष्य के परकीयकरण की। मार्क्स श्रमिक (मजदूर) के "अलगाव",
था "परकीयकरण" की बात करते हैं। "परकीयकरण" की अवधारणा को

वह एक सर्वथा नया आर्थिक, वर्गीय तथा ऐतिहासिक स्वरूप दे देते हैं। मार्क्स जब "पृथक्करण" (अलगाव), अथवा "परकीयकरण" की बात करते हैं तब उनका मतलब पूँजीपति के लिए मजदूर द्वारा बरजोरी कराये जाने वाले श्रम से, मजदूर के श्रम की पैदावार का पूँजीपति द्वारा अधिकरण कर लिये जाने (हड़प लिए जाने) से, तथा उत्पादन के साधनों से मजदूर का बिलगाव (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाने से होता है। पूँजीपति के अधिकार में होने के कारण उत्पादन के ये साधन मजदूर के सामने एक परकीय (गैर), उसे दास बनाने वाली, शक्ति के रूप में उपस्थित होते हैं। मार्क्स यहाँ पूँजीवादी शोषण के विशिष्ट लक्षणों की सही-सही व्याख्या के अत्यन्त समीप तक पहुँच जाते हैं।

पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों की आलोचना क्योंकि मार्क्स समाजवाद के दृष्टिकोण से करते हैं इसलिए श्रम और पूँजी के बीच की "शत्रुतापूर्ण पारस्परिक प्रतिकूलता (विरोध)" को वह उद्घाटित कर देते हैं और उस पर ज़ोर देते हैं। वह यह बतलाते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर जितनी ही अधिक धन-सम्पदा पैदा करता है वह उतना ही अधिक ग़रीब होता जाता है; कि पूँजीवादी समाज के आर्थिक विकास की जो प्रक्रिया है वह स्वयं ही अनिवार्य रूप से क्रान्ति को जन्म देती है तथा मजदूरों की मुक्ति के प्रश्न को—जिसमें कि, जैसा कि वह बतलाते हैं, "सार्वजनीन मानवीय मुक्ति निहित है"—सम्मुख प्रस्तुत कर देती है।

"श्रम के पृथक्करण (अलगाव)" के सम्बन्ध में उसका एक आर्थिक वास्तविकता के रूप में उल्लेख करते हुए, मार्क्स इस बात पर बल देते हैं कि वह एक असली, वस्तुगत जीवन-सत्य है तथा इस "अलगाव" को दूर करने का संघर्ष पूरे समाज को ही कम्युनिस्ट आदर्श के अनुसार फिर से ढालने का व्यावहारिक क्रान्तिकारी संघर्ष है। भौतिक उत्पादन का—"साधारण औद्योगिक उत्पादन" का—मानव के इतिहास के लिए जो भारी महत्व है तथा धर्म, क़ानून, नैतिक आचरण, विज्ञान, कला, आदि पर उसका जो प्रभाव पड़ता है उसे मार्क्स ने चिन्हांकित किया है। हीगेल और फायरबाख के विपरीत, मनुष्य का एक विशिष्ट भौतिकवादी ढंग से अध्ययन करते हुए मार्क्स प्रकृति तथा समाज के अन्दर उसकी सक्रिय भूमिका पर बल देते हैं।

अपनी "अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ" तैयार करते समय तक मार्क्स फ़ायरबाख के भारी प्रभाव में थे। यह बात विशेष रूप से उस समय स्पष्ट हो जाती है जब फ़ायरबाख का मूल्यांकन करते समय उनको वह वास्तविक से कहीं अधिक महत्व देते हैं तथा, अपने उस नये विश्व-

दर्शन के कुछ बिन्दुओं को सिद्ध करने के लिए, जिसका उस समय वह विकास कर रहे थे. वह "मनुष्यजाति की मूल-सत्ता" (man—the species-being), "प्रकृतिवाद" (naturalism), "मानवीयता" (humaneness), आदि की फायरबाखवादी अवधारणाओं का उपयोग करते हैं, यद्यपि इन परिभाषाओं में वह एक नया विचार-तत्व अवश्य डाल देते हैं। अपनी तीनों पाण्डुलिपियों में मार्क्स ने न केवल फ़ायरबाखवादी पारिभाषिक शब्दावली का ही, वरन् हीगेल-वादी पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है। परन्तु, फ़ायरबाख के अब तक व्याप्त अच्छे-खासे-प्रभाव के बावजूद, अपनी इस प्रारम्भिक कृति में ही मार्क्स ने उस क्रान्तिकारी भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण की नींव रखनी शुरू कर दी थी जिसका तुरन्त बाद ही फिर (अपनी नयी कृतियों) **"पवित्र परिवार"** तथा, विशेष रूप से, **"जर्मन विचारधारा"** में उन्होंने और आगे विकास किया था।

परिशिष्ट में फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा रचित **"राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा"**—सम्मिलित कर ली गयी है। इसको उन्होंने १८४३ के अन्तिम भाग में लिखना आरम्भ किया था और १८४४ के शुरू में पूरा कर लिया था। इसमें एंगेल्स ने "समकालीन आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख व्यापारों (phenomena) की समाजवादी दृष्टिकोण से जाँच-पड़ताल की थी और यह निष्कर्ष निकाला था कि वे निजी सम्पत्ति के शासन के अवश्यम्भावी परिणाम हैं" (लेनिन)। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अपनी इस प्रथम तथा तब तक अपर्याप्त रूप से परिपक्व कृति में एंगेल्स ने पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना करना आरम्भ कर दिया था और, इसी के साथ-साथ, पूँजीवादी समाज की भी आलोचना ग़ुलाम तथा शोषित जन-समुदायों के दृष्टिकोण से करनी शुरू कर दी थी। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों की आलोचना करते समय, जनसंख्या के सम्बन्ध में मानव-द्रोही माल्थसवादी सिद्धान्त की भी एंगेल्स ने विस्तार से ख़बर ली थी। इस "सिद्धान्त" की पूर्ण विवेक-शून्यता सिद्ध करते हुए, समाज की उत्पादक शक्तियों का विकास करने के लिए वैज्ञानिक प्रगति की भूमिका का उन्होंने विशेष बल देते हुए उल्लेख किया है।

—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति का मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान।

पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में अनुवादक की टिप्पणी*

(कुछ उन महत्वपूर्ण पारिभाषिक जर्मन शब्दों के सम्बन्ध मे जिनका इस रचना की अनुवादित सामग्री के अन्दर बारम्बार उपयोग किया गया है, अनुवादक निम्न व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता है। इसका उद्देश्य आंशिक रूप से जिस ढंग से उन शब्दों का अनुवाद किया गया है उसे स्पष्ट करना है, और आंशिक रूप से मूल पाठ को समझने मे सहायता पहुंचाना।)

Aufheben (भूत काल : **aufhob;** भूत कृदन्त : **aufgehoben;** संज्ञा : **Aufhebung**)।

Aufheben (शब्दशः "ऊपर उठाना"): बोल-चाल की साधारण भाषा मे इस शब्द के दो प्रतिकूल अर्थ होते हैं। (१) इसका अर्थ "उन्मूलन करना", "रद्द करना," "निराकरण करना," "छुटकारा पा लेना," आदि हो सकता है। (२) इसका अर्थ "परिरक्षण करना" (संभाल कर रखना) हो सकता है। इसी दोहरे नकारात्मक और सकारात्मक, अर्थ के कारण हीगेल इस शब्द की उपयोगिता को महत्ता देते हुए (देखिए : "हीगेल का तर्कशास्त्र," वालेस द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८०), इसका इस्तेमाल उस सकारात्मक-नकारात्मक क्रिया को चित्रित करने के लिए करते हैं जोकि, एक उच्चतर तर्क-शास्त्रीय श्रेणी (प्रवर्ग), अथवा प्रकृति या भावना (आत्मा) के रूप को लेकर उसके एक निम्नतर रूप या श्रेणी को विस्थित (स्थान-च्युत) कर देती है और ऐसा करते समय दोनो कार्य करती है—उसका "निराकरण कर देती है" तथा "उसके सत्व को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेती है"। दुर्भाग्य से, अंग्रेजी भाषा मे एक भी अकेला शब्द, सिवा "प्रत्याख्यात (खण्डित) करने" ("sublate") के, ऐसा नहीं है जिसका उसी प्रकार दोहरा अर्थ होता हो। "प्रत्याख्यात करना" ("sublate") एक प्राविधिक पारिभाषिक शब्द है जिसको इस कार्य के लिए हीगेल के कुछ अनुवादकों ने अपना लिया है। किन्तु, यदि सम्भावना यह है कि

उससे सामान्य पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ सकेगा इसलिए इस कृति में उसका प्रयोग नहीं किया गया है। उसके स्थान पर, ऐसे स्थलों पर जहाँ aufheben शब्द का प्रयोग इस दोहरे, सकारात्मक-नकारात्मक अर्थ में किया गया प्रतीत हुआ है, वहाँ, आम-तौर से, "विस्थित करने" ("Supersede") का इस्तेमाल किया गया है और, यदा-कदा, उसका अनुवाद "आगे बढ़ जाने" (transcend) के रूप में भी किया गया है। दूसरी ओर, जिस जगह ऐसा लगा है कि aufheben का इस्तेमाल सीधे-सीधे अथवा मुख्य रूप से उसके सर्व-सामान्य नकारात्मक अर्थ में ही किया जा रहा है, वहाँ ऊपर दिये गये नकारात्मक शब्दों—"उन्मूलन करने," "निराकरण करने," आदि का प्रयोग किया गया है।

Entaussern (भूत कृदन्त : entrossert; संज्ञा : Entausserung)।

entaussern शब्द के कोष वाले साधारण अर्थ हैं, "पृथक करना," "परित्याग कर देना," "फेंक देना," "बेच देना," "परकीय करना" (किसी अधिकार, अथवा अपनी सम्पत्ति को)। इनमें से अन्तिम शब्द ही उस अर्थ को सबसे अच्छी तरह व्यक्त करता है जिसमें इस पारिभाषिक शब्द का मार्क्स आमतौर से इस्तेमाल करते हैं। कारण यह है कि "परकीय करना" ("alienate") ही अंग्रेजी भाषा में एक अकेला ऐसा शब्द है जो, बहुत-कुछ उसी तरह जिस तरह कि "entaussern" करता है, किसी ऐसी चीज के "खो जाने" के विचार को अपने अन्दर समेटे रहता है जो, लुप्त हो जाने के बावजूद, उसके विरुद्ध अस्तित्वशील बनी रहती है; जो, किसी चीज के—उसे "बेचने" के इरादे से स्वयं अपने द्वारा उठाये गये कदम के फलस्वरूप—उसके हाथ से निकलकर किसी दूसरे के हाथ में पहुँच जाने के विचार को अभिव्यक्त करता है। इसका अर्थ हुआ कि, "परकीय करने" ("alienate") तथा entaussern, दोनों शब्दों का कम से कम एक सम्भव अर्थ बेचने, स्वामित्व का स्थानान्तरण करने का वह विचार भी है जिसमें, साथ ही साथ, परित्याग कर देने की भावना निहित है। इसी के साथ-साथ, entaussern शब्द का अर्थ, "परकीय करने" ("alienate") से भी अधिक शक्तिशाली ढंग से, "अपने से बाहर कर देना" (बाह्य रूप प्रदान कर देना) भी है, और, इसलिए, कभी-कभी, जब ऐसा लगा है कि लेखक के दिमाग में अर्थ का यही पहलू सर्वोपरि है, तब अंग्रेजी में उसका अनुवाद करने के लिए "बाह्य रूप प्रदान करने" की शब्दावली का उपयोग किया गया है। मूलपाठ में एक जगह Veraussern शब्द के प्रयोग को अंकित किया गया है : इसका अर्थ, उसी तरह जिस तरह कि entaussern का,

—"बेचना" तथा "परकीय करना" होता है, किन्तु उसके अन्दर "परित्याग कर देने" की, अथवा उस चीज के—जिसको परकीय किया गया है—उसी के विरुद्ध खड़े हो जाने की भावना नहीं है जिसने उसका परकीयकरण किया था।

Entfremden (भूत कृदन्त: entfremdet; संज्ञा : Entfremdung) ।

साधारण शब्द-कोशीय अर्थ Entfremden के हैं : "दूर हटाना"(to estrange), "परकीय करना" (to alienate), किन्तु इस कृति में हमेशा "दूर हटाना" इस्तेमाल किया गया है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि "परकीय करना" की entaussern (का अनुवाद करने के लिए) आवश्यकता थी (ऊपर देखिए), बल्कि इस कारण भी कि entfremden केवल एक ही अर्थ में अंग्रेजी शब्द "परकीय करने" का तुल्यार्थक है—उस अर्थ में जिसमें कि हम दो व्यक्तियों के "परकीय बन जाने" की, अथवा किसी के स्नेह के "विच्छेद हो जाने" की बात करते हैं। Entfremden में "परकीय करने" की क़ानूनी-व्यावसायिक अंतर्ध्वनि नहीं मिलती, और उसका प्रयोग, उदाहरण के लिए, किसी सम्पत्ति के स्थानान्तरण का वर्णन करने के लिए नहीं किया जा सकता। अतः, इस बात के बावजूद कि मार्क्स के अनुवादकों ने entfremdet का अनुवाद करने के लिए बहुधा "परकीय करने" का प्रयोग किया है, "दूर हटा देना" श्रेयस्कर लगता है, विशेष रूप से इसलिए भी कि मार्क्स भी entaussert का इस्तेमाल करते हैं, जो कि अपने कानूनी-व्यावसायिक अर्थ में "परकीय करने" का ही तुल्यार्थक है।

Wesen

अंग्रेज़ी भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अपने अर्थ के विस्तार में Wesen की समता कर सके।

Wesen का एक अर्थ "मूल-तत्व" हो सकता है, और मार्क्स के कुछ अनुवादकों ने उसका इस तरह प्रस्तुतीकरण किया है जैसे कि उसका और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। किन्तु, उसका अर्थ जब "मूल-तत्व" ही होता है, तब भी "मूल-तत्व" को किसी अधिपार्थिव (super-mundane), अथवा विरलीकृत (rarefied) के अर्थ में नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, किसी वस्तु के "ठोस केन्द्र" (Solid core) के उल्टे अर्थ में—उसके अतात्विक अभिलक्षणों के विरुद्ध उसके

तात्विक (essential) अर्थ में—उसके नैमित्तिक (accidental) लक्षणों के विरुद्ध उसके "सार भाव" के अर्थ में—यहाँ तक कि किसी वस्तु की "वास्तविक सत्ता" के "मौलिक स्वरूप" (essential nature) के ही अर्थ में समझा जाना चाहिए।

किन्तु, द्वितीयतः, Wesen का प्रयोग जर्मन भाषा में सर्वथा सामान्य रूप में, "मानव प्राणी" (ein menschliches Wesen) अथवा "परम सत्ता" (das hochste Wesen) जैसे वाक्यांशों में, एक "प्राणी" (या "सत्ता") के अर्थ में भी किया जाता है।

तीसरे, जैसा कि हीगेल ने बतलाया है, Wesen का अर्थ "साधारण जीवन में बहुधा केवल एक समुच्चय (collection) अथवा पूर्ण योग (aggregate) होता है: जैसे कि Zeitungs-wesen (समाचार पत्र), Postwesen (डाकखाना), Steuerwesen [मालगुजारी, राजस्व] में। इन शब्दों का जो असली अर्थ है वह केवल यह है कि सम्बन्धित वस्तुओं को एक-एक करके, उनकी अनन्तरता में नहीं, बल्कि उनको उनके संकुल (complex) रूप में, और फिर, कदाचित, इसके अतिरिक्त, उनके विभिन्न आकारों में, लिया जाना चाहिए।" हीगेल आगे कहते हैं कि: "शब्द का यह परम्परागत प्रयोग अपने निहितार्थों में हमारे अपने अर्थ से अधिक भिन्न नहीं है।" (देखिए: "हीगेल का तर्कशास्त्र", वालेस द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०९ और २०२)

इस शब्द का अभी ऊपर जो प्रयोग बतलाया गया है वह जिस अर्थ में मार्क्स ने उसका प्रयोग किया है उससे अधिक भिन्न नहीं है। इसे, उदाहरण के लिए, उस समय देखा जा सकता है जबकि das menschliche Wesen की अवधारणा का वह सकारात्मक ढंग से इस्तेमाल करने का प्रयास करते हैं। वह कहते हैं, "मानव का सार-तत्व प्रत्येक पृथक्कृत व्यक्ति में अंतर्निहित कोई अपाकर्षण (सार) नहीं होता। अपनी यथार्थता में वह सामाजिक सम्बन्धों का ही एक समग्र (कुल योग) होता है।" (फ़ायरबाख़ के सम्बन्ध में थीसिस, संख्या ६: कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स की रचना जर्मन विचारधारा का परिशिष्ट, लन्दन, लॉरेन्स एण्ड विशर्ट, १९३९। आर० पैस्कल द्वारा अनुवादित)

इस कृति में जिन मूल पाठों का अनुवाद किया गया है उनमें Wesen के विभिन्न अर्थों को लेकर मार्क्स बारम्बार खिलवाड़ करते हैं; कभी-कभी तो वह एक ही वाक्य में उसका इस्तेमाल दो या और भी अधिक अर्थों में करते हैं। अंग्रेज़ी अनुवादक इन भिन्न-भिन्न अर्थों को भिन्न-भिन्न अंग्रेज़ी शब्दों के माध्यम से ही प्रस्तुत कर सकता है।

कार्ल मार्क्स

अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ

राजनीतिक अर्थशास्त्र से परिचित पाठक को इस विषय में आश्वस्त करने आवश्यकता नहीं है कि जो निष्कर्ष मैंने निकाले हैं उन्हें, राजनीतिक अर्थ-त्र के विवेकपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर, पूर्णतया अनुभव-द विश्लेषण के द्वारा, मैंने प्राप्त किया है।

[उक्त अज्ञानी आलोचक* यद्यपि, अपने घोर ज्ञानाभाव तथा अपने बौद्धिक रिद्रय पर पर्दा डालने के लिए, वास्तविक आलोचकों के सिर पर "कल्पना-दी सनकबाजी," अथवा "पूर्णतया शुद्ध, पूर्णतया कृत-संकल्प, पूर्णरूपेण आलो-ात्मक आलोचना," "न केवल वैध, वरन् सामाजिक—निरे सामाजिक—माज", "ठोस वजनी जन-समुदाय," "स्थूल वजनी' जन-समुदाय के मुंहफट** वक्ता" जैसी शब्दावलियों को फेंक कर मारता है—किन्तु इस बात का प्रथम माण तक अभी तक उसने नहीं प्रस्तुत किया है कि धर्म-शास्त्र सम्बन्धी अपने रिवारिक धन्धों के अतिरिक्त भी उसके पास कोई ऐसी वस्तु है जिसका सांसारिक विषयों की बहस में अपनी ओर से वह योगदान कर सकता है!]

यह बात निर्विवाद है कि फ्रांसीसी और अंग्रेज समाजवादियों की रचनाओं र अतिरिक्त जर्मन समाजवादियों की कृतियों का भी मैंने उपयोग किया है। किन्तु, वीटलिंग (Weitling) की कृतियों के अलावा, इस विज्ञान से सम्बन्धित एकमात्र जो तत्त्वपूर्ण मौलिक जर्मन कृतियां उपलब्ध हैं वे हैं: हेस (Hess) के निबन्ध जो 'आइनुन्दत्स्वान्त्सिग बोगेन'' (*Einundzwanzig Bogen*)' में प्रका-शित हुए थे तथा उसी "डॉइश-फ्रान्ज़ोसिश्चे जाह्रबुखेर" (Deutsch-Französische Jahrbücher) में छपी एंगेल्स की रचना, "*Umrisse zur Kritik der Nationalökonomie*" (राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की आलोचना की रूपरेखा) जिसमें इस कृति ("अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ") के मूल तत्त्वों का भी एक अत्यन्त सामान्य ढंग से मैंने निदर्शन किया है।

(इन लेखकों के प्रति, जिन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर आलो-चनात्मक ढंग से ध्यान दिया है, ऋणी होने के अलावा, सम्पूर्ण सच्ची आलोचना और, इसलिए, राजनीतिक अर्थशास्त्र की सच्ची जर्मन आलोचना भी—अपनी वास्तविक आधारशिला के लिए फायरबाख की खोजों की आभारी है।

---

* ब्रूनो बावर।—सं०

** [illegible]।—सं०

"अनेकडोटा" (Anekdota)* में प्रकाशित उनकी (फ़ायरबाख की) कृतियों, **Philosophie der Zukunft** (भविष्य का दर्शन) तथा **Thesen zur Reform der Philosophie** (दर्शन के सुधार के सम्बन्ध में विचार) का चुपचाप उपयोग करते हुए भी, कुछ लोगों की ईर्षा की क्षुद्र भावना ने तथा कुछ दूसरों के भयकर रोष भाव ने उनके विरुद्ध ख़ामोशी (मौन) का पूरा षड्यंत्र संगठित कर रखा है।)

वास्तविक (सकारात्मक) मानवतावादी तथा वैज्ञानिक आलोचना का आरम्भ वास्तव में फ़ायरबाख से ही होता है। फ़ायरबाख की कृतियां जितना ही कम कोलाहल करती हैं उनका प्रभाव उतना ही अधिक निश्चयात्मक, गहन, व्यापक तथा चिरस्थायी होता है—क्योंकि हीगेल की रचनाओं : "घटना-क्रिया-विज्ञान" (Phanomenologie) तथा "तर्कशास्त्र" (Logik) के बाद यही एकमात्र ऐसी कृतियां हैं जिनमें एक वास्तविक सैद्धांतिक क्रान्ति के तत्व मौजूद हैं।

आज के समालोचना-पटु धर्मशास्त्री** के (मत) के विपरीत, मैंने अनुभव किया है कि इस कृति का जो अन्तिम अध्याय है और जिसमें कि हीगेलवादी द्वन्द्ववाद तथा उसके सम्पूर्ण दर्शन का आलोचनात्मक ढंग से विवेचन किया गया है—नितान्त आवश्यक था ॥४०॥ यह कार्य ऐसा है जो अभी तक किया नहीं गया था। पूर्ण रूप से कार्य करने की यह कमी आकस्मिक नहीं है, क्योंकि समालोचना-पटु धर्मशास्त्री भी धर्मशास्त्री ही बने रहते हैं। अतः, या तो अपने कार्य को वह दर्शन की कुछ ऐसी पूर्व-धारणाओं के आधार पर आरम्भ करते हैं जिन्हें उन्होंने आधिकारिक मान लिया है; या, आलोचना-कार्य के क्रम में तथा अन्य लोगों की खोजों के फल-स्वरूप, उनके अन्दर यदि इन दार्शनिक पूर्व-धारणाओं के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो गये हैं, तो कायरतापूर्ण तथा अनुचित ढंग से वह इन्हें तिलांजलि दे देते हैं, उनका अमूर्त्तीकरण कर देते हैं (और), इस भांति, उक्त पूर्व-धारणाओं के प्रति अपनी दासवत् निर्भरता तथा इस दासवृत्ति के प्रति अपने रोष को मात्र एक नकारात्मक, अचेतन तथा मिथ्या ढंग से प्रदर्शित करते हैं।

(इस कार्य को वह या तो स्वयं अपनी आलोचना की विशुद्धता के सम्बन्ध में अपने आश्वासनों को निरन्तर दोहराते हुए, अथवा यह प्रदर्शित करते हुए

---

* Anekdota zur neuesten deutschen Philosophie und Publicistik! —सं०

** मार्क्स का संकेत ब्रूनो बेयर की ओर है। —सं०

करने की चेष्टा करते हैं कि आलोचना के सामने अब जो कुछ काम करने के लिए बच गया है वह अपने से बाहर की आलोचना के—उदाहरण के लिए, अठारहवीं शताब्दी की आलोचना के—किसी अन्य सीमित स्वरूप से, तथा जन समुदायों की सीमाओं से, निपटने का है; ऐसा वह करते हैं आलोचना तथा उसके उद्भव-बिन्दु के साथ—हीगेलवादी द्वन्द्ववाद तथा सम्पूर्ण जर्मन दर्शन के साथ—स्पष्ट रूप से निपटारा करने के आवश्यक कार्य की ओर से निरीक्षक का, तथा स्वयं अपना, ध्यान हटाने के लिए (तथा) आधुनिक आलोचना को स्वयं उसकी अपनी सीमा तथा अमार्जितता (crudity) से ऊपर उठाने की आवश्यकता से बचने के लिए। परन्तु, अन्ततः, जब भी स्वयं उनकी दार्शनिक पूर्व-धारणाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई खोजें (जैसा कि फ़ायरबाख़ की) हो जाती हैं तो, हमारे आलोचना-पटु धर्मशास्त्री, आंशिक रूप से तो यह प्रदर्शित करते हैं कि मानो उन खोजों को स्वयं उन्होंने ही किया है। ऐसा वह इन खोजों के निष्कर्षों को लेकर और, बिना किसी प्रकार उनका विकास किये हुए, रटे-रटाये मुहावरों के रूप में उनका उन लेखकों के विरुद्ध इस्तेमाल करके करते हैं जो अब भी दर्शन की सीमाओं के अन्तर्गत क़ैद हैं। इस तरह की आलोचना के विरुद्ध उस द्वन्द्ववाद की आलोचना में हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के जिन तत्वों का उसे अभाव दिखलायी पड़ता है (वे अभी तक उसके सम्मुख आलोचनात्मक ढंग से इस प्रकार तैयार करके नहीं रख दिये गये हैं कि वह उनका उपयोग कर लें) उन्हें एक रहस्यपूर्ण तथा प्रच्छन्न, द्वेषपूर्ण तथा संशयवादी ढंग से दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करके, इस प्रकार की खोजों के सन्दर्भ में स्वयं अपनी श्रेष्ठता की भावना को स्थापित करने में भी आंशिक रूप से वह सफल हो जाता है—क्योंकि, हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के इन तत्वों को उनके यथोचित सम्बन्धों के सन्दर्भ में स्थापित करने का न तो उसने प्रयास ही किया है, न इस बात की क्षमता ही प्रदर्शित की है कि इस कार्य को,—अर्थात, उदाहरण के लिए, वास्तविक, स्व-उद्भूत सत्य के प्रवर्ग के विरुद्ध मध्यस्थता करने वाले प्रमाण के प्रवर्ग की [···]* स्थापना करने के कार्य को—वह उस ढंग से पूरा कर सकता है जो कि हीगेलवादी द्वन्द्ववाद की विशिष्टता है। कारण यह है कि उक्त ब्रह्मज्ञानी आलोचक को यह बात सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होती है कि हर जो चीज़ की जाती है उसे दर्शन के माध्यम से ही किया जाता है, जिससे कि विशुद्धता, संकल्पबद्धता, तथा पूर्णरूपेण, आलोचनात्मक आलोचना की बकवास वह मुक्त भाव से करते रह सकें; और, जब भी उसे ऐसा अनुभव होता है कि हीगेल के किसी तत्व* को फ़ायर-

---

* इस स्थान पर पाण्डुलिपि के तीन शब्द पढ़े नहीं जाते।—सं०

वाह मे कमी है, तो वह कल्पना करने लगते हैं कि **दर्शन के** वही वास्तविक **विजेता हैं**—क्योंकि यह ब्रह्मज्ञानी आलोचक "आत्म-चेतना" तथा "मस्तिष्क" की भावनात्मक अर्चना-पूजा करने का चाहे जितना अधिक अभ्यास करें, भावना से आगे चेतना के समीप तक वह कभी नही पहुंच पाते।)

समीप से परीक्षण करने पर पता चलता है कि यह **धर्मशास्त्रीय आलो-चना**—जो कि यद्यपि आन्दोलन के आरम्भ मे सच्चे अर्थों मे प्रगतिशील थी—अन्तिम विश्लेषण मे, पुराने ऐसे **दार्शनिक** और विशेष रूप से **हीगेलवादी, अनु-भवातीत सत्यवाद** (transcendentalism) की चरम परिणति तथा परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसे तोड-मरोड कर एक धर्मशास्त्रीय व्यंग-चित्र के रूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है। ऐतिहासिक न्याय के इस मनोरंजक उदा-हरण के विषय मे—जिसने कि धर्मशास्त्र को, जोकि हमेशा से दर्शन के संदूषण (नैतिक-पतन) का मर्म-स्थल रहा है, आगे यह जिम्मेदारी सौंपी है कि वह स्वयं अपने अन्दर दर्शन के नकारात्मक विघटन की प्रक्रिया को, अर्थात्, उसके क्षय की प्रक्रिया को, चित्रित करे—उसके इस ऐतिहासिक प्रतिशोध के विषय में मै किसी दूसरे अवसर पर लिख कर उसका प्रस्तुतीकरण करूंगा।"

(दूसरी ओर, दर्शन के चरित्र के सम्बन्ध मे **फ़ायरबाख** की खोजो के सम्बन्ध मे, कम-से-कम उनके **प्रमाण** के लिए, दार्शनिक द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक ढग से विवेचना करने की अब भी कितनी आवश्यकता है यह बात स्वयं मेरे प्रस्तुतीकरण से स्पष्ट हो जायगी।) ॥४०॥

करने की चेष्टा करते हैं कि आलोचना के सामने अब जो कुल काम करने के लिए बच गया है वह अपने से बाहर की आलोचना के—उदाहरण के लिए, अठारहवीं शताब्दी की आलोचना के—किसी अन्य सीमित स्वरूप से, तथा जन समुदायों की सीमाओं से, निपटने का है; ऐसा वह करते हैं आलोचना तथा उसके उद्भव-बिन्दु के साथ—हीगेलवादी द्वन्द्ववाद तथा सम्पूर्ण जर्मन दर्शन के साथ—स्पष्ट रूप से निपटारा करने के आवश्यक कार्य की ओर से निरीक्षक का, तथा स्वयं अपना, ध्यान हटाने के लिए (तथा)आधुनिक आलोचना को स्वय उसकी अपनी सीमा तथा असमाजिनता (crudity) से ऊपर उठाने की आवश्यकता से बचने के लिए। परन्तु, अन्ततः, जब भी स्वय उनकी दार्शनिक पूर्व-धारणाओं के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई खोजें (जैसा कि फ्रायरबाख की) हो जाती हैं तो, हमारे आलोचना-पटु धर्मशास्त्री, आंशिक रूप से तो यह प्रदर्शित करते हैं कि मानो उन खोजों को स्वयं उन्होंने ही किया है। ऐसा वह इन खोजो के निष्कर्षों को लेकर और, बिना किसी प्रकार उनका विकास किये हुए, रटे-रटाये मुहावरों के रूप में उनका उन लेखकों के विरुद्ध इस्तेमाल करके करते हैं जो अब भी दर्शन की सीमाओं के अन्तर्गत क़ैद हैं। इस तरह की आलोचना के विरुद्ध उस द्वन्द्ववाद की आलोचना मे हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के जिन तत्वों का उसे अभाव दिखलायी पड़ता है (ये अभी तक उसके सम्मुख आलोचनात्मक ढग से इस प्रकार तैयार करके नहीं रख दिये गये हैं कि वह उनका उपयोग कर लें) उन्हें एक रहस्यपूर्ण तथा प्रच्छन्न, द्वेषपूर्ण तथा सशयवादी ढग से दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करके, इस प्रकार की खोजों के सन्दर्भ मे स्वय अपनी श्रेष्ठता की भावना को स्थापित करने मे भी आंशिक रूप से वह सफल हो जाता है—क्योंकि, हीगेल-वादी द्वन्द्ववाद के इन तत्वों को उनके यथोचित सम्बन्धों के सन्दर्भ में स्थापित करने का न तो उसने प्रयास ही किया है, न इस बात की क्षमता ही प्रदर्शित की है कि इस कार्य को,—अर्थात, उदाहरण के लिए, वास्तविक, स्व-उद्भूत सत्य के प्रवर्ग के विरुद्ध मध्यस्थता करने वाले प्रमाण के प्रवर्ग को [···]* स्थाप

(१) समाज की धन-सम्पदा में यदि कमी होती है तो सबसे अधिक नुकसान मजदूर का ही होता है, और उसका कारण निम्न है : समाज की समृद्धिशाली स्थिति मे सम्पत्ति के स्वामियो के वर्ग को जितना लाभ हो सकता है उतना लाभ मजदूर वर्ग को यद्यपि नही हो सकता, किन्तु जब उस समाज का ह्रास (decline) होने लगता है तब उतना क्रूर कष्ट किसी को नहीं पहुँचता जितना कि मजदूर वर्ग को।*

॥२॥ (२) अब हम एक ऐसे समाज को ले लें जिसकी धन-सम्पदा मे वृद्धि होती जा रही है। यही एकमात्र ऐसी परिस्थिति है जो मजदूर के अनुकूल होती है। ऐसी स्थिति मे पूँजीपतियों के बीच प्रतियोगिता छिड़ जाती है। मजदूरों के लिए माँग उनकी आपूर्ति (सप्लाई) से अधिक हो जाती है। किन्तु :

सर्वप्रथम, मजदूरी मे वृद्धि होने से मजदूरो के ऊपर कार्य-भार (overwork) बढ़ जाता है। वे जितना ही अधिक कमाना चाहते हैं उन्हे उतनी ही अधिक मात्रा मे अपने समय की बलि चढ़ानी चाहिए और, अपनी समस्त स्वतन्त्रता को पूर्णतया तिलांजलि देकर, लोभ की सेवा मे जुटकर, गुलामो की तरह काम करना चाहिए। इस तरह वे अपनी जीवनावधि को छोटा कर लेते हैं। उनकी जीवनावधि का इस तरह घट जाना सम्पूर्ण मजदूर वर्ग के हित मे ही होता है, क्योंकि, उसके फलस्वरूप, श्रम की निरन्तर नयी आपूर्ति की आवश्यकता बनी रहती है। पूर्णतया नष्ट हो जाने से बचने के लिए इस वर्ग को सदा ही अपने एक अंश की बलि चढ़ानी पड़ती है।

इसके अतिरिक्त : समाज अपने को ऐसी स्थिति में कब पाता है जब उसकी धन-सम्पदा मे बराबर वृद्धि होती जा रही हो ? तब, जबकि देश की पूँजियों (capitals) तथा आमदनियों (revenews) में वृद्धि होती जा रही हो। परन्तु, ऐसा केवल तभी हो सकता है :

(क) जबकि श्रम का अधिक संचय (accumulation) हो जाय, क्योंकि संचित श्रम ही पूँजी होती है, इसलिए, तब जबकि मजदूर से उसकी पैदावार का अधिकाधिक भाग उससे ले लिया जा रहा हो, उसका अपना श्रम अधिकाधिक मात्रा मे उसके मुकाबले मे दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति के रूप मे आ खड़ा हो रहा हो और उसके अस्तित्व तथा उसकी क्रियाशीलता के साधन अधिकाधिक मात्रा मे पूँजीपति के हाथो मे संकेन्द्रित होते जा रहे हों।

* देखिए : एडम स्मिथ, "राष्ट्रों की धन-सम्पदा", खण्ड १, पृष्ठ २३०।–सं०

(ख) पूंजी का संचय श्रम के विभाजन में वृद्धि कर देता है, और श्रम का विभाजन मजदूरों की संख्या में वृद्धि कर देता है। इसके विपरीत, मजदूरों की संख्या श्रम के विभाजन में वृद्धि कर देती है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि श्रम का विभाजन पूंजी के संचय में वृद्धि कर देता है। एक ओर श्रम का इस तरह विभाजन हो जाने के कारण और, दूसरी ओर, पूंजी का संचय हो जाने के कारण, मजदूर अधिकाधिक मात्रा में पूरे तौर से श्रम का आश्रित, और वह भी एक विशेष प्रकार के, सर्वथा एकतरफा, मशीन-जैसे श्रम का आश्रित बनता जाता है। इस प्रकार, जिस तरह आत्मिक और शारीरिक रूप से कंगाल होकर वह एक मशीन जैसी दशा में पहुंच जाता है और मनुष्य की जगह एक निराकार क्रियाशीलता तथा एक पेट बन जाता है, उसी तरह वह बाजार की कीमतों में होने वाले हर उतार-चढ़ाव का, पूंजी के विनियोग का और धन-कुबेरों की सनकों का अधिकाधिक मात्रा में आश्रित बनता जाता है। इसी मात्रा में, काम के ऊपर पूरे तौर से निर्भर रहने वाले लोगों के वर्ग की संख्या-वृद्धि ।।४।। मजदूरों की आपसी प्रतियोगिता को तेज कर देती है, (और), इस तरह, उनकी कीमत को घटा देती है। (कारखाना) फैक्टरी की व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर की यह स्थिति पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है।

(ग) एक ऐसे समाज में जो उत्तरोत्तर समृद्धिशाली बनता जा रहा है केवल सबसे धनाढ्य लोग ही रुपये के सूद पर लगातार जीवित रह सकते हैं। प्रत्येक अन्य व्यक्ति को अपनी पूंजी के सहारे कारोबार करना पड़ता है, या उसे व्यवसाय में लगाने का जोखिम उठाना पड़ता है। फलस्वरूप, पूंजीपतियों की आपसी प्रतियोगिता और भी तीव्र हो जाती है। पूंजी का सकेन्द्रीकरण बढ़ता जाता है, बड़े पूंजीपति छोटों को तबाह कर देते हैं, और भूतपूर्व पूंजीपतियों का एक हिस्सा उजड़ कर मजदूरों की श्रेणी में जा पहुंचता है; इस आपूर्ति (सप्लाई) के कारण, मजदूर वर्ग को अपनी मजदूरी में फिर कुछ कटौती का सामना करना पड़ता है, और इने-गिने बड़े-बड़े पूंजीपतियों पर उसकी निर्भरता में और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। पूंजीपतियों की संख्या के घट जाने से मजदूरों के लिए उनकी प्रतियोगिता अब मुश्किल से ही शेष रह जाती है; और, मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण, उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता और भी अधिक प्रचण्ड, अप्राकृतिक तथा हिंस्र हो जाती है। फलतः, मजदूर वर्ग का एक भाग ठीक उसी तरह भिखमंगेपन अथवा भुखमरी के गर्त में पहुंच जाता है जिस तरह कि मझोले पूंजीपतियों का एक अंश अनिवार्य रूप से नीचे गिर कर मजदूरों की श्रेणी में जा पहुंचता है।

अस्तु, मजदूर के लिए सबसे अनुकूल सामाजिक दशा में भी, मजदूर

निवार्य रूप से कार्याधिक्य (ओवर वर्क) तथा अकाल मृत्यु का शिकार होता है, वपीडित होकर वह मात्र एक मशीन, उस पूँजी का एक बधुआ नौकर बन ाता है, जो खतरनाक ढग से उसके ऊपर और उसके विरुद्ध और भी अधिक तियोगिता, तथा भुखमरी लादती चली जाती है, अथवा मजदूरो के एक हिस्से ो भीख मागने के लिए विवश कर देती है।

॥५॥ मजदूरी मे वृद्धि होने से मजदूर के अन्दर भी धनी बनने की पूँजी-ादी भूख सवार हो जाती है; पर, उसकी पूर्ति वह अपने दिमाग और शरीर ी बलि चढ़ा कर ही कर सकता है। मजदूरी मे वृद्धि का अर्थ यह होता है कि ूँजी का सचय हो गया है और होता जा रहा है: इस तरह श्रम की उत्पत्ति को मजदूर के विरुद्ध वह एक ऐसी चीज के रूप मे लाकर खडा कर देती है जो उसके लिए अधिकाधिक मात्रा मे गैर (या बाहरी) होती जाती है। इसी प्रकार, श्रम का विभाजन उसे (मजदूर को) अधिकाधिक एकपक्षीय तथा परतत्र बना देता है, और, इसी के साथ-साथ, न केवल मनुष्यो के बीच, बल्कि मशीनो के बीच भी वह प्रतियोगिता पैदा कर देता है। नीचे गिरकर चूँकि मजदूर स्वय मशीन के स्तर पर पहुच गया है, इसलिए मशीन भी उसके सामने एक प्रति-द्वन्द्वी के रूप मे आकर खड़ी हो जा सकती है। अन्त मे, पूँजी का सग्रह ज्यो ज्यो उद्योग-धन्धो की मात्रा और, इसलिए, मजदूरो की सख्या मे वृद्धि करता जात है, त्यों-त्यों उन्हीं उद्योग-धन्धों को वह इस बात के लिए भी विवश करत जाता है कि वही उद्योग उत्पादित-वस्तुओं को और अधिक मात्रा को तैयार करें। इससे अति-उत्पादन हो जाता है जिसका अन्त या तो इस बात मे होता है कि मजदूरो के एक भारी हिस्से को काम से निकाल बाहर किया जाता है, य उनकी मजदूरी को अत्यन्त दयनीय सीमा तक घटा दिया जाता है।

समाज की उस स्थिति के भी—जो मजदूर के लिए सर्वाधिक अनुकूल होत है, अर्थात्, जिसमे धन सम्पदा की वृद्धि होती जाती है, वह तरक्की करती जात है—मजदूर के लिए इसी तरह के परिणाम निकलते है।

किन्तु, अन्तत:, अनिवार्य है कि वृद्धि की यह स्थिति देर-सवेर से अपन चरम सीमा पर पहुच जाय। उस समय मजदूर की क्या स्थिति है?

(१) "एक ऐसे देश मे जिसने पूर्ण समृद्धि की वह स्थिति प्राप्त क ली है [...] श्रम की मजदूरी तथा स्टॉक (कम्पनी के मूलधन) के मुना दोनो ही सभवत: बहुत कम होंगे [...] काम के लिए प्रतियोगिता अवश्

मुश्किल से ही पर्याप्त होगी; और, देश चूंकि पहले से ही पूरे त
आबाद है, इसलिए उस संख्या मे कभी भी और वृद्धि नहीं की
सकेगी।"*

जो अतिरिक्त होंगे उन्हें मृत्यु का वरण करना पड़ेगा।

इस प्रकार, समाज की ह्रासोन्मुख स्थिति में—मज़दूर की निरन्तर
हुई दुर्दशा; प्रगति करती हुई स्थिति मे—पेचीदगियों के साथ उसकी दुर्द
और समाज की पूर्णरूप से विकसित स्थिति में—स्थिर दुर्दशा !

॥६॥ किन्तु, चूंकि, स्मिथ के कथनानुसार, ऐसा समाज, जिसका अधि
भाग कष्ट मे हो** सुखी नही होता—फिर भी, समाज की सर्वाधिक समृद्धिश
दशा भी बहुमत को इस कष्ट में रहने के लिए विवश कर देती है : और, च
आर्थिक व्यवस्था' (और आमतौर से निजी स्वार्थों पर आधारित समाज)
(समाज को) सर्वाधिक समृद्धि की इस स्थिति मे पहुचा देती है, इसलिए
निष्कर्ष निकलता है कि उक्त *आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य ही समाज को*
बनाना है।

मजदूर और पूंजीपति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे हमें इतना
जोड़ देना चाहिए कि मज़दूरी में होने वाली वृद्धि के बदले मे, श्रम-काल
मात्रा मे कमी हो जाने के कारण, पूंजीपति को अधिक ही मुआवज़ा
जाता है; तथा, बढ़ती हुई मज़दूरी और पूजी के ऊपर बढ़ता हुआ सूद मा
की क़ीमत को क्रमशः सरल और चक्रवृद्धि ब्याज की तरह प्रभावित करते हैं

अब हम इसी चीज़ को राजनीतिक अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से पूरे तौर
देखने की कोशिश करें, और मज़दूरों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दावों
जो वह तुलना करता है उस पर विचार करें।

वह हमसे कहता है कि मौलिक रूप से तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से श्रम
सम्पूर्ण उत्पत्ति (पैदावार) मज़दूर की ही सम्पत्ति होती है। परन्तु, इसी
साथ-साथ, वह हमे यह भी बतलाता है कि वास्तव मे मज़दूर को जो प्राप्त हो
है वह उत्पत्ति का सबसे छोटा तथा एकदम अनिवार्य और केवल उतना ही
होता है जितना कि उसके अस्तित्व के लिए, एक मनुष्य के रूप में नहीं, ब
एक मज़दूर के रूप में, तथा, मानवजाति के वर्धन के लिए नहीं, बल्कि मज़दू
के दास वर्ग के वर्धन के लिए आवश्यक होता है।

---

* एडम स्मिथ, "राष्ट्रों की धन-सम्पदा", खण्ड १, पृष्ठ ८४।—सं०

** पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७०।—सं०

राजनीतिक अर्थशास्त्री हमें बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु श्रम से ही खरीदी जाती है और पूंजी संचित श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती; किन्तु, इसी साथ-साथ, वह हमें यह भी बतलाता है कि, प्रत्येक वस्तु को खरीद सकने की बात तो मजदूर के लिए बहुत दूर रही, उसके लिए तो लाजमी यह होता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी मानवता को भी बेचे।

ठलुवे जमींदार का लगान आमतौर से जमीन की पैदावार के एक-तिहाई भाग के बराबर होता है और काम में लगे पूंजीपति का मुनाफा मुद्रा पर मिलने वाले ब्याज के दुगने के बराबर होता है, किन्तु अच्छे से अच्छे समय में भी मजदूर अपने लिए जो "कुछ अधिक" कमाने में सफल हो जाता है वह भी इतना कम होता है कि उसके चार बच्चों में से दो के लिए भूखा रहना और काल के गाल में अकाल चला जाना अनिवार्य होता है।

॥७॥ हालांकि, राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार, मनुष्य प्रकृति की पैदावारों के मूल्य में केवल श्रम के ही माध्यम से अभिवृद्धि करता है, (और) हालांकि श्रम मनुष्य की एक ऐसी सम्पत्ति है जो क्रियाशील होती है, तब भी, उसी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अनुसार, जमींदार और पूंजीपति, जो कि जमींदार और पूंजीपति की हैसियत से मात्र विशेषाधिकार-सम्पन्न और निठल्ले भगवान होते हैं, हर जगह मजदूर से ऊंचे (श्रेष्ठतर) होते हैं और उसके लिए कानून निर्धारित करने वाले होते हैं।

हालांकि, राजनीतिक अर्थ-शास्त्रियों के कथनानुसार, श्रम ही वस्तुओं की एकमात्र अपरिवर्तनशील क़ीमत होता है, फिर भी श्रम की क़ीमत से अधिक अनिश्चित (दैवाधीन) वस्तु कोई दूसरी नहीं होती; उससे अधिक उतार-चढ़ावों की शिकार होने वाली वस्तु अन्य कोई नहीं होती।

हालांकि श्रम का विभाजन श्रम की उत्पादक-शक्ति में अभिवृद्धि करता है तथा समाज की धन-सम्पदा और उसके शील-सौन्दर्य में इजाफा करता है, किन्तु मजदूर को वह विपन्न बना देता है और उसे एक मशीन में परिवर्तित कर देता है।

हालांकि श्रम की वजह से पूंजी का संचय होता है तथा समाज की समृद्धता (खुशहाली) बढ़ती जाती है, किन्तु मजदूर को वह और भी अधिक मात्रा में पूंजीपति का आश्रित बना देता है, उसे वह और भी अधिक प्रचण्ड प्रतियोगिता के भंवर में ढकेल देता है, और अति-उत्पादन के रेले में बिना विचारे उसे इस तरह ठेल देता है जिससे कि फिर मंदी छा जाती है।

हालांकि, राजनीतिक अर्थ-शास्त्रियों के कथनानुसार, मजदूर के हित कभी समाज के हित के विरुद्ध नहीं होते, किन्तु समाज सदा ही तथा अपरिहार्य रूप से मजदूर के हित के विरुद्ध रहता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार, मजदूर का हित कभी समाज के हित के विरुद्ध नहीं होता : (१) क्योंकि बढ़ती हुई मजदूरी के एवज में, श्रम-काल की मात्रा में कमी हो जाने से तथा उन अन्य परिणामों के फलस्वरूप जो ऊपर गिनाये जा चुके हैं, समाज को उसमें (जो बढ़ी हुई मजदूरी के रूप में उसे देना पड़ता है) अधिक मिल जाता है, और (२) क्योंकि जहां तक समाज का सम्बन्ध है, पूरी (gross) पैदावार ही उसके लिए शुद्ध (या असल : net) पैदावार होती है और शुद्ध (net) पैदावार का महत्व तो केवल सामान्य व्यक्ति के संदर्भ में ही होता है।

किन्तु, मैं कहता हूं कि श्रम स्वयं ही—न केवल वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत, बल्कि जहां भी उसका सामान्य लक्ष्य मात्र धन-सम्पदा में इज़ाफ़ा करना होता है—अनिष्टकारी तथा प्राणलेवा होता है। यह निष्कर्ष, बिना उसके समझे हुए, स्वयं राजनीतिक अर्थशास्त्री की तर्क-प्रणाली से ही निकलता है।

सिद्धांत रूप में, जमीन का लगान तथा पूंजी का मुनाफा कटौतियां हैं जो मजदूरी में से की जाती हैं। परन्तु, वास्तव में, मजदूरी ही वह कटौती होती है, जिसे जमीन और पूंजी मजदूर को दे दिये जाने की अनुमति दे देते हैं, वह वह छूट होती है जो मजदूरों को, श्रम की पैदावार में से दे दी जाती है।

समाज जब ह्रास की दशा में होता है तो सबसे अधिक क्षति मजदूर की होती है। उसके ऊपर जो बोझ पड़ता है उसकी विशिष्ट दुःसहता का कारण उसकी मजदूर की हैसियत होती है, किन्तु उसके आम बोझ का कारण समाज की स्थिति होती है।

किन्तु जब समाज प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा होता है, तब मजदूर की तबाही और गरीबी का कारण उसके श्रम की पैदावार तथा उसके द्वारा पैदा की गयी धन-सम्पदा होती है। इसलिए, उसकी दुर्दशा स्वयं वर्तमानकालीन श्रम के मूल (या उसकी सहज प्रवृत्ति) से ही उत्पन्न होती है।

ऐसे समाज का, जिसमे अधिकतम् धन-सम्पदा मौजूद हो, मतलब मजदूर के लिए स्थायी दुर्दशा होता है। अधिकतम् धन-सम्पदा की स्थिति—एक आदर्श है, किन्तु ऐसा आदर्श जिसे लगभग प्राप्त कर लिया जाता है, और जो कि, कम से कम, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा नागरिक समाज दोनो का लक्ष्य होता है।

इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं है कि सर्वहारा को, अर्थात् उस व्यक्ति को, जिसके पास न पूंजी है न लगान, जो केवल अपने श्रम के ऊपर, और वह भी बिल्कुल एकतरफा, अमूर्त श्रम के ऊपर, जीवित रहता है—राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल एक मजदूर मानता है। अत, राजनीतिक अर्थशास्त्र यह प्रस्थापना प्रस्तुत कर सकता है कि सर्वहारा को, ठीक उसी तरह जिस तरह कि किसी घोड़े को, उतना अवश्य मिल जाना चाहिए जितने के सहारे वह काम करता रह सके। जिस समय वह काम नहीं करता होता उस समय उसे इन्सान मान कर नहीं वह उसके विषय मे विचार करता, इस तरह की चीजों पर विचार करने का काम वह फौजदारी के कानूनों, डाक्टरो, धर्म, सांख्यकीय तालिकाओं, राजनीति तथा अनाथाश्रमो के ओवरसियरो के जिम्मे छोड देता है।

अब राजनीतिक अर्थशास्त्र के स्तर से ऊपर उठ कर, उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर, जिसे लगभग राजनीतिक अर्थशास्त्रियो के ही शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है, दो प्रश्नो का उत्तर देने का हम प्रयास करें :

(१) मानव जाति के विकासक्रम में, मानव जाति के अधिकांश भाग के अमूर्त (या सूक्ष्म) श्रम मे परिवर्तित हो जाने का अर्थ क्या होता है?

(२) वे कौन-सी गलतियां हैं जो थोड़ा-थोड़ा करके सुधार करने वाले उन सुधारको मे की है जो या तो यह चाहते है कि मजदूरी मे वृद्धि कर दी जाय और इस प्रकार मजदूर वर्ग की दशा मे सुधार किया जाय, या (प्रूधो की भांति) मजदूरियो की समानता को ही सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य मान लेते है?

राजनीतिक अर्थशास्त्र मे श्रम का उल्लेख केवल जीविका के एक स्रोत के लिए की जाने वाली क्रियाशीलता के रूप मे ही मिलता है।*

॥८॥ "कहा जा सकता है कि वे पेशे जिनके लिए विशेष क्षमताओं (क्षमताओं) की, अथवा अधिक लम्बी शिक्षा (ट्रेनिंग) की आवश्यकता होती है, मोटे तौर से, अधिक लाभप्रद (फायदेमन्द) होते हैं, क्योंकि

---

* पाण्डुलिपि मे इसके बाद खाली जगह छोड़ दी गयी है।—स०

यान्त्रिक रूप से किये जाने वाले ऐसे एकरस (नीरस) काम के लिए—जिसके लिए एक व्यक्ति को उतनी ही आसानी से और जल्दी प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) किया जा सकता है जितनी आसानी से या जल्दी किसी दूसरे व्यक्ति को- मिलने वाले आनुपातिक पारिश्रमिक की मात्रा, बढ़ती हुई प्रतियोगिता के साथ-साथ, घटती गयी है, और उसका इस तरह घटना अनिवार्य था। और, श्रम के संगठन की वर्तमान अवस्था में, ठीक इसी तरह का काम सर्वाधिक आम है। इसलिए, पहली श्रेणी का मजदूर यदि अब, उदाहरण के लिए, ५० वर्ष पहले की अपेक्षा, सात गुना अधिक कमा रहा है, तथा दूसरी श्रेणी के मजदूर की कमायी में कोई तब्दील नहीं हुई है तो, निस्सन्देह, औसतन दोनों ही पहले की अपेक्षा चार गुना अधिक कमा रहे हैं। किन्तु किसी देश विशेष के अन्दर पहली श्रेणी में यदि केवल एक हजार मजदूर हैं, और दूसरी में दस लाख तो १,९९,००० मजदूरों की दशा पचास वर्ष पहले की अपेक्षा किसी भी तरह बेहतर नहीं है—और यदि, इसी के साथ-साथ, जीवनावश्यक वस्तुओं की क़ीमतों में वृद्धि हो गयी है तो उनकी दशा पहले से बदतर है। औसतों की इस प्रकार सतही ढंग से गणनाएँ करके लोग आबादी के सर्वाधिक बहुसंख्यक वर्ग के सम्बन्ध में अपने को धोखे में रखना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त,

मजदूरी की मात्रा तो मजदूर की आमदनी के मूल्यांकन में केवल एक अंश होती है, क्योंकि मजदूर की आमदनी के माप के लिए आवश्यक होता है कि उसकी कालावधि की निश्चितता का ध्यान रखा जाय: किन्तु, तथाकथित मुक्त प्रतियोगिता की अराजकता के अन्तर्गत, जिसमें लगातार उतार-चढ़ाव तथा ठहराव के काल आते रहते हैं, यह चीज स्पष्ट रूप से सम्भव नहीं है। अन्त में, काम के घण्टों की पहले की प्रचलित और आज की स्थिति पर विचार करना पड़ेगा। और, सूती मिलों में काम करने वाले अंग्रेज मजदूरों के लिए, मुनाफे के लिए उद्यमियों के उन्माद के फलस्वरूप, ॥९॥ पिछले लगभग पच्चीस वर्षों के अन्दर, अर्थात ठीक उसी काल के अन्दर जिसमें श्रम-बचाने वाली मशीनों का प्रयोग आरम्भ किया गया है—काम के घण्टों को बढ़ाकर प्रतिदिन बारह और सोलह घण्टे के बीच कर दिया गया है। और, एक देश तथा उद्योग की एक शाखा में की गयी (काम के घण्टों की—अनु०) इस बढ़ती का अनिवार्य रूप से कमोबेश मात्रा में दूसरी जगहों पर भी प्रभाव पड़ा है, क्योंकि धनियों द्वारा ग़रीबों का असीमित रूप से शोषण करने के अधिकार

को अब भी सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता है।" (विलहेल्म शुल्ज़, Bewegung der Production, पृष्ठ ६५)।

"किन्तु यदि यह बात जितनी मिथ्या है उतनी ही सच भी होती कि समाज के प्रत्येक वर्ग की औसत आमदनी बढ़ गयी है, तब भी आमदनी के अन्तर (उसकी असमानता) तथा आमदनी के सापेक्ष फासले और अधिक बढ़ गये होते और उसी के अनुसार दौलत और दरिद्रता का वैषम्य और भी तीव्र रूप से सामने आ जाता। क्योंकि, चूंकि पूरा उत्पादन बढ़ जाता है, इसलिए—और उसी मात्रा में जिसमें कि वह बढ़ता है—आवश्यकताएं, इच्छाएं तथा तकाजे भी बढ़ जाते हैं और, इस प्रकार, निरपेक्ष गरीबी के घट जाने के बावजूद, सापेक्ष गरीबी बढ़ जा सकती है। मछली के तेल और बदबूदार मछली के सहारे जीवित रहने वाला समोयेड गरीब नहीं होता क्योंकि उसके एकान्त-स्थापित समाज में सभी की एक ही जैसी आवश्यकताएं होती हैं। किन्तु एक ऐसे राज्य में, जो प्रगति की राह पर आगे बढ़ता जा रहा है, जिसने, उदाहरण के लिए, एक दशक के दौरान अपनी आबादी के अनुपात में अपने कुल उत्पादन में एक-तिहाई की वृद्धि कर ली है — जो मजदूर दस साल के अन्त में भी उतना ही पा रहा है जितना कि उसे शुरू में मिलता था उसकी हालत न केवल अच्छी नहीं हुई है, बल्कि एक-तिहाई मात्रा में वह और भी अधिक गरीब हो गया है।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६५–६६)

परन्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र तो मजदूर को केवल एक काम करने वाले पशु के ही रूप में—एक ऐसे जानवर के ही रूप में जानता है जिसकी आवश्यकताओं को घटाकर निम्नतम शारीरिक आवश्यकताएं बना दिया गया है।

"अधिक आत्मिक स्वतंत्रता के वातावरण में अपना विकास करने के लिए लोगों के लिए जरूरी होता है कि अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की दासता के बन्धनों को वे तोड़ दें—वे शरीर के गुलाम न रह जायं। सर्वोपरि आवश्यक उनके लिए यह होता है कि आत्मिक सृजनात्मक क्रियाशीलता तथा आत्मिक आनन्द के लिए उनके पास समय हो। श्रम की संघटना में हुए चौतरफा विकास से यह समय निकल आता है। वास्तव में, नयी चालक शक्तियों तथा उन्नत मशीनों की वजह से, सूती मिलों में अकेला एक मजदूर अब बहुधा उतना काम कर लेता है जितने के लिए पहले १००, या २५० से ३५० तक भी मजदूरों की आवश्यकता होती थी। उत्पादन की सभी शाखाओं में इसी तरह के परिणाम देखे जा सकते हैं, क्योंकि मानव

श्रम के साथ काम करने के लिए बाहर प्राकृतिक शक्तियों को अधिकाधिक मात्रा मे बाध्य किया जा रहा है ।।१०। भौतिक आवश्यकताओ की एक निश्चित मात्रा की सतुष्टि के लिए पहले जितने समय और मानवीय प्रयास के व्यय की आवश्यकता होती थी उसकी मात्रा को बाद में घटाकर यदि आधा कर दिया गया है तो, इसी के साथ-साथ, बिना किसी भौतिक सुख-सुविधा की क्षति हुए, आत्मिक क्रियाशीलता तथा आनन्द की गुंजायश भी उसी मात्रा मे बढ गयी है ... किन्तु, फिर भी, उस माल का जिसे हम स्वयं बूढे क्रोनस से छीन कर एकदम उसके निजी क्षेत्र मे हासिल करते है — बटवारा अब भी अन्धे अन्यायी सयोग के पाँसे के परिणाम के आधार पर निश्चित होता है। फ्रांस मे हिसाब लगाया गया है कि, उत्पादन के विकास की वर्तमान अवस्था में, यदि काम करने योग्य वहा का प्रत्येक व्यक्ति औसतन पाच घंटा प्रतिदिन काम करे तो समाज की समस्त भौतिक आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिए वह पर्याप्त होगा. मशीनो के अधिक प्रवीण बन जाने के कारण हुई समय की बचत के बावजूद, कारखानो मे आबादी के बड़े भाग द्वारा किये जाने वाले गुलामी के श्रम की कालावधि मे केवल वृद्धि ही हुई है।" (शुल्ज, पूर्वोद्धृत रचना पृष्ठ ६७-६८)

"मिले-जुले सयुक्त शारीरिक श्रम (compound manual labour) से होने वाला संक्रमण सरल क्रियाओ मे उसके विभाजित हो जाने की प्रक्रिया पर आधारित होता है। किन्तु, प्रारम्भ मे, केवल कुछ लगातार एक ही प्रकार होने वाली क्रियाएँ मशीनो के जिम्मे आयेगी, और कुछ मनुष्यों के ही जिम्मे बनी रहेगी। परिस्थितियो मे, तथा इस बात की पुष्टि करने वाले अनुभव मे, यह बात स्पष्ट है कि इस किस्म की अन्तहीन नीरस क्रियाशीलता (activity) मस्तिष्क के लिए भी उतनी ही हानिकारक होती है जितनी कि शरीर के लिए; इस भांति, अनिवार्य है कि मात्र अधिक सख्या मे लोगों के बीच किये गये श्रम विभाजन के साथ मशीनों के संयोजन (combination) मे उसकी (श्रम-विभाजन की) सारी असुविधाएँ सामने आ जायें। अन्य चीजों के अलावा, ये असुविधाएँ फैक्टरी के मजदूरों ।।११। की मृत्यु-दर मे वृद्धि के रूप मे अभिव्यक्त होती है... इस बड़े फर्क की ओर ध्यान नहीं दिया गया है... कि किस हद तक मनुष्य मशीनों के माध्यम से काम करते है अथवा किस हद तक मशीनों के रूप में।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६९)

"परन्तु, मनुष्यों के भावी जीवन में मशीनों में काम करने वाली प्रकृति की अचेतन शक्तियाँ हमारे दासों और अर्ध-दासों के रूप में काम करेंगी।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७४)

"इंग्लैण्ड की कताई मिलों में १,९६,८१८ स्त्रियाँ और केवल १,५८,८१८ पुरुष काम करते हैं। लंकाशायर की सूती मिलों में हर सौ पुरुष मजदूर के मुकाबले में १०३ स्त्री मजदूरिनें, काम करती हैं, और स्कॉटलैंड में उनकी संख्या १०० के मुकाबले में २०९ है। लीड्स में अंग्रेजों की पटसन मिलों में हर सौ पुरुष मजदूरों के मुकाबले में १४७ स्त्री मजदूरिनें काम करती पायी गयी हैं। डंडेन तथा स्कॉटलैण्ड के पूर्वी तट पर उनकी संख्या (सौ पुरुषों के मुकाबले में) २८० तक पहुंच गयी है। अंग्रेजों की सिल्क मिलों में... अनेक स्त्री मजदूरिनें काम करती हैं, ऊनी मिलों में, जहाँ के काम के लिए अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है, पुरुष मजदूरों का बाहुल्य है। १८३३ में, उत्तरी अमरीका की सूती मिलों में १८,५९३ पुरुषों के साथ-साथ—३८,९२७ स्त्रियाँ काम करती थीं। इस प्रकार, श्रम संघटन (organism) में हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, स्त्री जाति के हिस्से में लाभदायी काम का एक अधिक व्यापक क्षेत्र आ गया है... स्त्रियाँ अब आर्थिक रूप से अधिक स्वतन्त्र स्थिति में पहुंच गयी हैं... अपनी सामाजिक परिस्थितियों में स्त्री और पुरुष दोनों लिंगों के नर-नारी एक दूसरे के और भी समीप पहुंच गये हैं।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७१-७२)

"इंग्लैण्ड की भाप और पानी से चलने वाली कताई की मिलों में १८३५ में : ८ और १२ वर्ष की अवस्थाओं के बीच के २०,५५८, १२ और १३ वर्ष की अवस्थाओं के बीच के ३५,८६७, और, अन्त में, १३ और १८ वर्ष की अवस्थाओं के बीच के १,०८,२०८ बच्चे काम कर रहे थे... निर्विवाद रूप से, यन्त्रीकरण में हुई प्रगति के फलस्वरूप, समस्त नीरस काम को अधिकाधिक मात्रा में मनुष्यों के हाथों से हटाकर, इस बुराई का धीरे-धीरे ॥१२॥ उन्मूलन किया जा रहा है। किन्तु, अधिक तेजी से हो सकने वाली इस प्रगति के मार्ग की बाधा यह है कि, यांत्रिक युक्तियों (कोल्हू) का इस्तेमाल करने के बजाय, पूंजीपति निम्न वर्गों (lower classes) के बच्चों तक की जीवन-शक्तियों का, उनको सबसे आसानी से और सबसे सस्ते ढंग से खरीदकर, इस्तेमाल कर ले सकता है।" (शुल्ज, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७०-७१)

"लार्ड ब्राउघम ने मजदूरों का आवाहन किया है —'पूँजीपति बन जाओ'।

... घातक चीज यह है कि दसियों भाग लोग केवल ऐसी सख्त मशक्कत करके भी मुश्किल से ही अपनी जीविका कमा पाते हैं जो उनके शरीर को तोड़ कर चूर-चूर कर देती है और नैतिक तथा बौद्धिक रूप से उन्हें पंगु (निर्बल) बना देती है; और वे यहाँ तक विवश हैं कि इस तरह का काम पा जाने के दुर्भाग्य को भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६०)

"तब फिर, अपने को जीवित बनाये रखने के लिए सम्पत्ति-विहीन लोग इस बात के लिए विवश हो जाते हैं कि, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, वे अपने को सम्पत्तिशाली लोगों की सेवा में अर्पित कर दें—अर्थात्, अपने को उनका आश्रित बना लें।*" (पेकुएर, Theorie nouvelle d'economie soc., पृष्ठ ४०९)

नौकरों को—वेतन; मजदूरों को—मजदूरी; मालिकों को—तनख्वाह अथवा परिलाभ।** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४०९-४१०)

"अपने श्रम को किराये पर उठाना"; "अपने श्रम को ब्याज पर उधार देना"; "दूसरे के स्थान पर काम करना"।*** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४११)

॥१३॥ "इस तरह की आर्थिक व्यवस्था मनुष्यों को ऐसे अधम पेशों में काम करने के लिए दंडित करती है, ऐसी भयानक और कटुतापूर्ण अधोगति की जिन्दगी जीने के लिए विवश करती है कि, इसकी तुलना में, बर्बर मनुष्य का भी जीवन राजकीय ठाट-बाट वाला प्रतीत होता

---

* "Pour vivre donc, less non-proprietaires sont obliges de se mettre directement ou indirectement au service des proprietaires, c.-a-d sous leur dependance."–सं०

** Domestiques—gages; ouvriers—salaires; employes—traitement ou emoluments.–सं०

*** "louer son travail", "preter son travail a interet", "travailler a la place d'autrui".–सं०

है...* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४१७-४१८) "सम्पत्ति-विहीन वर्ग के साथ सभी रूपों में व्यभिचार किया जाता है।"** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४२१) रैगमेन ।

चार्ल्स लाउडन ने अपनी पुस्तक "जनसंख्या की समस्या का समाधान" (Solution du Problem de la population, etc. पेरिस, १८४२) में बतलाया है कि इंग्लैण्ड में वेश्याओं की संख्या साठ और सत्तर हजार के बीच है। सदिग्ध चरित्र की स्त्रियों की संख्या भी इतनी ही बड़ी बतलायी जाती है (पृष्ठ २२८)।

"सड़कों पर भटकने वाली इन अभागी प्राणियों की औसत जीवनावधि—पापाचार के व्यवसाय के मार्ग पर उनके निकल पड़ने के बाद, लगभग छः या सात वर्ष होती है। साठ से सत्तर हज़ार वेश्याओं की संख्या बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि तीनों राज्यों के अन्दर कम से कम आठ से नौ हज़ार स्त्रियां ऐसी हों जो हर साल इस नीचतम पेशे में, अपने को झोंकती जायें, अर्थात् हर दिन लगभग चौबीस नयी बलियां—औसतन प्रति घण्टा एक बलि—इस पेशे की भेंट चढ़ती जायें; और, पूरे पृथ्वी-तल पर भी यदि उनका यही अनुपात है तो, साफ़ है कि, इस तरह की पन्द्रह लाख अभागी स्त्रियों को इस पेशे में निरन्तर लगा रहना चाहिए।"*** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २२९)

"Louer la matiere du travail", "preter la matiere du travail a l'interet", "faire travailler autrui a sa place".-स०

"cette constitution economique condamne les hommes a des metiers tellement abjects, a une degradation tellement desolante et amere, que la sauvagerie apparait, en comparaison, comme 'une royale condition."-स०

"la prostitution de la chair non-proprietaire sous toutes les formes."-स०

***"La moyenne vie de ces infortunees creatures sur le pave, apres qu'elles sont entrees dans la carriere du vice, est d'environ six ou sept ans. De maniers que pour maintenir le nombre de 60 a 70,000 prostituees, il doit y avoir, dans les 3 royaumes, au moins 8 a 9000 femmes qui se vouent a cet infame metier chaque annee, ou environ vingt-quatre nouvelles victimes par jour, ce qui est la moyenne d'une par heure; et consequemment, si la meme proportion a lieu sur toute la surface du globe, il doit y avoir constamment un million et demi de ces malheureuses.-स०

"उनकी गरीबी के साथ-साथ ग़रीबों की संख्या बढ़ती जाती है, और दारिद्रय की चरम सीमा पर पहुच कर सर्वाधिक बड़ी संख्या में इन्सानों का ऐसा जमघट जमा हो जाता है जिसमे कि उत्पीड़न सहने के अधिकार के लिए लोग एक दूसरे के साथ झगड़ा-टंटा करते दिखलायी देते हैं... १८२१ मे आयरलैण्ड की आबादी ६८,०१,८२७ थी। १८३१ मे वह बढ़ कर ७७,६४,०१० हो गयी थी—यानी दस साल में उसमें चौदह प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी। सबसे धनी प्रान्त लीन्सटर में आबादी की वृद्धि केवल आठ प्रतिशत हुई थी; किन्तु, उसके सबसे अधिक ग़रीबी-ग्रस्त प्रान्त कोनाट में, उसकी वृद्धि २१ प्रतिशत तक हो गयी थी। (आयरलैण्ड के सम्बन्ध मे इंग्लैण्ड मे प्रकाशित जाँच की रिपोर्ट, वियना, १८४० का उद्धरण)"* (बुरेट, De la misere, आदि, पृष्ठ ३६-३७)

राजनीतिक अर्थशास्त्र श्रम को सार रूप मे (in abstract) एक वस्तु मानता है; श्रम एक माल है। उसकी क़ीमत यदि ऊँची है, तो माल की मांग बहुत होती है; क़ीमत यदि नीची है, तो माल की आपूर्ति (सप्लाई) अत्यधिक होती है: एक माल के रूप मे यह अनिवार्य है कि श्रम की क़ीमत बराबर गिरती जाय। (बुरेट, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४३) यह चीज आंशिक रूप से पूंजीपति और मजदूर के बीच होने वाली प्रतियोगिता के कारण, (और) आंशिक रूप से मजदूरों के बीच की आपसी प्रतियोगिता (होड़) के कारण अनिवार्य हो जाती है।

"मेहनत करने वाली, श्रम को बेचने वाली आबादी के लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह पैदावार (उत्पत्ति) के सबसे अल्प भाग को स्वीकार करे...यह सिद्धान्त कि श्रम एक माल है छद्म वेश मे दासता के सिद्धान्त

---

* "La populatio des miserables croit avec leur misere, et c'est a la limite extreme du denuement que les etres humains se pressent en plus grand nombre pour se disputer le droit de souffrir...En 1831, la population de l'Irlande etait de 6 801 827. En 1831, elle s'etait elevee a 7 764 010; c'est 14 d'augmention en dix ans. Dans le Leinster, province ou il y a le plus d'aisance, la population n'a augmente que de 8%, tandis que, dans le Connaught, province la plus miserable, l'augmentation s'est elevee a 21%. (Extraits des Enquetes publiees en Angleterre sur l'Irlande, Vienne, 1840)"—स०

के अलावा क्या कोई और चीज़ है ?"* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४३) "तब फिर विनिमय-मूल्य के अलावा और कोई चीज़ क्यों नहीं श्रम में देखी गयी ?"** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४४)

बड़ी कर्मशालाएँ स्त्री और बच्चों के श्रम को खरीदना पसन्द करती हैं, क्योंकि उनका श्रम पुरुषों के श्रम से कम दाम का होता है। (पूर्वोद्धृत रचना)

"उसके मुकाबले में जो कि उसे काम पर रखता है, मजदूर स्वतन्त्र विक्रेता की स्थिति में बिल्कुल नहीं होता. . . । पूँजीपति श्रम को काम पर रखने के लिए हमेशा आज़ाद होता है, और मजदूर हमेशा उसे बेचने के लिए विवश। यदि श्रम हर क्षण न बेचा जाय तो उसका मूल्य पूरे तौर से नष्ट हो जाता है। सच्चे (मालों) के असदृश (विपरीत), श्रम को न तो संचित किया जा सकता है और न बचा कर ही रखा जा सकता है।

॥१४॥ "श्रम जीवन है, और जीवन को यदि प्रति दिन, भोजन के एवज में बदला नहीं जाता तो उसकी क्षति होती है और शीघ्र ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए, इस बात पर बल देने के लिए कि मानव-जीवन एक माल है, आवश्यक है कि आदमी इस बात को स्वीकार करे कि गुलामी मौजूद है।"*** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४९-५०)

---

* "... la population ouvriere, marchande de travail, est forcement reduite a la plus faible part du produit...la theorie du travail marchandise est-elle autre chose qu'une theorie de servitude deguisee?"—सं०

** "Pourquoi donc n'avoir vu dans travail qu'une valeur d'echange?"—सं०

*** "Le travailleur n'est point vis-a-vis de celui qui l'emploie dans la position d'un libre vendeur...le capitaliste est toujours libre d'employer le travail, et l'ouvrier est toujours force de la vendre La valeur du travail est completement detruite, s'il n'est pas vendu a chaque instant. Le travail n'est susceptible ni d'accumulation, ni meme d'epargne, a la difference des veritables (marchandises).

"Le travail c'est la vie, et si la vie ne s'echange pas chaque jour contre des aliments, elle souffre et perit bientot. Pour que la vie de l'homme soit une marchandise, il faut donc admettre l'esclavage."—सं०

फिर यदि श्रम एक माल है तो वह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण स्वभावों वाला माल है। परन्तु, राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार भी उसे माल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह मुक्त रूप से किये गये सौदे का मुक्त परिणाम नहीं है। (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ५०) वर्तमान आर्थिक शासन-पद्धति,

"श्रम की कीमत तथा उसकी मजदूरी दोनों को साथ ही साथ घटा देती है; वह मजदूर को तो प्रवीण बनाती है और मनुष्य को पतित करती है"* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ५२-५३) "उद्योग एक युद्ध बन गया है और व्यापार एक जुआ।"** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६२)

"कपास का काम करने वाली मशीनें"*** (इंगलैण्ड में) अकेले ही हाथ से काम करने वाले ८,४०,००,००० मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १९३, टिप्पणी)

वर्तमान काल तक उद्योग युद्ध छेड़े रहा है, देश-जय का युद्ध :

"महान विजेताओं की भांति ही उसने भी उसी उपेक्षा के साथ इन लोगों के जीवनों को लुटाया (तबाह किया) है जिनसे उसकी सेना बनी है। उसका लक्ष्य धन-सम्पदा पर आधिपत्य क़ायम करना था; मानवों को सुखी बनाना नहीं।"**** (बुरेट, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २०)

"मुक्त छोड़ दिये जाने पर इन स्वार्थों का" (अर्थात् आर्थिक स्वार्थों का) ..."आपस में टकराना लाजमी है; उनके बीच युद्ध के अलावा और कोई मध्यस्थता करने वाला है नहीं और युद्ध के फ़ैसले युद्ध को पराजय और मौत की सजा देते हैं, जिससे कि दूसरों के गले में वे विजय-माल पहना सकें... विरोधी शक्तियों की ऐसी ही टक्कर में विज्ञान व्यवस्था तथा सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा करता है: उसके अनुसार

---

* "abaisse a la fois et le prix et la remuneration du *travail; il perfectionne l'ouvrier et degrade l'homme.*"—स०

** "L'industrie est devenue une guerre et le commerce un jeu."—स०

*** "Les machines a travailler le coton."—स०

**** "elle a prodigue la vie des hommes qui *composaient son armee avec autant d'indifference* que les grands conquerants. Son but etait la possession de la richesse, et non le bonheur des hommes."—स०

शाश्वत युद्ध ही शान्ति स्थापित करने का एकमात्र साधन है; इस युद्ध को प्रतियोगिता का नाम दिया जाता है।"* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २३)

"औद्योगिक युद्ध को यदि सफलतापूर्वक चलाया जाना है तो उसके लिए ऐसी बड़ी सेनाओं की जरूरत होती है जिन्हें वह एक ही जगह इकट्ठा कर सके और मुक्त हस्त से उनका संहार कर सके। और इस सेना के सिपाही उनके ऊपर लादे गये इन संघर्षों के बोझ को न तो निष्ठा के कारण बर्दाश्त करते है न कर्तव्य की भावना से, बल्कि इसलिए बर्दाश्त करते हैं जिससे कि भूख की दारुण आवश्यकता से वे अपने को बचा सकें! अपने स्वामियों के प्रति वे न लगाव महसूस करते हैं न कृतज्ञता का भाव, और न उनके ये स्वामी ही अपने अधीन लोगों के प्रति परोपकारिता की किसी भावना से बंधे होते हैं। वे मनुष्यों के रूप मे उन्हे नही जानते, बल्कि उत्पादन के केवल ऐसे औजारों के ही रूप में जानते हैं जिन्हें कम-से-कम संभव खर्च पर अधिक से अधिक संभव पैदा करना होता है। मजदूरों की इन आबादियों को, जो अधिकाधिक मात्रा मे एक साथ ठसाठस जमा होती जाती हैं इस बात का भी कोई आश्वासन नही रहता कि उन्हें हमेशा काम मिलता रहेगा। उद्योग, जिसने उन्हें एक जगह ला बटोरा है, केवल तभी तक उन्हे जिन्दा रहने देता है जब तक कि उसे उनकी आवश्यकता होती है, और ज्योंही वह इस स्थिति मे हो जाता है कि उनसे छुटकारा पा ले उसी समय रत्ती भर भी किसी नैतिक सकोच के बिना वह उनको धता बता देता है; और मजदूर इस बात के लिए विवश होते हैं कि अपने शरीरों तथा अपनी क्षमताओं को जो भी कीमत उन्हे मिल जाय उस पर बेच दें। जितने ही अधिक समय तक का, जितना ही अधिक कष्टदायक तथा घृणा उत्पन्न करने वाला काम उन्हे दिया जाता है उतनी ही कम मजदूरी उन्हें दी जाती है। ऐसे भी लोग हैं

* "Ces interets" (sc. economiques), "librement abandonnes a euxmemes ...doivent necessairement entrer en conflit; ils n'ont d'autre arbitre que la guerre, et les decisions de la guerre donnent aux uns la defaite et la mort, pour donner aux autres la victoire ...C'est dans le conflit des forces oppsees que la science cherche l'ordre et l'equilibre : la guerre perpetuelle est selon elle le seul moyen d'obtenir la paix; cette guerre s'appelle la concurrence."–सं॰

पूंजी से, उदाहरण के लिए, दाय (विरासत) के रूप में प्राप्त एक विशाल सम्पत्ति से आदमी को क्या मिलता है?

"आवश्यक नहीं है कि जो व्यक्ति कोई विशाल सम्पत्ति (हस्तगत कर लेता है, अथवा) उत्तराधिकार में दाय के रूप में पा जाता है उसे कोई राजनीतिक सत्ता भी (हस्तगत हो जाय, अथवा) उत्तराधिकार में मिल जाय [...] उसके स्वामित्व से तत्काल तथा प्रत्यक्ष रूप से उसे जो शक्ति प्राप्त हो जाती है, वह खरीदने की शक्ति है; इस समस्त श्रम के ऊपर, अथवा, श्रम की उस समस्त पैदावार के ऊपर, जो उस समय मण्डी (बाजार) में मौजूद होती है, उसे एक विशेष अधिकार प्राप्त हो जाता है।" [राष्ट्रों की धन-सम्पदा, लेखक : एडम स्मिथ, खण्ड १, पृष्ठ २६-२७ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ६१)][1]

इस प्रकार, पूंजी श्रम तथा उसकी पैदावारों के ऊपर शासन करने वाली शक्ति (governing power) होती है। पूंजीपति इस शक्ति (अथवा सत्ता—अनु०) का स्वामी अपने व्यक्तिगत अथवा मानवीय गुणों के कारण नहीं, बल्कि पूंजी का मालिक होने के नाते होता है। उसकी शक्ति उसकी पूंजी की खरीदने की वह शक्ति होती है जिसके सामने कोई टिक नहीं सकता।

बाद में सबसे पहले हम यह देखेंगे कि पूंजी की मदद से, पूंजीपति श्रम के ऊपर शासन करने की अपनी सत्ता (शक्ति) का उपयोग कैसे करता है, फिर हम यह देखेंगे कि पूंजी की शासन करने की सत्ता स्वयं पूंजीपति के ऊपर कैसे शासन करती है।

पूंजी क्या है?

"उपयोग में लाने के लिए संचित करके रख दिये गये तथा जमा कर लिये गये श्रम की एक विशेष मात्रा (परिमाण—अनु०)।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ २९१ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३१२)]

पूंजी संचित करके रख लिया गया श्रम है।

(२) स्टॉक, अथवा स्टोर, भूमि अथवा कारखाने की पैदावारों के किसी भी संचय को कहते हैं। स्टॉक को पूंजी केवल तभी कहा जाता है जबकि उसके मालिक को उससे आमदनी या मुनाफा मिलता हो। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २४३ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३११)]

(२) पूंजी का मुनाफ़ा

पूंजी से होने वाला मुनाफा अथवा धनोपार्जन श्रम की मजदूरी से सर्वथा भिन्न होता है। उनके बीच का यह फ़र्क दो तरह से प्रकट होता है : पहले तो, पूंजी से होने वाले मुनाफ़े पूरी तौर से लगायी गयी पूंजी के मूल्य से विनियमित होते हैं, चाहे पूंजी की विभिन्न मात्राओं मे सम्बद्ध निरीक्षण तथा निदेशन का श्रम बराबर ही हो। इसके अतिरिक्त, बड़े कारखानों मे इस पूरे श्रम को किसी ऐसे प्रमुख लिपिक (मुहर्रारी) के जिम्मे सौंप दिया जाता है जिसका वेतन उस पूंजी ।।२। के किसी नियमित अनुपात मे नही निर्धारित होता जिसकी उसे देखभाल (निगरानी) करनी होती है। और, यद्यपि इसमे मालिक का श्रम लगभग नही के बराबर होता है, फिर भी वह अपनी पूंजी के अनुपात मे मुनाफ़ों की माग करता है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ९७-९१)]''

मुनाफे और पूंजी के बीच इस अनुपात की क्यों पूंजीपति माँग करता है?

जब तक कि उसे इस बात की आशा न होगी कि मजदूरों को जो धनराशि वह मजदूरी के रूप मे देता है उससे उनके काम की बिक्री करके उसे उक्त धनराशि को पुनः स्थापित करने के लिए जितना आवश्यक है उससे कुछ अधिक प्राप्त हो जायगा, तब तक मजदूरों को काम पर रखने मे उसे कोई दिलचस्पी नही होगी, और जब तक कि उसे होने वाले *मुनाफ़ों का उसके द्वारा लगायी गयी संचित राशि के परिमाण* के साथ कोई अनुपात नहीं होगा तब तक छोटी रकम लगाने के बजाय बड़ी रकम लगाने मे उसे कोई दिलचस्पी नही होगी। [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४२ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ९६-९७)]

इस प्रकार, पूंजीपति पहले तो दी गयी मजदूरी पर और, दूसरे, उसके द्वारा लगाये गये कच्चे मालों पर मुनाफा कमाता है।

तब फिर मुनाफ़े का पूंजी के साथ क्या सम्बन्ध होता है?

किसी विशेष स्थान पर और किसी विशेष समय मे मजदूरी के आम औसत स्तर का पता लगाना यदि कठिन होता है, तो विभिन्न पूंजियों पर होने वाले मुनाफ़ों का निर्धारण करना और भी मुश्किल होता है। जिन मालों का पूंजीपति से वास्ता होता है उनकी कीमत मे परिवर्तन, उसके प्रतिद्वन्द्वियों तथा ग्राहकों की अच्छी या बुरी सांयोगिक स्थिति,

हज़ार दूसरी दुर्घटनाएं जिनसे मालों के आने-जाने (पारवहन) के समय तथा गोदामों में दोनों जगह खतरा रहता है—ये सब चीजें रोज़ाना, करीब-करीब हर घण्टे, मुनाफे की मात्रा में फर्क (कमी-बेशी) पैदा करती रहती हैं। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७८-७९, (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १७९-८०)]

किन्तु, यद्यपि विभिन्न पूंजियों पर होने वाले मुनाफों की मात्रा को एकदम सही-सही बतला सकना असम्भव है, फिर भी उनके विषय में रुपये के ब्याज की मात्रा के आधार पर एक धारणा बनायी जा सकती है। जहाँ भी रुपये का उपयोग करके बहुत कमाया जा सकता है वहाँ उसके उपयोग के लिए बहुत रकम दी जायेगी, जहाँ उससे थोड़ा ही कमाया जा सकता है वहाँ थोड़ी रकम दी जायेगी। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७९ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १८१)]

स्पष्ट मुनाफे की दर के साथ ब्याज की साधारण बाज़ार-दर का जो अनुपात होना चाहिए वह अनिवार्य रूप से, मुनाफे के बढ़ने-घटने के साथ-साथ, बढ़ता-घटता रहता है। ग्रेट ब्रिटेन में दुगने ब्याज को व्यापारियों द्वारा अच्छा, औसत दर्जे का (मर्यादित-अनु), न्याय-संगत मुनाफ़ा माना जाता है—इन शब्दों का अर्थ एक सामान्य तथा प्रचलित मुनाफ़े से अधिक कुछ नहीं होता। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८७ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९८)]

मुनाफे की निम्नतम दर क्या है ? और उसकी उच्चतम दर क्या है ?

पूँजी पर होने वाले साधारण मुनाफे की निम्नतम दर हमेशा उससे कुछ अधिक होनी चाहिए जो कभी-कभी हो जाने वाले पूँजीपति के नुक़सानों की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त हो—इस नुकसान का खतरा लगायी जाने वाली हर पूँजी के लिए होता है। केवल यह अतिरिक्त धन ही उसका शुद्ध या स्पष्ट मुनाफ़ा होता है। ब्याज की निम्नतम दर के विषय में भी यही बात लागू होती है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८६ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९६)]

।।३। उच्चतम दर जिस तक साधारण मुनाफे पहुंच सकते हैं वह होती है जो मालों के अधिकांश भाग की कीमत के रूप में ज़मीन के पूरे लगान को हड़प लेती है, और आपूर्ति में दिये गये माल में निहित श्रम की मज़दूरी को निम्नतम दर तक पहुंचा देती है—(अर्थात्) मज़दूर

को दी जाने वाली रकम को उसके कार्य-काल में उसे जिन्दा रखने के लिए नितान्त आवश्यक मात्रा तक घटा देती है। जब तक उससे काम लेना है तब तक आवश्यक है कि मजदूर को किसी न किसी तरह से खाना खिलाया जाय; लगान पूरे तौर से गायब हो जा सकता है। जैसे कि . बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरों की स्थिति थी। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८६-८७ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९७-९८)]

इस स्थिति में सीमित प्रतियोगिता से जो तमाम फ़ायदे होते हैं उनका इस्तेमाल कर लेने के अलावा, पूँजीपति सर्वथा सभ्य उपायों से भी बाज़ारी क़ीमत को प्राकृतिक क़ीमत से ऊँचा बनाये रख सकता है।

बाज़ार उन लोगों से जो आपूर्ति करते हैं यदि बहुत दूर हो तो, एक तो, ऐसा वह व्यापार के भेदों (secrets in trade) को छिपाये रख कर, अर्थात्, क़ीमत में होने वाले परिवर्तन को, प्राकृतिक स्तर से उसके बढ़ जाने की बात को छिपाये रख कर, कर सकता है। इस चीज को छिपाये रखने का परिणाम यह होता है कि फिर दूसरे पूँजीपति उद्योग या व्यापार की उक्त शाखा में अपनी पूँजी लगाने के लिए उसके साथ-साथ नहीं दौड़ते।

फिर उत्पादन के भेदों (secrets in manufacture) को गुप्त रख कर भी वह ऐसा कर सकता है : इससे पूँजीपति को उत्पादन की लागत को घटाने तथा अपने प्रतियोगियों के मुकाबले में अपने माल को उसी या और भी कम क़ीमतों पर सप्लाई करने में मदद मिलती है और इससे उसके मुनाफ़े की दर बढ़ जाती है। (क्या भेदों को छिपाये रख कर धोखा देना अनैतिक नहीं है ? स्टॉक एक्सचेंज (शेयर बाज़ार) में की जाने वाली लेन-देन की कार्यवाहियाँ !) इसके अलावा, जहाँ उत्पादन किसी एक विशेष स्थान में ही सीमित होता है (जैसा कि किसी अनूठी मदिरा के सम्बन्ध में हो सकता है), तथा जहाँ समर्थ (पूरी) माँग को कभी पूरा नहीं किया जा सकता (वहाँ भी पूँजीपति विशेष मुनाफ़ा कमा सकता है-अनु०)। अन्त में, ऐसा वह व्यक्तियों अथवा कम्पनियों द्वारा इजारेदारियों का इस्तेमाल करके भी कर सकता है। इजारेदारी की (एकाधिकारी) क़ीमत उच्चतम सम्भव क़ीमत होती है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ५३-५४ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १२०-२४)]

दूसरे आकस्मिक कारण जो पूँजी के मुनाफ़े को बढ़ा सकते हैं निम्न हैं :

नये क्षेत्रों, अथवा व्यापार की नयी शाखाओं का अभिग्रहण कर लेने से एक धनी देश में भी पूंजी पर होने वाले मुनाफे में बहुधा वृद्धि हो जाती है, क्योंकि तब वे व्यापार की पुरानी शाखाओं में से कुछ पूंजी को उठा लेते हैं, प्रतियोगिता (होड़) को कम कर देते हैं और ऐसी व्यवस्था कर देते हैं जिससे कि बाजार में मालों की सप्लाई (आपूर्ति) कम हो जाती है और, फलत., इन मालों की कीमतें फिर बढ़ जाती हैं· तब वे लोग जो इन मालों का व्यापार करते हैं ब्याज की और ऊंची दर, पर (रुपया) उधार ले सकते हैं। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९०)]

किसी माल का कारखाने के अन्दर जितना ही अधिक उत्पादन होने लगता है—उतनी ही अधिक मात्रा में उत्पादन का वह पात्र बन जाता है—उतना ही अधिक कीमत का वह हिस्सा, लगान के रूप में बंटने वाले हिस्से के अनुपात में, बढ़ जाता है जिसका मजदूरी और मुनाफे में विभाजन होता है। किसी माल के उत्पादन की प्रगति के दौरान न केवल मुनाफों की संख्या में इजाफ़ा होता जाता है, बल्कि बाद के हर मुनाफे की मात्रा पहले के मुनाफे की मात्रा के मुकाबले में बढ़ जाती है, क्योंकि वह पूंजी जिससे ॥४। वह प्राप्त होता है अनिवार्य रूप से हमेशा अधिक बड़ी होती है। उदाहरण के लिए, जो पूंजी बुनकरों को मजदूरी पर रखती है वह उस पूंजी के मुकाबले में हमेशा बड़ी होती है जो कताई करने वाले मजदूरों को काम पर रखती है क्योंकि वह न सिर्फ अपने मुनाफों में उस पूंजी की स्थान-पूर्ति कर देती है बल्कि इसके अलावा, बुनकरों की मजदूरी भी चुकाती है, और मुनाफों के लिए जरूरी है कि पूंजी के साथ उनका सदा कुछ अनुपात बना रहे। [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४५ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १०२-०३)]

इस प्रकार प्रकृति की उत्पत्ति को कारखाने में बनी उत्पत्ति में परिवर्तित करने के सिलसिले में मानवीय श्रम ने जो प्रगति की है उसमें श्रम की मजदूरी नहीं बढ़ती, बल्कि, आंशिक रूप में, पूंजी के लाभदायी विनियोगों (इन्वेस्टमेंट्स) की संख्या में तथा, आंशिक रूप में, पहले की पूंजी के मुकाबले में बाद में लगायी जाने वाली हर पूंजी की मात्रा में, वृद्धि हो जाती है।

श्रम के विभाजन से पूंजीपति को जो लाभ होते हैं उनके बारे में और अधिक बाद में बतलाया जायेगा।

वह दो प्रकार से मुनाफ़े कमाता है—एक तो, श्रम का विभाजन करके;

और, दूसरे, आमतौर से, उस प्रगति से जो मानव श्रम प्राकृतिक पैदावार के मुकाबले में करता है। किसी माल में जितना ही अधिक मानवीय अंश होता है, मृत पूँजी का मुनाफ़ा उतना ही अधिक होता है।

> एक ही अभिन्न समाज के अन्दर पूँजी पर होने वाले मुनाफ़ों की औसत दर, भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमों की मज़दूरी के मुकाबले में, कहीं अधिक मात्रा में एक ही स्तर पर होती है [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १०० (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ २२८)] पूँजी के भिन्न-भिन्न प्रकार से किये जाने वाले विनियोगों से मुनाफ़े की जो साधारण दर प्राप्त होती है उसकी मात्रा लाभ की निश्चितता अथवा अनिश्चितता के अनुसार बदलती रहती है। "अंश पूजी (स्टॉक) पर होने वाला साधारण मुनाफ़ा, यद्यपि जोखिम की मात्रा के साथ-साथ बढ़ता जाता है, पर वह हमेशा उसके अनुपात में नहीं बढ़ता प्रतीत होता।" [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ९९-१०० (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ २२६-२७)]

इस चीज़ को कहने की जरूरत नहीं है कि यदि परिचलन के साधन कम खर्चीले (कम व्यय-शील) हो जाते हैं अथवा अधिक आसानी से सुलभ हो जाते हैं (जैसे कि, कागज़ी मुद्रा के रूप में), तो मुनाफ़े भी बढ़ जाते हैं।

(३) श्रम के ऊपर पूंजी का शासन तथा पूंजीपति के लक्ष्य

जो चीज़ किसी भी पूजी के मालिक को खेती, कारखानों के उत्पादन, अथवा थोक या खुदरा (फुटकर) व्यापार की किसी विशेष शाखा में पूँजी लगाने के लिए प्रेरित करती है वह केवल निजी मुनाफ़े का खयाल होता है। उत्पादक श्रम की जिन भिन्न-भिन्न मात्राओं को वह काम में लगा सकता है, ॥५॥ तथा अपने देश की जमीन और श्रम की वार्षिक पैदावार में जिन भिन्न-भिन्न मूल्यों की उसकी वजह से, उनके काम में लगाये जाने के विभिन्न तरीक़ों में से जिसे चुना जाय उसके अनुसार, अभिवृद्धि की जा सकती है—उनका खयाल उसके दिमाग़ में कभी नहीं आता। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३३५ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ४००-०१)]

पूँजीपति की दृष्टि में पूँजी का सबसे उपयोगी इस्तेमाल वह होता है जिसमें, जोखिम की मात्रा बराबर रहते हुए, उसे सबसे अधिक मुनाफ़ा

प्राप्त होता है। इस तरह का इस्तेमाल समाज के लिए हमेशा सर्वाधिक उपयोगी नहीं होता; सबसे उपयोगी इस्तेमाल उसका वह होता है जिसके द्वारा प्रकृति की उत्पादक शक्तियों का उपयोग किया जा सके। [से, खण्ड २, पृष्ठ १३०-३१]

विभिन्न प्रकार की पूंजियों को लगाने वाले मालिकों की योजनाएँ और परिकल्पनाएँ ही श्रम की समस्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्रवाइयों को विनियमित और संचालित करती हैं, और इन समस्त योजनाओं तथा निर्माण-योजनाओं का लक्ष्य मुनाफा कमाना होता है। परन्तु, लगान और मजदूरी की तरह, मुनाफे की दर समाज की समृद्धि में वृद्धि तथा ह्रास के साथ होने वाली अवनति के साथ-साथ नहीं बढ़ती है। इसके विपरीत, धनी देशों में स्वाभाविक रूप से उसकी दर नीची और गरीब देशों में ऊंची होती है, और उन देशों में जो सबसे तेजी से तबाही की तरफ बढ़ते होते हैं वह हमेशा सबसे ऊंची होती है। इसलिए, इस वर्ग के हित का समाज के सामान्य हितों के साथ वही सम्बन्ध नहीं होता जो दूसरी उन दोनों चीजों का (लगान और मजदूरी का—अनु०) होता है व्यापार अथवा कारखानों में निर्माण की किसी विशेष शाखा से सम्बन्धित व्यापारियों के विशेष हित हमेशा ही कुछ दृष्टियों से आम जनता के हितों से भिन्न, और अक्सर तीव्र रूप से उसके विरुद्ध, होते हैं। व्यापारी का हित हमेशा इस बात में होता है कि बाजार को वह व्यापक बना दे और विक्रेताओं की प्रतियोगिता के दायरे को सीमित कर दे... यह ऐसे लोगों का वर्ग होता है जिनके हित कभी भी ठीक वही नहीं होते जो समाज के होते हैं, ऐसे लोगों का वर्ग जिनका हित आम तौर से इस बात में होता है कि आम लोगों को वे धोखा दें और उनका उत्पीड़न करें। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २३१-२३२ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १६३-१६५)]

(४) पूंजियों का संचय तथा पूंजीपतियों के बीच प्रतियोगिता

स्टॉक (अश-पूंजी, माल—अनु०) में वृद्धि की प्रवृत्ति, जिसकी वजह से मजदूरी बढ़ जाती है, पूंजीपतियों के मुनाफे को कम करने की होती है; इसका कारण पूंजीपतियों के बीच चलने वाली प्रतियोगिता होती

है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ७८ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १७९)]

उदाहरण के लिए, किसी विशेष कस्बे में किराने का व्यवसाय करने के लिए जिस पूंजी की आवश्यकता होती है वह यदि "दो अलग-अलग पंसारियों के बीच बंट जाता है, तो उनके बीच चलने वाली प्रतियोगिता की प्रवृत्ति यह होगी कि उन दोनों को उन दामों की अपेक्षा ऐसे सस्ते दामों पर माल बेचने के लिए वह (कस्बा—अनु०) विवश करे जिन पर वह तब बिकता जबकि वह एक ही पंसारी के पास होता; और यदि वह (पूंजी) बीस पंसारियों के बीच बंट जाती, ॥६॥ तो उनके बीच की प्रतियोगिता भी उतनी अधिक होती, और, कीमत बढ़ाने के लिए, उनके आपस में मिल जाने की सम्भावना उतनी ही कम होती।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३२२ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३७२-७३)]

चूंकि, जैसा हम पहले से ही जानते हैं, एकाधिकारी कीमतें ही अधिक-से-अधिक ऊंची सम्भव क़ीमतें होती हैं; चूंकि, राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार भी, पूंजीपतियों के हित समाज-विरोधी होते हैं; और चूंकि मुनाफ़े में होने वाली वृद्धि माल की क़ीमत पर चक्रवृद्धि ब्याज की भांति प्रभाव डालती है [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८७-८८ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९९-२०१)]; इसलिए, स्पष्ट है कि, पूंजीपतियों से बचाव का एकमात्र उपाय प्रतियोगिता ही है—जो, राजनीतिक अर्थशास्त्र के साक्ष्य के अनुसार, मजदूरी बढ़ा कर और मालों की क़ीमतों को घटा कर, दोनों तरह से, आम उपभोक्ताओं के लाभ में काम करती है।

परन्तु प्रतियोगिता तभी सम्भव हो सकती है जबकि पूंजी में वृद्धि हो और वह अनेक लोगों के हाथों में बंटी हुई हो। चूंकि पूंजी केवल संचय के माध्यम से उत्पन्न होती है, इसलिए पूंजी के अनेक विनियोग तभी सम्भव हो सकते हैं जब कि संचय की प्रक्रिया बहुपक्षी हो, और बहुपक्षी संचय अनिवार्य रूप से एकपक्षी संचय का रूप ग्रहण कर लेता है। पूंजीपतियों के बीच होने वाली प्रतियोगिता से पूंजी के संचय में वृद्धि होती है।

जहां निजी सम्पत्ति की व्यवस्था प्रचलित होती है वहां संचय का अर्थ पूंजी का थोड़े से लोगों के हाथ में संकेन्द्रीकरण होता है; पूंजी को यदि अपने स्वाभाविक मार्ग पर चलने की छूट होती है तो सामान्य रूप से यह (संकेन्द्रीकरण—अनु०) उसका अनिवार्य परिणाम होता है; और पूंजी के इस स्वाभाविक विन्यास के लिए प्रतियोगिता के ही माध्यम से मार्ग प्रशस्त होता है।

हमें बतलाया गया है कि पूंजी पर होने वाला मुनाफ़ा पूंजी के परिमाण (त्रा के-अनु०) के ही अनुपात में होता है। अतः, यदि फ़िलहाल जान-बूझ की जाने वाली प्रतियोगिता की बात को हम छोड़ दें, तब भी छोटी पूंजी मुकाबले में, बड़ी पूंजी, अपने परिमाण (मात्रा) के अनुपात में, अधिक जल्दी न हो जाती है। ।६॥

॥८।'' अतः, प्रतियोगिता हो या न हो, बड़ी पूंजी का सचय छोटी पूंजी अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से होता है। इस प्रक्रिया का हम थोड़ा और अनु-न करें।

पूंजी की वृद्धि के साथ-साथ, प्रतियोगिता के कारण, पूंजी पर होने वाला नफ़ा घटता जाता है। इसलिए, सबसे पहले चोट छोटे पूंजीपति पर ही ती है।

विभिन्न प्रकार की पूंजियों में होने वाली वृद्धियों तथा पूंजी के भारी ख्या में लगाये जाने का अर्थ, आगे,* यह होता है कि देश की धन-सम्पदा में द्धि होती जा रही है।

"एक ऐसे देश में जिसने सम्पूर्ण समृद्धि प्राप्त कर ली है [...] स्पष्ट मुनाफ़े की साधारण दर बहुत कम होगी, इसलिए उसके आधार पर ब्याज की जो प्रचलित (बाजारी) दर दी जा सकेगी वह इतनी कम होगी कि सबसे धनाढ्य लोगों के अलावा किसी और के लिए अपने रुपये के ब्याज के सहारे जिन्दा रह सकना असम्भव होगा। मध्यम श्रेणी के पैसे वाले सब लोग [...] इस बात के लिए बाध्य हो जायेंगे कि अपनी अंश पूंजी (स्टॉक) के इस्तेमाल की वे स्वयं निगरानी करें। आवश्यक हो जायेगा कि सब प्रत्येक व्यक्ति व्यापारी हो, अथवा किसी प्रकार के व्यवसाय में अपने को लगाये। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ट ८६ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १९६-९७)]**

---

* पाण्डुलिपि में "आगे" शब्द को स्पष्ट रूप से नहीं पढ़ा जा सकता है।—सं०

** इस परिच्छेद के बाद मार्क्स ने निम्न वाक्य को काट दिया था : "पूंजियों को ब्याज पर उधार देना जितना ही कम कर दिया जाता है और जितना ही अधिक उन्हें कारखानों में होने वाले निर्माण-कार्य में या वाणिज्य में लगाया जा सकता है, पूंजीपतियों के बीच की प्रतियोगिता उतनी ही अधिक बढ़ जाती है।"—सम्पादक

यह ऐसी स्थिति है जो राजनीतिक अर्थशास्त्र के हृदय को सर्वाधिक प्रिय है।

"अस्तु, ऐसा लगता है कि पूंजी और आमदनी के बीच का अनुपात ही हर जगह उद्योग और निरुद्योग (idleness) के अनुपात को विनियमित करता है; जहाँ पूंजी हावी होती है, वहाँ उद्योग पनपता है; जहाँ आमदनी हावी होती है वहाँ निरुद्योग का राज्य होता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३०१ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३२२)]

तब फिर, बढ़ी हुई प्रतियोगिता की इस दशा में पूंजी के सेवा-नियोजन की क्या स्थिति होती है ?

"अंश पूंजी (स्टॉक) मे ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है त्यों-ही-त्यों ब्याज* पर उठायी जाने वाली अंश पूजी का परिमाण (मात्रा) भी धीरे-धीरे अधिक से अधिकतर होता जाता है। ज्यों-ज्यों ब्याज पर उठायी जाने वाली अंश पूंजी का परिमाण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ब्याज... घटता जाता है ..." (१) क्योंकि आम तौर से ज्यों-ज्यों चीज़ों का परिमाण बढ़ता जाता है त्यों-त्यों बाज़ार में उनकी क़ीमत घटती जाती है.. और (२) क्योंकि किसी भी देश में पूंजियों की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों ही त्यों "उस देश के अन्दर किसी नयी पूंजी को सेवा में लगाने के लाभदायक तरीके को ढूंढ़ पाना क्रमशः अधिकाधिक कठिन होता जाता है। इसके परिणामस्वरूप, विभिन्न पूंजियों के बीच प्रतियोगिता छिड़ जाती है, एक पूंजी का स्वामी सेवा नियोजन के उस काम को हथियाने की कोशिश करने लगता है जिस पर दूसरे (पूंजीपति) का क़ब्ज़ा है। किन्तु, अधिकांशतया सेवा नियोजन के इस काम से दूसरे आदमी को धक्का देकर निकाल बाहर करने की वह तभी आशा कर सकता है जबकि वह उससे अधिक न्यायपूर्ण शर्तों पर काम करे। उसके लिए आवश्यक होता है कि जिस चीज़ में वह व्यापार करता है उसे न केवल वह कुछ सस्ते भाव पर बेचे बल्कि, उसे बेच सकने के लिए, कभी-कभी वह उसे खरीदे भी मंहगे दामों पर। उत्पादक श्रम के रख-रखाव के लिए सुलभ धन-राशियों में होने वाली वृद्धि से उसकी (उत्पादन श्रम

---

* मार्क्स ने जो उद्धरण दिया है वह जर्मन में है, किन्तु "ब्याज पर उठायी जाने वाली धनराशि (स्टॉक)" के स्थान पर वह "fonds a preter a interet" लिखते हैं।—स०

की) माँग भी दिनों-दिन बढ़ती जाती है। मजदूरों को काम आसानी से मिलने लगता है, ॥९॥ किन्तु पूँजियों के स्वामियों के लिए काम पर रखने के लिए मजदूरों को पा सकना कठिन हो जाता है। उनकी प्रतियोगिता श्रम की मजदूरी में वृद्धि कर देती है तथा अस पूँजी (स्टॉक) के मुनाफ़ों को गिरा देती है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३१६ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३५८-५९)]

इस प्रकार, छोटे पूँजीपति के सामने विकल्प होता है कि : (१) या तो, चूँकि ब्याज के सहारे अब वह जिन्दा नहीं रह सकता, अपनी पूँजी को वह खा जाये और इस तरह पूँजीपति की हैसियत से अपने अस्तित्व को समाप्त कर ले, या (२) स्वयं धन्धा करना शुरू कर दे, अपने माल को सस्ते दामों पर बेचे, अधिक पैसे वाले पूँजीपति की अपेक्षा महंगे दामों पर खरीदे और अधिक ऊँची दर से मजदूरी दे—इस भाँति अपने को तबाह कर ले—क्योंकि सघन प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप बाजारी कीमत तो पहले से ही बहुत नीची हो चुकी है। परन्तु, बड़ा पूँजीपति यदि छोटे पूँजीपति को मसल डालना चाहता है तो ऐसा कर सकने के लिए हर तरह से वह उससे उसी तरह बेहतर स्थिति में होता है जिस तरह कि पूँजीपति एक पूँजीपति की हैसियत से मजदूर के मुकाबले में हर तरह से बेहतर स्थिति में होता है। उसको जो अपेक्षाकृत कम मुनाफ़े होते हैं उनकी कमी की पूर्ति उसकी पूँजी की अधिक बड़ी मात्रा से हो जाती है, और वह इस स्थिति में भी होता है कि अस्थायी तौर से तब तक नुकसान भी उठा ले जब तक कि छोटा पूँजीपति तबाह नहीं हो जाता और इस प्रतियोगिता से अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता। इस तरीक़े से छोटे पूँजीपति के मुनाफ़ों को भी वह हड़प लेता है।

इसके अलावा : बड़ा पूँजीपति छोटे की अपेक्षा हमेशा अधिक सस्ते दामों पर खरीदता है, क्योंकि वह अधिक बड़े परिमाणों में खरीदता है। इसलिए वह बेच भी अधिक सस्ते दामों में अच्छी तरह सकता है।

किन्तु, ब्याज की दर के गिर जाने के कारण यदि मझोला पूँजीपति भाड़े या ब्याज से वार्षिक आय कमाता रहने के बजाय एक कारोबारी आदमी (बिजिनेसमैन) बन जाता है, तो, इसकी वजह से होने वाली कारोबारी (व्यावसायिक) पूँजी की वृद्धि तथा मुनाफ़े की कमी के कारण ब्याज की दर फिर और गिर जाती है।

"पूँजी के उपयोग से जो मुनाफ़े कमाये जा सकते हैं वे जब [...] घट जाते हैं [...] (तब) उसके उपयोग के लिए जो कीमत दी ज

> सकती है वह भी अनिवार्य रूप से उनके (मुनाफ़ों के) साथ घट जायगी।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३१६ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३५९)]
>
> "जैसे-जैसे समृद्धि, तरक्की, तथा आबादी में वृद्धि हुई है वैसे ही वैसे ब्याज में कमी आ गयी है," और इसलिए पूँजीपतियों के मुनाफ़े भी घट गये हैं, "इनके (मुनाफ़ों के) घट जाने के बाद यह सम्भव है कि अंश-पूँजी न केवल बढ़ती रहे, बल्कि पहले की अपेक्षा और भी अधिक तेज़ी से बढ़ने लगे। [...] अंश पूँजी की एक बड़ी मात्रा, चाहे उससे होने वाले मुनाफ़े कम ही हों, आमतौर से उस छोटी अंश पूँजी की अपेक्षा—जिस पर अधिक मुनाफ़े होते हैं, आमतौर से अधिक तेज़ी से बढ़ती है। यह बात है कि पैसा पैसे को बटोरता है।" [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ १८९)]

अस्तु, इस बड़ी पूँजी का, जब छोटे मुनाफ़ों वाली छोटी पूँजियों से मुक़ाबला होता है, जैसा कि प्रतियोगिता की अनुमानित परिस्थितियों के अन्तर्गत होना अवश्यम्भावी है, तो वह (बड़ी पूँजी) छोटी पूँजियों को पूरे तौर से रौंद डालती है।

इस प्रतियोगिता का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि मालों के स्तर में आम गिरावट आ जाती है, उनमें मिलावट होने लगती है, नक़ली चीज़ों का उत्पादन होने लगता है और सार्वभौमिक ढंग से विषाक्तता फैलने लगती है—जैसा कि बड़े-बड़े शहरों में स्पष्ट रूप से दिखलायी देता है।

॥१०। इससे भी आगे, बड़ी और छोटी पूँजी के बीच की प्रतियोगिता में एक और चीज़ जो महत्व रखती है वह है स्थिर या अचल पूँजी (fixed capital) तथा चल-पूँजी (circulating capital) का आपसी सम्बन्ध।

> चल-पूँजी वह पूँजी होती है जिसका "इस्तेमाल" सामग्रियों को "जमा करने", "कारखानों में निर्माण कार्य करने, अथवा मालों को ख़रीदने और फिर उनको बेचने के लिए किया जाता है [...]. सेवा नियोजन में इस तरह लगायी गयी पूँजी से सेवा नियोजक को आमदनी या मुनाफ़ा नहीं होता—तब तक जब तक कि वह उसके पास बनी रहती है, अथवा उसी रूप में क़ायम रहती है। [...] उसकी पूँजी उसके पास से लगातार एक रूप में जाती रहती है, और दूसरे रूप में उसके पास वापस आती रहती है, और केवल इस तरह के परिचलन अथवा अविरत विनिमयों" तथा रूपान्तरणों "के ज़रिए ही उससे उसे कोई मुनाफ़ा प्राप्त हो सकता

है। स्थिर पूंजी वह पूंजी होती है जिसका विनियोग "ज़मीन का सुधार करने, व्यापार के लिए उपयोगी मशीनों और औज़ारों, अथवा इसी तरह की चीज़ों को खरीदने के लिए" किया जाता है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २४३-४४ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १९७-९८)]

"स्थिर (अचल) पूंजी को क़ायम रखने के खर्चे में होने वाली प्रत्येक बचत समाज की शुद्ध बचत में वृद्धि करती है। प्रत्येक काम के अनुष्ठाता (व्यवसायी—अनु०) की सम्पूर्ण पूंजी अनिवार्य रूप से अचल और चल पूंजी में बंटी रहती है। उसकी पूरी पूंजी के उतना ही बना रहने पर एक हिस्सा यदि उसका छोटा हो जाता है तो उसके दूसरे हिस्से का अनिवार्य रूप से अधिक बड़ा होना अवश्यम्भावी है। चल पूंजी ही सामग्रियां तथा श्रम की मज़दूरी जुटाती है, और उद्योग को चालू करती है। अत., अचल पूंजी के रख-रखाव के खर्चे में होने वाली ऐसी हर बचत से, जिससे कि श्रम की उत्पादक शक्तियों में कमी नहीं होती, अनिवार्य रूप से उस कोष में वृद्धि हो जाती है जो उद्योग को गति प्रदान करता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २५७ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ २२६)]

यह तो शुरू से ही स्पष्ट है कि अचल (स्थिर) पूंजी और चल-पूंजी का सम्बन्ध छोटे पूंजीपति के मुक़ाबले में बड़े पूंजीपति के कहीं अधिक अनुकूल होता है। एक छोटे साहूकार के मुक़ाबले में बहुत बड़े बैंकर (महाजन) को जिस अतिरिक्त चल पूंजी की आवश्यकता होती है वह नगण्य होती है। उनकी अचल पूंजी उनके कार्यालय से अधिक नहीं होती। बड़े भूस्वामी का साज़ो-सामान (उसके उपकरण) उसकी ज़मींदारी के आकार के अनुपात में नहीं बढ़ता जाता। इसी तरह छोटे पूंजीपति की अपेक्षा बड़े पूंजीपति को ऋण की जो सुविधा प्राप्त होती है उससे उसकी अचल पूंजी में—अर्थात्, उसके हाथ में नकद रुपये की जो मात्रा हमेशा होती है उसमें और भी अधिक बचत होती है। अन्त में, यह भी स्पष्ट है कि औद्योगिक श्रम जहां उच्च स्तर पर पहुंच गया है और, इसीलिए, जहां सारा शारीरिक श्रम फैक्टरी श्रम बन गया है, वहां छोटे पूंजीपति की सारी पूंजी भी इतनी पर्याप्त नहीं होती कि उसके लिए आवश्यक चल पूंजी तक का काम कर सके। जैसा कि सर्वज्ञात है, बड़े पैमाने की खेती से आमतौर पर केवल थोड़े से ही लोगों को काम मिलता है।*

* On sait que les travaux de la grande culture n' occupent habituellement qu'un petit nombre de bras.

आमतौर से यह सच है कि बड़ी पूंजी के संचय के साथ-साथ जब पूंजी के, छोटे पूंजीपतियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में, आनुपातिक संकेन्द्रीकरण तथा सरलीकरण की प्रक्रिया भी चलती रहती है। बड़ा पूंजीपति श्रम के औज़ारों का किसी न किसी प्रकार का ।।११।। संगठन भी अपने यहां क़ायम कर लेता है।

"इसी तरह, उद्योग के क्षेत्र में प्रत्येक फैक्टरी और मिल विशाल भौतिक सम्पत्ति का एक ऐसा व्यापक संयोजन (combination) बन गयी है जिसके अन्तर्गत अनेकानेक तथा विविध प्रकार की बौद्धिक क्षमताएं एवं प्राविधिक प्रवीणताएं उत्पादन के एक ही सामान्य प्रयोजन की पूर्ति करती हैं ... जहां क़ानून भू-सम्पत्ति की बड़ी-बड़ी इकाइयों का परिरक्षण करता है, वहां बढ़ती हुई जनसंख्या के अतिरिक्त भाग के झुण्ड के झुण्ड व्यवसायों की ओर दौड़ते हैं और, इसीलिए, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में, सर्वहारा मज़दूर प्रधानतया उद्योग के क्षेत्र में भारी संख्या में जमा हो जाते हैं। किन्तु, जहां क़ानून इस बात की अनुमति देता है कि ज़मीन का लगातार बंटवारा होता जाय, वहां, जैसे कि फ्रांस में, कर्ज़ से लदे छोटे-छोटे भू-स्वामियों की संख्या बढ़ती जाती है; और विखण्डीकरण की अबाध प्रक्रिया उन्हें निर्धनों तथा असन्तुष्टों की श्रेणी में धकेल देती है। अन्ततः, विखण्डीकरण तथा ऋण-ग्रस्तता की यह प्रक्रिया जब और भी प्रचण्ड रूप ग्रहण कर लेती है तब बड़े-बड़े भू-स्वामियों की सम्पत्ति एक बार फिर छोटी भू-सम्पत्तियों को हड़प लेती है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धे छोटे उद्योग-धन्धों को नष्ट कर देते हैं। और ज्यों ही बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां फिर क़ायम हो जाती हैं त्यों ही उन सम्पत्ति-विहीन मज़दूरों की भारी संख्या, जिनकी खेती के काम के लिए आवश्यकता नहीं रह जाती, फिर विवश होकर, उद्योग-धन्धों की शरण में पहुंच जाती है।" (शुल्ज, Bewegung der Production, पृष्ठ ५८-५९)

"उत्पादन के तरीके में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप और विशेष रूप से मशीनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप, एक ही किस्म के मालों का स्वरूप बदल जाता है। मानव शक्ति को हटाकर ही यह सम्भव हो पाया है कि तीन शिलिंग और ८ पेन्स की क़ीमत के एक पौण्ड कपास की कतायी करके १६७ अंग्रेज़ी मीलों (अर्थात ३६ जर्मन मीलों) की लम्बाई की कुल ३५० ऐसी लच्छियां तैयार कर ली जायं जिनका वाणिज्यिक मूल्य २५ गिनी होता है।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६२)

"पिछले ४५ वर्षों के दौरान इंगलैण्ड में सूती मालों की क़ीमतें घ

कर ११/१२ भाग के बराबर रह गयी हैं और, मार्शल की गणना के अनुसार, जिन तैयारशुदा मालों के लिए १८१४ में १६ शिलिंग देने पड़ते थे वही अब १ शिलिंग और १० पेन्स में मिल जाते हैं। औद्योगिक उत्पादनों (पैदावारों) के अधिक सस्ते होने से देश के अन्दर उनका उपभोग बढ़ता है और विदेशों में उनके बाजार का विस्तार होता है, और, इसी वजह से, ग्रेट ब्रिटेन में मशीनों के प्रयोग की शुरुआत हो जाने के बाद भी सूती मिलों के मजदूरों की संख्या में न केवल कमी नहीं हुई है, बल्कि उनकी संख्या बढ़ कर चालीस हजार से पन्द्रह लाख हो गयी है।—॥१२॥ जहां तक औद्योगिक उद्यमकर्ताओं और मजदूरों की आमदनी का प्रश्न है : फैक्टरियों के मालिकों के बीच बढ़ती हुई प्रतियोगिता के फलस्वरूप, उनके मुनाफ़े, उनके द्वारा आपूरित किये गये उत्पादनों के परिमाण की तुलना में, अनिवार्य रूप से घट गये हैं। १८२०—३३ के वर्षों में मैन्चेस्टर के कारखाने वाले (विनिर्माता) को सफ़ेद कपड़े के एक थान पर होने वाले कुल मुनाफ़े की रकम चार शिलिंग १ १/३ पेन्स से घट कर एक शिलिंग नौ पेन्स हो गयी थी। परन्तु, इस घाटे की पूर्ति करने के लिए, कारखाने के उत्पादन की राशि में तदनुसार वृद्धि कर दी गयी है। इसका परिणाम यह होता है कि उद्योग की अलग-अलग शाखाओं को किसी हद* तक अति-उत्पादन का सामना करना पड़ता है, प्रायः लोगों के दीवाले निकल जाते हैं जिसकी वजह से पूंजीपतियों और श्रम के मालिकों के वर्ग के अन्दर ही सम्पत्ति अस्थिर रूप से घटने-बढ़ने और आगे-पीछे होने लगती है जिससे, जो लोग आर्थिक रूप से तबाह हो जाते हैं उनमें से कुछ सर्वहारा वर्ग की पांतों में आ पहुंचते हैं; और बारम्बार तथा अचानक ढंग से कारखानों का बन्द होना, अथवा काम से लोगों का निकाला जाना आवश्यक हो जाता है। इसका कष्टदायक प्रभाव हमेशा उजरत पर काम करने वाले मजदूरों के वर्ग को कड़ुआहट के साथ सहना पड़ता है।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ६३)

"अपने श्रम को किराये पर उठाने का मतलब अपनी गुलामी की शुरुआत करना होता है। श्रम की सामग्रियों को किराये पर उठाने का मतलब अपनी आजादी की स्थापना करना है...श्रम मनुष्य है; सामग्रियों में,

* शुल्ज ने "किसी हद तक" (teilweise) नहीं, बल्कि "समय-समय पर" (zeitweise) कहा है।—सं०

इसके विपरीत, कोई भी मानवीय तत्व नहीं होता।"* (पेक्कुयेर, Theorie sociale, etc., पृष्ठ ४११-१२)

"सामाग्री का तत्व, जो कि उस दूसरे तत्व, श्रम के बिना धन-सम्पदा की बिल्कुल सृष्टि नहीं कर सकता, यह तिलिस्मी (जादू-भरा) गुण प्राप्त कर लेता है कि, उनके लिए [जो इस भौतिक तत्व के मालिक हैं] वह फलदायक बन जाता है—जैसे कि इस अपरित्याज्य (अत्यावश्यक-अनु०) तत्व को उन लोगों ने स्वयं ही अपने क्रिया-कलाप के द्वारा उसमें जोड़ दिया हो।"** (पूर्वोद्धृत रचना)

"मान लीजिए कि एक मजदूर को उसके दैनिक श्रम से औसतन ४०० फ्रैंक की वार्षिक आय होती है और प्रत्येक बालिग व्यक्ति के लिए एक प्रकार की रूखी-सूखी जिन्दगी बिताने के लिए यह रकम काफ़ी होती है, तो एक ऐसा कोई भी मालिक, जिसे किसी फ़र्म, मकान, आदि से लगान अथवा ब्याज के रूप में २ हजार फ्रैंक की आमदनी होती है, पाँच आदमियों को अपने लिए काम करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य करता है; और १,००,००० फ्रैंक की आमदनी २५० मनुष्यों के श्रम का तथा १०,००,००० फ्रैंक २,५०० व्यक्तियों*** के श्रम का [अर्थात्, १०,००,००,००० (लुई फिलिप) ७,५०,००० मजदूरों के श्रम का] प्रतिनिधित्व करती है।" (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४१२-१३)

"मालिकों को मानवीय क़ानून ने इस बात का अधिकार दे दिया है

* "Lour son travail, c'est commencer son esclavage; louer la matiere au contraire n'est rien de l'homme "—स०

** "L'element matiere, qui ne peut rien pour la creation de la richesse sans l'autre element travail, recoit la vertu magique d'etre fecond pour eux comme s'ils y avaient mis de leur propre fait cet indispensable element."—स०

*** "En supposant que le travail quotidien d'un ouvrier lui rapporte een moyenne 400 fr par nan, et que cette somme suffise a chaque adulte pour vivre d'une vie grossiere, tout proprietaire de 2,000 fr de rente, de fermage, de loyer, etc. force donc indirectement 5 hommes a travailler pour lui; 100,000 fr. de rente representent le travail de 250 hommes, et 1000,000 le travail de 2500 individus."—स०

कि श्रम की सामग्रियों का चाहे वे सदुपयोग करें चाहे दुरुपयोग—अर्थात, इस बात का अधिकार दे दिया है कि श्रम की सामग्रियों के साथ वे जो चाहे करें . कानून से इस बात के लिए किसी भी तरह वे बँधे हुए नहीं हैं कि सम्पत्ति-विहीनों को जब ज़रूरत हो तब और हमेशा वे काम दें, अथवा उन्हें सदा पर्याप्त मज़दूरी दें, आदि।"* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४१३) "उत्पादन के स्वरूप, उसके परिमाण, उसके गुण तथा उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में, धन-सम्पदा के उपयोग तथा खर्च के सम्बन्ध में, तथा समस्त श्रम की सामग्रियों के ऊपर पूरा अधिकार (उन्हें प्राप्त होता है—अनु०)। हर उस चीज़ का जो उसकी सम्पत्ति है अपनी मर्जी के मुताबिक, व्यक्ति के रूप में अपने स्वार्थ के अलावा किसी भी और चीज़ का विचार किये बिना, विनिमय करने की उन्हें आज़ादी है।"** (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४१३)

"प्रतियोगिता मात्र विनिमय करने की स्वतन्त्रता की ही अभिव्यक्ति है, और विनिमय की स्वतन्त्रता स्वयं उत्पादन के समस्त उपकरणों का उचित और अनुचित ढंग से उपयोग करने के व्यक्ति के अधिकार का ही तात्कालिक तथा तार्किक परिणाम है। उचित और अनुचित उपयोग करने का अधिकार, विनिमय की स्वतन्त्रता, तथा स्वच्छन्द प्रतियोगिता—इन तीनों आर्थिक प्रवृत्तियों के, जो मिलकर एक इकाई के रूप में काम करती हैं, निम्न नतीजे निकलते हैं : हर एक जो चाहता है, जैसे चाहता है, जब चाहता है, जहाँ चाहता है उसे उत्पादित करता है; अच्छी तरह उत्पादित करता है या बुरी तरह उत्पादित करता है, आवश्यकता से अधिक उत्पादित करता है या इतना उत्पादित करता है जो अपर्याप्त है;

---

* "Les proprietaires ont recu de la loi des hommes le droit d'user et d'abuser, c.-a-d de faire ce qu'ils veulent de la matiere de tout travail ils sont nullement obliges par la loi de forner a props et toujours du travail aux non—proprietaires, ni de leur payer un salarie toujours suffisant etc."—स०

** "Liberte entiere quant a la nature, a la quantite, a la qualite, a l'opportunite de la production, a l'usade, a la consommation des recbesses, a la disposition de la matiere de tout travail. Chacun est livre d'echnger sa chose comme il l'entend, sans autre consideration qui son propre interet d'individu."—स०

बहुत जल्दी या बहुत देर से, अत्यधिक ऊँची क़ीमत पर या अत्यधिक नीची कीमत पर उत्पादित करता है; वह कोई नहीं जानता कि वह बेच पायेगा या नहीं, वह किसे बेचेगा, कैसे बेचेगा, कब बेचेगा, कहाँ बेचेगा। और खरीदने के सम्बन्ध में भी ठीक यही स्थिति होती है। ॥१३॥ आवश्यकताओं तथा ससाधनों के सम्बन्ध मे, माग और संभरण (आपूर्ति) के सम्बन्ध में उत्पादक अनभिज्ञ होता है। वह जब चाहता है तब बेचता है, जब बेच सकता है तब बेचता है, जहां चाहता है वहां बेचता है, जिसको चाहता है उसको बेचता है, जिस क़ीमत पर चाहता है उस कीमत पर बेचता है। और खरीदता भी वह इसी तरह है। इस सब मे हमेशा वह संयोग के हाथ का खिलौना, सबसे सबल, सबसे कम परेशान, सबसे धनी के क़ानून का वह गुलाम होता है... एक जगह जब कमी (अभाव –अनु०) होती है, तो दूसरी जगह बहुलता तथा बर्बादी होती है। एक उत्पादक यदि बहुत बेचता है या बहुत ऊँची कीमत पर और बहुत भारी मुनाफ़े पर बेचता है, तो दूसरा कुछ भी नही बेच पाता, या घाटे पर बेचता है... आपूर्ति मांग को नही जानती, और माग आपूर्ति को नहीं जानती। आप किसी शौक (पसन्द–अनु०) का खयाल करके तथा किसी ऐसे फ़ैशन का खयाल करके, जो उपभोक्ता लोगों के बीच उस वक्त प्रचलित होता है, उत्पादन करते हैं। किन्तु जिस समय तक आप उस माल को पेश करने के लिए तैयार होते हैं तब तक वह सनक आयी-गयी हो चुकी होती है और उसका ध्यान किसी अन्य प्रकार की उत्पत्ति पर केन्द्रित हो गया होता है... इसके अनिवार्य परिणाम होते हैं : लगातार और सब जगह दिवाले; गलत गणनाएँ, अचानक तबाहियां तथा अनपेक्षित समृद्धि, वाणिज्यिक संकट, बेकारी, आवर्तिक (periodic) बहुलता अथवा अभावों के दौर; अस्थिरता तथा मज़दूरियों और मुनाफ़ों मे कमी, धन-सम्पदा की क्षति अथवा जबर्दस्त बर्बादी, भीषण प्रतियोगिता के क्षेत्र में समय और प्रयास का जबर्दस्त अपव्यय।"* (पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४१४–१६)

* "La concurrence n'exprime pas autre chose que l'echange facultatif, qui lui – meme est la consequence prochaine et logique du droit individuel d'user et d'abuser des instruments de toute production. Ces trois moments economiques, les quele n'en font qu'un : le droit d'user et d'abuser, la liberte d'echanges et la concurrence arbitraire, entrainent les consequences

अपनी कृति* (जमीन का लगान) में रिकार्डो (ने लिखा है—अनु०) : राष्ट्र मात्र उत्पादन की दूकानें हैं; मनुष्य उपभोग और उत्पादन करने की एक मशीन है; मानव जीवन एक प्रकार की पूँजी है, आर्थिक नियम संसार पर अंधे ढंग से शासन करते हैं। रिकार्डो के लिए मनुष्य कुछ नहीं है, उत्पत्ति ही सब कुछ है। उनकी कृति के फ्रांसीसी अनुवाद के २६वें अध्याय में लिखा है :

"एक ऐसे व्यक्ति के लिए जिसके पास बीस हजार पौण्ड की पूँजी है और जिसका मुनाफा दो हजार पौण्ड प्रति वर्ष है, यह विषय बिल्कुल दिलचस्पी का नहीं है कि उसकी पूंजी सौ आदमियों को काम पर रखेगी

---

suivantes : chacun produit ce qu'il veut, comme il veut, quand il veut, ou il veut; produit bien ou produit mal, trop ou pas assez, trop tot ou trot tard, trop cher ou a trop bas prix; chacun ignore s'il vendre, a qui il vendre, comment il vendre, quand il vendre, ou il vendre; it il en est de meme quant aux achats. Le producteur ignore les besoins et les ressources, les demandes et les offres. Il vend quand il veut, quand il peut, ou il veut, a qui il veut, au prix qu'il veut. Et il achete de meme. En tout cela, il est toujours le jouet du hasard, l'esclave de la loi du plus fort, du moins presse, du plus riche .. Tandis que sur un point il y a disette d'une richesse, sur l'autre il y a trop - plein et gaspillage. Tandis qu'un producteur vend beaucoup ou tres cher, et a benefice enorme, l'autre ne vend rien ou vend a perte... L'offre ignore la demande, et la demande ignore l'offre. Vous produisez sur la foi d'un gout, d'une mode qui se manifeste dans le public des consommateurs; mais daja, lorsque vous etes prets a livrer la marchandise, la fantaisie a passe et s'est fixee sur un autre genre de produit . consequences infaillibles la permanence et l'universalisation des banqueroutes, les mecomptes, les ruines suvites et les fortunes improvisees : les crises commerciales, les chomages, les encombrements ou les disettes periodiques; l'instabilite et lavilessement des salaires et des profits; la deperditon ou le gaspillage enorme de richesses, de temps et d'efforts dans l'arene d'une concurrence acharnee."—स०

* राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था तथा कराधन के सिद्धान्त (On the Principles of Political Economy, and Taxation) ।—स०

या हजार आदमियों को... क्या राष्ट्र का वास्तविक हित भी इसी तरह का नहीं है ? उसकी शुद्ध वास्तविक आमदनी, उसके लगान और मुनाफ़े यदि वैसे ही बने रहें, तो इस चीज़ का (उसके लिए–अनु०) कोई महत्व नहीं है कि राष्ट्र के अन्दर एक करोड़ अथवा एक करोड़ बीस लाख निवासी निवास करते हैं।"* (खण्ड २, पृष्ठ १९४–९५)। "श्री सिसमान्दी कहते हैं [Nouveaux principes d'economie politique, खण्ड २, पृष्ठ ३३१] कि, वास्तव में, इसके बाद सिवाय इसके और किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं रह जाती कि बादशाह, अपने द्वीप पर एकदम अकेला रहते हुए, लगातार एक कुण्डे को घुमाता रहे जिससे कि स्वचालित मशीनें इंग्लैण्ड का सारा काम करती रहें।"**

"वह मालिक जो मज़दूर के श्रम को इतनी क़ीमत पर खरीदता है कि उससे मज़दूर की सर्वाधिक आवश्यकताओं की भी मुश्किल से ही पूर्ति होती है, न तो मज़दूरी की कमी के लिए और न श्रम की अतिशय कालावधि के लिए उत्तरदायी होता है : उसे स्वयं उस कानून का पालन करना पड़ता है जिसे वह लागू करता है...दरिद्रता का कारण मनुष्य इतना नहीं होते जितनी कि वस्तुओं की सत्ता होती है।"*** (बुरे, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ८२)

---

* "Il serait tout-a-fait indifferent pour une personne qui sur un capital de 20,000 fr. ferait 2000 fr par an de profit, que son capital employat cent hommes ou mille .. L'interet reel d'une nation n'est—il pas le meme? pourvu que son revenu net et reel, et que ses fermages et ses profits soint les memes, qu'importe qu'elle se compose de dix ou de douze millions d'individus ?"—सं०

** "En verite, dit M. de Sismondi, il ne reste plus qu'a desirer que le roi, demeure tout seul dans l'ile, en tournant constamment une manivelle, fasse accomplir, par des automates, tout l'ouvrage de l'Angleterre "—सं०

*** "Le maitre, qui achete le travail de l'ouvrier a un prix si bas, qu'il suffit a peine aux besoins les plus pressants, n'est responsable ni de l'insuffisance des salaires, ni de la trop longue duree du travail : il subit lui-meme la loi qu'il impose...ce n'est pas tant des hommes que vient la misere, que de la puissance des choses "—सं०

"ग्रेट ब्रिटेन के अनेक भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों के पास इतनी काफी पूंजी नहीं है जिससे कि अपनी तमाम जमीनों का विकास वे कर सकें और उन पर खेती कर सकें। स्कॉटलैण्ड की दक्षिणी* काउन्टियों (जिलों) के ऊन के अधिकांश को, बहुत खस्ता सडकों से खूब दूर ले जाकर, यौर्कशायर में तैयार किया जाता है—क्योंकि स्कॉटलैण्ड में उसे तैयार करने के लिए आवश्यक पूंजी नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसे अनेक निर्माण करने वाले छोटे-छोटे कस्बे हैं जिनके निवासियों के पास इतनी काफी पूंजी नहीं है कि वे स्वय अपने उद्योगों की पैदावारों को दूर-स्थित उन बाजारों तक ले आ सकें जिनमे उनकी मांग है और जहाँ उनका इस्तेमाल होता है। उनके बीच यदि कोई सौदागर होते हैं, ॥१४॥ तो वे, वास्तव मे, उन अधिक धनी सौदागरों के दलाल ही होते हैं जो कुछ अधिक बड़े वाणिज्यिक नगरों में निवास करते हैं।" [एडम स्मिथ, राष्ट्रों की धन-सम्पदा, पृष्ठ ३२६–२७ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३८२)]

"किसी राष्ट्र की जमीन और श्रम की वार्षिक पैदावार के मूल्य मे इसके अतिरिक्त किसी और तरीक़े से वृद्धि नहीं की जा सकती कि या तो उसके उत्पादक मजदूरों की सख्या में, या उन मजदूरों की उत्पादक शक्तियों में, जिन्हें पहले ही काम पर रख लिया गया है, वृद्धि की जाय .. दोनों मे से प्रत्येक दशा में अतिरिक्त पूंजी की लगभग सदा ही आवश्यकता होती है।"** [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३०६–०७ (गार्नियर खण्ड २, पृष्ठ ३३८)]

"स्वाभाविक रूप से, श्रम विभाजन से पहले चूंकि अंश पूंजी (स्टॉक) का संचित होना आवश्यक है, इसलिए जैसे-जैसे अंश पूंजी (स्टॉक) अधिकाधिक मात्रा मे पहले संचित होती जाती है वैसे ही वैसे, उसी के अनुपात मे, श्रम का भी अधिकाधिक अन्तर्विभाजन होता जा सकता है। जैसे-जैसे श्रम का अन्तर्विभाजन बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे उतने ही

* In the manuscript : "eastern" —स०

** "Pour augmenter la valeur du produit annuel de la terre et du travail, il n'y a pas d'autres moyens que d'augmenter, quant au nombre, les ouvriers productifs. ou d'augmenter, quant a la puissance, la faculte productive des ouvriers precedemment employes ... Dans l'un et dans l'autre cas il faut presque toujours un surcroit de capital."—स०

आदमियों द्वारा सामग्रियों की जिस मात्रा पर काम किया जा सकता है वह उसी विशाल अनुपात मे बढ़ती जाती है; और जैसे-जैसे प्रत्येक मज़दूर का काम क्रमश अधिकाधिक मात्रा में सरल होता जाता है वैसे ही वैसे उन कामों को सुगम्य बनाने तथा संक्षिप्त करने के लिए अनेक प्रकार की नयी-नयी मशीनों का आविष्कार होता जाता है। इसलिए, जैसे-जैसे श्रम विभाजन बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे मज़दूरों की एक ही संख्या को लगातार काम देते रहने के लिए, आवश्यक हो जाता है कि, पहले की पुरानी चाल की व्यवस्था की अपेक्षा, सामानों तथा सामग्रियों और औजारों के अपेक्षाकृत अधिक स्टॉक (परिमाण) का उतनी ही अधिक मात्रा में पहले से संचय हो जाय। किन्तु, कारोबार के प्रत्येक विभाग मे, श्रम विभाजन के साथ-साथ, मज़दूरों की संख्या भी आमतौर से बढ़ती जाती है, अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि उनकी संख्या मे वृद्धि की ही वजह से यह सम्भव हो जाता है कि उनका इस प्रकार वर्गीकरण तथा अन्तर्विभाजन किया जा सके" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २४१–४२ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १९३–९४)]

"चूंकि श्रम की उत्पादक शक्तियो मे यह जबर्दस्त सुधार लाने के लिए अंश पूँजी का (स्टॉक का) पहले से संचित हो जाना आवश्यक होता है, इसलिए स्वाभाविक तौर से संचय के परिणामस्वरूप यह सुधार सम्भव हो जाता है। जो व्यक्ति श्रम (मज़दूरों–अनु०) को रखने के लिए अपनी अंश पूंजी का उपयोग करता है वह अनिवार्य रूप से उसका उपयोग इस तरह से करने की इच्छा रखता है जिससे कि काम की अधिक से अधिक सम्भव मात्रा वह उससे करवा सके। इसलिए, वह दोनों चीजें करने की कोशिश करता है—एक तो अपने मज़दूरों के बीच काम का बंटवारा वह सर्वाधिक उचित ढंग से करने की कोशिश करता है और दूसरे, उन्हें अच्छी से अच्छी मशीनें देता है [...]। इन दोनों ही मामलों में उसकी क्षमताएं ।।१५। आम तौर से उसकी अंश पूंजी (स्टॉक) की मात्रा, अथवा उन लोगों की संख्या के अनुपात मे ही होती हैं जिन्हें उस अंश पूंजी से काम पर रखा जा सकता है। अतः, उस अंश पूंजी (स्टॉक) की वृद्धि के साथ-साथ न केवल उद्योग की वह मात्रा भी हर देश में बढ़ती जाती है जो उसका उपयोग करता है, बल्कि, उस वृद्धि के फलस्वरूप, उद्योग की वही मात्रा काम की कहीं अधिक मात्रा का सम्भव बना देती है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २४२ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १९४–९५)]

फलतः अति उत्पादन (होता है–अनु०)।

"उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में अधिक बहुसंख्यक तथा अधिक भिन्न-भिन्न प्रकार की मानवीय तथा प्राकृतिक शक्तियों को अधिक बड़े पैमाने के उद्यमों में इकट्ठा करके .. उत्पादक शक्तियों के अधिक व्यापक संयोजन (स्थापित हो जाते हैं–अनु०)..। उत्पादन की प्रमुख शाखाओं के बीच यहां-वहां पहले से ही कहीं अधिक घनिष्ट सहकार (दिखलायी देता है–अनु०)। अस्तु, अपने उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे मालों के कम से कम एक भाग के लिए दूसरों से स्वतन्त्र (स्वावलम्बी) बनने के लिए बड़े कारखानेदार बड़ी-बड़ी जागीरों (प्रदेशों) को प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे, अथवा अपने औद्योगिक कारबारों के साथ वे व्यापार के क्षेत्र में—न केवल स्वयं अपने द्वारा बनाये गये मालों को बेचने के लिए, बल्कि दूसरे प्रकार की पैदावारों को खरीदने के लिए और उन्हें अपने मजदूरों के हाथ बेचने के लिए भी—उतरेंगे। इंग्लैण्ड में, जहाँ फैक्टरी का एक ही मालिक कभी-कभी दस-दस, बारह-बारह हजार मजदूरों को काम पर रखता है... इस वक्त भी उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के संयुक्त संगठनों के, राज्य के अन्दर इस तरह की छोटी-छोटी रियासतों अथवा प्रदेशों के एक ही मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित किये जाने की स्थितियों की मौजूदगी असामान्य नहीं है। उदाहरण के लिए, बर्मिंघम क्षेत्र में खानों के मालिकों ने हाल ही में लोहे के उत्पादन की उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने हाथों में ले लिया है जो पहले भिन्न-भिन्न उद्यमियों तथा मालिकों के बीच बटी हुई थी (देखिए : "Der bergmannische Disttikt bei Birmingham," Deutsche Vierielj [ahrs-Schrift] No. 3,1838) अन्त में, उन विशालकाय संयुक्त-अंशपूंजी के उद्यमों में, जिनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है, हमें अनेक भागीदारों के वित्तीय संसाधनों के दूर-दूर तक फैले ऐसे संयुक्त संघटन देखने को मिलते हैं जिनमें उन दूसरे लोगों के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान एवं कौशल का संयोजन होता है जिन्हें काम करने का उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता है। इससे पूंजीपतियों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि अपनी बचतों का उपयोग वे अधिक अलग-अलग तरीकों से कर सकें और, यहाँ तक कि, उनका उपयोग कदाचित् कृषि, उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्रों में साथ ही साथ कर सकें। इसके फलस्वरूप, उनके हितों का दायरा और अधिक व्यापक बन जाता है, ॥१६॥ और खेतिहर, औद्योगिक तथा वाणिज्यिक हितों के पारस्परिक

अन्तर्विरोध घट जाते हैं और मिट जाते हैं। परन्तु, पूंजी का तमाम तरह प्रकार के तरीकों से लाभदायी ढंग से उपयोग कर सकने की सम्भावना के बढ़ जाने का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि सम्पत्तिशाली और सम्पत्ति-विहीन वर्गों के बीच का विरोध और उग्र हो उठता है।" (शुल्ज, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४०–४१)

मकानों के मालिक ग़रीबी से विशाल मुनाफ़े कमाते हैं। घरों के किराये और औद्योगिक ग़रीबी के बीच उल्टा अनुपात होता है।

इसी तरह बर्बाद हो गये सर्वहारा लोगों के दुराचारों (वेश्यावृत्ति, शराबखोरी, गिरवीदार की दलाली) से प्राप्त होने वाले ब्याज का सम्बन्ध औद्योगिक ग़रीबी के साथ प्रतिलोम (उल्टा) होता है।

पूंजी और भूसम्पत्ति जब एक ही हाथ में जमा हो जाती हैं, तब, और उस समय भी, जबकि अपनी मात्रा की वजह से पूंजी इस स्थिति में हो जाती है कि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं को वह (अपने नीचे–अनु०) संयुक्त कर ले, पूंजी का संचय बढ़ जाता है और पूंजीपतियों के बीच की प्रतियोगिता कम हो जाती है।

मनुष्यों की तरफ उपेक्षा-भाव। स्मिथ के बीस लाटरी टिकट वाली बात।"

मे की शुद्ध और कुल आमदनी ।१६॥

ज़मीन का लगान

॥१॥ ज़मींदारों के अधिकार का जन्म डाके (अपहरण) से हुआ था। (से, खण्ड १, पृष्ठ १३६, टिप्पणी)। अन्य मनुष्यों की ही तरह, ज़मींदार (भी) ऐसी जगह फ़सल काटना पसन्द करते हैं जहां उन्होंने कभी बीज नहीं बोया था, और धरती की प्राकृतिक पैदावार पर भी वे लगान की मांग करते हैं। (एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ४४ (गार्नियर, खण्ड १ पृष्ठ ९९)।

"सोचा जा सकता है कि ज़मीन का लगान प्रायः उस धनराशि (अर्थात पूंजी) के मुनाफ़े अथवा ब्याज से अधिक कुछ नहीं होता जो ज़मींदार उस ज़मीन के विकास पर लगाता है। निस्सन्देह, कभी-कभी आंशिक रूप से ऐसा हो सकता है... ज़मींदार (१) उस ज़मीन का भी लगान वसूल

जिसका विकास नही किया गया है, और विकास की मद मे किये गये खर्च का अनुमानित ब्याज अथवा मुनाफ़ा आमतौर से इस मूल लगान के अलावा होता है।" (२) "इसके अलावा, वे सुधार हमेशा ज़मींदार की अश-पूंजी से नही किये जाते, बल्कि कभी-कभी काश्तकार के खर्चे से किये जाते हैं। किन्तु, जब दोबारा पट्टा करने का समय आता है तब, आम तौर से, लगान को इस तरह बढ़ाने की मांग वह करता है जैसे कि वे सारे सुधार स्वयं उसकी पूंजी से ही किये गये थे।" (३) "कभी-कभी वह ऐसे सुधारों के लिए भी लगान मांगता है जिन्हें इन्सान कभी नहीं कर सकते।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३१ (गानियर, खण्ड १, पृष्ठ ३००–०१)]

इस पिछली बात के उदाहरण के रूप में स्मिथ वरुण घास* (kelp) को बताते हैं।

"समुद्र मे उगने वाली एक घास (शैवर) होती है जिसे जलाने से एक ऐसा क्षारीय नमक निकलता है जो शीशा (कांच), साबुन, आदि के बनाने के काम मे आता है। यह घास ग्रेट ब्रिटेन के अनेक भागो मे, विशेष रूप से स्कॉटलैण्ड मे, ऐसी चट्टानो पर उगती है जो जल की उच्चतम सीमा के अन्तर्गत रहती हैं, जिन पर हर दिन दो बार समुद्र का पानी पहुंच जाता है और, इसलिए, जिसकी पैदावार को बढ़ाने मे मानव उद्योग का कभी कोई हाथ नही रहा। किन्तु, ज़मीदार, जिसकी ज़मीन के कब्ज़े मे इस तरह की घास (शैवर) वाला तट आ जाता है, "उसके लिए भी उतने ही लगान की मांग करता है जितने की कि वह अपने ग़ल्ले के खेतों के लिए करता है। शेटलैण्ड** के द्वीपों के पड़ोस के समुद्र मे मछलियां बहुत पायी जाती हैं; वहां के निवासियो के जीवन निर्वाह का वे एक बड़ा साधन होती हैं। ॥२॥ परन्तु, पानी की इस उपज से लाभ उठा सकने के लिए आवश्यक होता है कि पास-पड़ोस की ज़मीन पर लोगो के रहने के लिए भूमि हो। ज़मीदार का (उस पर) लगान ज़मीन

---

* स्मिथ ने आम शब्द "वरुण घास" का प्रयोग किया है। मार्क्स ने Salzkraut (Seekrapp, Salicorne) लिखा है, जिसका मतलब एक प्रकार के लवणपादक (Salsola), अथवा कांच-पादक (Salicornia) होता है।—सम्पादक

** पाण्डुलिपि मे "स्कॉटलैण्ड" लिखा है।—सम्पादक

से किसान जो कुछ कमा सकता है उसके आधार पर नहीं होता, बल्कि उस कमाई के आधार पर होता है जो वह ज़मीन और पानी दोनों से कमा सकता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३१ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३०१–०२)]

"इस लगान को *प्रकृति की उन शक्तियों की पैदावार* मान लिया जा सकता है जिनका उपयोग करने का अधिकार ज़मींदार किसानों को अस्थायी तौर से देता है। उसकी (लगान की–अनु०) मात्रा उन शक्तियों की अनुमानित मात्रा के अनुसार, अथवा, दूसरे शब्दों में, ज़मीन की *प्राकृतिक अथवा उन्नत की गयी या विकसित की गयी उर्वरता* के अनुसार, बड़ी या–छोटी होती है। उस सबको–जिसे मनुष्य का काम माना जा सकता है–घटा देने अथवा उसका मुआवज़ा दे देने के बाद जो बच जाता है वह प्रकृति का करिश्मा होता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३२४–२५ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३७७ ७८)]

"अतः ज़मीन के उपयोग के लिए दी गयी क़ीमत के रूप में, ज़मीन का लगान स्वाभाविक रूप से उसकी एकाधिकारी क़ीमत होता है। ज़मीन की उन्नति के लिए ज़मींदार ने जो खर्चा किया हो उसके, अथवा जो वह वसूल कर सकता है उसके, अनुपात में वह बिलकुल नहीं होता; बल्कि, उसकी मात्रा वह होती है जो किसान देने की क्षमता रखता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३१ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३०२)]

तीन मूल वर्गों में से ज़मींदारों का वर्ग वह होता है "जिसे अपनी आमदनी के लिए न श्रम करना पड़ता है न फ़िक्र करनी पड़ती है, बल्कि जो, एक प्रकार से, उसके पास अपने-आप तथा किसी भी योजना अथवा निर्माण-योजना के बिना, आ जाता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २३० (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १६१)]

इस बात को हम पहले ही जान चुके हैं कि लगान की मात्रा ज़मीन की उर्वरता की मात्रा पर निर्भर करती है।

दूसरी चीज़ जो उसके निर्धारण में भूमिका अदा करती है–स्थिति है।

"ज़मीन का लगान न केवल उसकी उर्वरता (उत्पादकता) के साथ-

पाण्डुलिपि में Absicht (प्रयोजन, मंशा, परियोजना) के बजाय, Einsicht (समझदारी) का इस्तेमाल किया गया है।–सम्पादक

साथ, चाहे उसकी पैदावार कुछ भी हो, बदलता जाता है बल्कि उसकी स्थिति के साथ-साथ भी, उसकी उर्वरता चाहे जितनी हो, बदलता जाता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३०६)]

"जमीन, खानों और मछलीगाहों (मत्स्य-पालन क्षेत्रों) की पैदावार, जब उनकी प्राकृतिक उत्पादकता एक-समान हो, उन पूंजियों की मात्रा तथा उनके उचित ।।3। प्रयोग के अनुपात में होती है जिनका उनके लिए इस्तेमाल किया जाता है। पूंजियां जब बराबर होती हैं और एक ही तरह से अच्छी तरह इस्तेमाल में लायी जाती हैं, तब वह (पैदावार–अनु०) उनकी प्राकृतिक उत्पादकता के अनुपात में होती है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २४९ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ २१०)]

स्मिथ की ये स्थापनाएँ महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि, अगर उत्पादन का खर्च बराबर हो और लगायी गयी पूंजी की मात्रा भी बराबर हो, तो जमीन का लगान भूमि की अधिक या कम उर्वरता के आधार पर तय होता है। इससे राजनीतिक अर्थशास्त्र की उन अवधारणाओं की विकृति स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है जो जमीन की उर्वरता को जमींदार का ही एक गुण बना देती हैं।

परन्तु, अब हम जमीन का लगान जिस तरह वास्तविक जीवन में तय होता है उस पर विचार करें।

जमीन का लगान किसान (काश्तकार) और जमींदार के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप तय होता है। हम देखते हैं कि राजनीतिक अर्थशास्त्र में हितों के शत्रुतापूर्ण विरोध, संघर्ष, युद्ध के सारे समय सामाजिक संगठन का मूलाधार माना गया है।

अब हम देखें कि जमींदार और किसान के सम्बन्ध किस प्रकार के हैं :

"पट्टे की शर्तों को तय करते समय जमींदार इस बात की कोशिश करता है कि उसके (किसान के–अनु०) पास पैदावार का उतने भाग से अधिक न छूट जाय जितना कि उस कोश को बनाये रखने के लिए काफी होता है जिससे कि वह बीज जुटाता है, मजदूरों को उजरत देता है तथा जानवरों और कृषि के अन्य औजारों को खरीदता और सम्भाले रखता है, और जिससे कि उसे उतना साधारण मुनाफा मिल जाय जितना कि पास-पड़ोस में कृषि की पूंजी पर लोगों को मिलता है। स्पष्ट है कि यह वह सबसे छोटा हिस्सा होता है जिससे कि बिना घाटा उठाये किसान अपने

को सन्तुष्ट रख सकता है और जमींदार किसी भी तरह चाहता है कि किसान के पास इससे अधिक कुछ छोड़ा जाय। पैदावार का जो भी हिस्सा, अथवा, जो कि एक ही चीज है—उसकी क़ीमत का जो भी भाग उसके हिस्से से ऊपर और अधिक होता है उसे स्वाभाविक रूप से वह अपनी जमीन के लगान के रूप में अपने लिए सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है, स्पष्ट रूप से यह लगान जमीन की वर्तमान परिस्थितियों में किसान जो अधिकतम दे सकता है उसके बराबर होता है। ॥V॥ [...] किन्तु, इस अंश को अब भी जमीन का स्वाभाविक लगान, अथवा ऐसा लगान मान लिया जा सकता है जिस पर कि स्वाभाविक तौर से जमीन को अधिकांशतया लगान पर उठाया जाना चाहिए।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३०-३१ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ २९९-३००)]

से कहते हैं, "जमींदार किसानों के विरुद्ध एक प्रकार की इजारेदारी की व्यवस्था चलाते हैं। उनके माल, उनकी जगह और भूमि की माँग अन्तहीन ढंग से बराबर बढ़ती चली जा सकती है; किन्तु उनके माल की मात्रा तो निश्चित, सीमित है. जमींदार और किसान के बीच जो सौदा होता है वह सदा सर्वाधिक सम्भव मात्रा में जमींदार के लिए लाभदायी होता है... उस लाभ के अलावा जो यों ही वह इस सौदे से प्राप्त करता है, अपनी स्थिति, अपनी अधिक बड़ी सम्पत्ति और अधिक ऋण तथा हैसियत की वजह से वह और भी अधिक लाभ प्राप्त करता है। किन्तु स्वयं पहली चीज़ ही इतनी काफ़ी होती है कि जमीन की अनुकूल परिस्थितियों से वही और केवल वही फ़ायदा उठा सकता है। किसी नहर, अथवा सड़क के बन जाने से, जनसंख्या तथा ज़िले की खुशहाली में वृद्धि हो जाने से, लगान में हमेशा वृद्धि हो जाती है... दरअसल, सम्भव है कि किसान स्वयं अपने खर्चे से सुधार कर ले; किन्तु (उसके द्वारा लगायी गयी–अनु०) उक्त पूँजी से वह केवल तभी तक मुनाफ़ा कमाता है जब तक कि उसका पट्टा बना रहता है—पट्टा खत्म हो जाने के बाद वह (उसके द्वारा लगायी गयी पूँजी–अनु०) जमीन के मालिक के पास ही रह जाती है; उसके बाद से उस पर जो ब्याज मिलता है उसे, बिना अपनी कोई पूँजी लगाये, जमींदार ही बटोरता है—क्योंकि अब (जमीन में सुधार हो जाने के कारण–अनु०) लगान में उसी के अनुपात में वृद्धि हो जाती है।" (से, खण्ड-२, पृष्ठ १४२-४३)।

"जमीन का उपयोग करने के लिए दी जाने वाली कीमत के रूप में

लगान, स्वाभाविक तौर से, उस सबसे बड़ी रक़म के बराबर होता है जो ज़मीन की प्रचलित परिस्थितियों में किसान दे सकता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३० (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ २९९)]

"ज़मीन के ऊपर की भू-सम्पत्ति का लगान आमतौर से कुल पैदावार के एक-तिहाई भाग के बराबर होता है; और यह लगान आमतौर से ऐसा होता है जो निश्चित, तथा, फ़सल में यदा-कदा होने वाले उतार-चढ़ावों ॥२॥ से, स्वतन्त्र होता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १५३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३५१)] यह लगान... कुल पैदावार के चौथाई भाग से बहुत कम ही कम होता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ ३२५ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ ३७८)]

लगान सभी मालों पर नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिए, अनेक ज़िलों* में पत्थरों के लिए कोई लगान नहीं दिया जाता।

"साधारण तौर से ज़मीन की पैदावार के केवल उन्हीं अंशों को बाज़ार में लाया जा सकता है जिनकी साधारण क़ीमत उस कोष को पुनर्स्थापित करने के लिए पर्याप्त हो जिसे पैदावार के उक्त अंशों को (बाज़ार तक अनु०) लाने में खर्च करना आवश्यक होता है, और; जिससे कि उसका साधारण मुनाफ़ा भी प्राप्त हो जाय। साधारण क़ीमत यदि इससे अधिक होती है तो उसका अतिरिक्त भाग स्वाभाविक तौर से ज़मीन के लगान में चला जायेगा। यदि, इसके बावजूद कि माल को बाज़ार में ले आया गया हो, वह (क़ीमत—अनु०) अधिक नहीं होती, तो उससे ज़मींदार को लगान नहीं दिया जा सकता। क़ीमत अधिक है या नहीं—यह चीज़ माँग पर निर्भर करती है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३२ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३०२-०३)]

"इसलिए, ध्यान देने की बात है कि, मालों की क़ीमत के निर्धारण में लगान का सन्निवेश, मजदूरी और मुनाफे के उसमें सन्निवेश से, भिन्न प्रकार से होता है। मजदूरी और मुनाफे के अधिक या कम होने के कारण क़ीमत भी अधिक या कम होती है; लगान का अधिक या कम होना उसका परिणाम होता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३२ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३०३-०४)]

---

* पाण्डुलिपि में ज़िलों (Gegenden) के बजाय वस्तुएँ (Gegenstanden) लिखा हुआ है।—सम्पादक

खाद्य पदार्थ पैदावारों की उस श्रेणी में आते हैं जिसमें हमेशा लगान मिलता है।

"अन्य सभी पशुओं की तरह मनुष्यों की भी संख्या स्वाभाविक रूप से चूंकि उसी अनुपात में बढ़ती है जिस अनुपात में उनके पास जीवन-निर्वाह के साधन होते हैं, इसलिए आहार (food) की मांग न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा ही बनी रहती है। वह (आहार) श्रम को अधिक या कम ||६| मात्रा को खरीद सकता है अथवा अपने आधिपत्य में रख सकता है, और ऐसा कोई न कोई व्यक्ति भी हमेशा ही मिल सकता है जो भोजन के लिए काम करने को तैयार हो। उन ऊँची मजदूरियों की वजह से जो मजदूरों को कभी-कभी दे दी जाती हैं, श्रम की वह मात्रा, जिसे वह खरीद सकता है, वास्तव में, हमेशा उस मात्रा के बराबर नहीं होती जिसे कि—उसकी व्यवस्था यदि सर्वाधिक मितव्ययी ढंग से की जाय तो—वह काम में लगाये रख सकता है। किन्तु, उस दर पर, जिस पर कि आम तौर से, इस तरह का श्रम पास-पड़ौस में काम पर रखा जाता है, वह हमेशा श्रम की उतनी मात्रा खरीद सकता है जितनी का वह निर्वाह कर सके।"

"किन्तु, ज़मीन, लगभग हर परिस्थिति में, आहार (food) की उससे अधिक मात्रा पैदा करती है जितनी कि बाजार में उसे* लाने के लिए आवश्यक श्रम के रख-रखाव के वास्ते ज़रूरी होती है [...]। उसका अतिरिक्त भाग (surplus) भी, हमेशा, उससे बड़ा होता है जितना कि उस कोष की—मय उसके मुनाफ़े के—पुनर्स्थापना करने के लिए पर्याप्त होना है जिसने कि उस श्रम को काम पर रखा था। इसलिए, ज़मींदार के लिए लगान के रूप में कुछ न कुछ हमेशा बच जाता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १३२-३३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३०५-०६)]

"इस तरह, आहार लगान का न केवल मूल स्रोत ही होता है, बल्कि ज़मीन की पैदावार का हर वह अन्य अंश भी, जिससे कि बाद में लगान मिलता है, अपने मूल्य के उक्त अंश को प्राप्त करता है श्रम की उन शक्तियों की उन्नति से जिनके माध्यम से भूमि का विकास करके और उस पर खेती करके वे आहार पैदा करती हैं।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १५० (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३४५)]

---

* "उसे" से मतलब है आहार का, किन्तु पाण्डुलिपि में श्रम (Arbeit) लिखा है।—सम्पादक

"मानवीय आहार ही जमीन की मात्र एक ऐसी उपज दिखलायी पड़ता है जिससे कि जमींदार को हमेशा और अनिवार्य रूप से कुछ न कुछ लगान मिलता रहता है।" [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १४७ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३३७)]

'देशों की आबादी लोगों की उस संख्या के अनुपात में नहीं घनी होती जिसके लिए उनकी पैदावार कपड़ा और मकान सुलभ करा सकती है, बल्कि उन लोगों के अनुपात में घनी होती है जिनके लिए कि वह आहार जुटा सकती है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १४९ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३४२)]

"आहार के बाद मानवजाति की दो सबसे बड़ी आवश्यकताएँ होती हैं कपड़ा और मकान।" आम तौर से इनसे लगान प्राप्त होता है, किन्तु ऐसा लाज़मी नहीं होता। [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १४७ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३३७-३८)] ।६।।

।।८१।' अब हम यह देखें कि जमींदार हर उस चीज से कैसे अपना स्वार्थ-साधन करता है जिससे समाज को लाभ पहुँचता है।

(१) जमीन का लगान आबादी के साथ-साथ बढ़ता जाता है। (एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १४६ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३३५)]

(२) इस चीज को से के माध्यम से हम पहले ही जान चुके हैं कि रेलों, आदि के साथ-साथ, सचार के साधनों में होने वाले सुधारों, उनकी बढ़ोतरी और उनके विस्तार के साथ-साथ भी लगान में किस प्रकार वृद्धि होती जाती है।

(३) "समाज की दशा में होने वाली हर उन्नति के फलस्वरूप, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, जमीन के असली लगान में वृद्धि हो जाती है, जमींदार की वास्तविक धन-सम्पदा बढ़ जाती है, दूसरे लोगों के श्रम को, अथवा, उनके श्रम की पैदावार को, खरीदने की उसकी (जमींदार की) शक्ति में इजाफा हो जाता है।

"सुधार तथा कृषि के विस्तार से उसकी वृद्धि सीधे-सीधे होती है। पैदावार की वृद्धि के साथ-साथ पैदावार में जमींदार का हिस्सा भी अनिवार्य रूप से बढ़ जाता है।

"जमीन की प्राकृतिक पैदावार के उन अंशों की वास्तविक क़ीमत में होने वाली वृद्धि से [...], जैसे कि मवेशियों की क़ीमत में हुई वृद्धि से, भी जमीन के लगान के सीधे-सीधे, तथा और भी बड़े अनुपात में, बढ़

जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। पैदावार के वास्तविक मूल्य के स.ह-साथ न केवल जमींदार के हिस्से का वास्तविक मूल्य, दूसरे लोगों के श्रम के ऊपर उसका वास्तविक प्रभुत्व, बढ़ता-जाता है, बल्कि पूरी पैदावार में उसके भाग का अनुपात भी बढ़ता जाता है। उसकी वास्तविक क़ीमत में वृद्धि हो जाने के बाद, उस पैदावार को इकट्ठा करने के लिए पहले से अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं होती। अतः, उस कोष की—मय उसके मुनाफे के—पुनर्स्थापना करने के लिए जो श्रम को, काम पर रखता है, उसका (पैदावार का—अनु०) अपेक्षाकृत एक छोटा भाग ही पर्याप्त होगा। फलतः, उसका और भी अधिक बड़ा भाग जमींदार की जेब मे जायेगा।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २२८-२९ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १५७-५६)]

॥९॥ आंशिक रूप से आबादी के बढ़ने तथा उसकी आवश्यकताओं में होने वाली वृद्धि के कारण कच्ची पैदावार की माँग बढ़ सकती है, और, इसके फल-स्वरूप, उसके मूल्य मे भी वृद्धि हो सकती है। किन्तु प्रत्येक नये आविष्कार, कारखाने के उत्पादन-कार्य में पहले न इस्तेमाल किये गये या कम इस्तेमाल किये गये कच्चे माल के प्रत्येक नये प्रयोग के कारण लगान बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए, जब रेलों, भाप से चलने वाले जहाजों, आदि का आगमन हुआ तो कोयले की खानों के भूमिकर मे जबर्दस्त वृद्धि हो गयी थी।

कारखाने के निर्माण-कार्य, खोजों, तथा श्रम से जो फ़ायदा जमींदार उठाता है उसके अलावा एक और भी चीज है जिससे वह फ़ायदा उठाता है—जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे।

(४) "श्रम की उत्पादक शक्तियों में होने वाले वे सब सुधार—जो निर्मित मालों की वास्तविक क़ीमत को सीधे-सीधे घटाने में मदद देते हैं जमीन के वास्तविक लगान को बढ़ाने में भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होते हैं। जमींदार अपनी कच्ची पैदावार के उस भाग को, जो उसके अपने उपयोग से अधिक और अतिरिक्त होता है, अथवा—जिसका मतलब वही होता है—उस भाग की क़ीमत को, कारखानों में बने मालों से बदल लेता है। इस तरह, बाद वाली चीज (कारखानों में निर्मित मालों—अनु०) की वास्तविक क़ीमत को जो चीज घटाती है वही पहले वाली चीज (कच्ची पैदावार—अनु०) की क़ीमत को बढ़ा देती है। इस प्रकार, पहली चीज की बराबर मात्रा बाद वाली चीज की अधिक मात्रा के बराबर हो जाती है, और जमींदार को अवसर मिल जाता है कि जिन सुविधाओं, आरामों,

अथवा ऐशो-आराम की चीजों को चाहे उन्हें वह अधिक परिमाण में खरीद ले।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २२९ (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १२६)]

किन्तु इससे स्मिथ की तरह यह निष्कर्ष निकालना मूर्खतापूर्ण होगा कि चूंकि जमींदार समाज को प्राप्त होने वाले प्रत्येक लाभ का फायदा उठाता है ॥१०॥ इसलिए जमींदार का स्वार्थ हमेशा समाज के स्वार्थ से अभिन्न (identical) होता है। पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ २३० (गार्नियर, खण्ड २, पृष्ठ १६१)] निजी सम्पत्ति के शासन के नीचे चलने वाली आर्थिक व्यवस्था में, समाज में व्यक्ति की जो दिलचस्पी होती है वह उस दिलचस्पी के ठीक उल्टे अनुपात में होती है जो समाज उसमें रखता है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि अपव्ययी (फ़िजूलखर्च) व्यक्ति में सूदखोर की जो दिलचस्पी होती है वह अपव्ययी व्यक्ति के हित से किसी भी प्रकार मेल नहीं खाती।

चलते-चलते यहाँ हम केवल उस इजारेदारी (एकाधिकार) के सम्बन्ध में जमींदार की मनोग्रस्तिता का उल्लेख करेंगे जो दूसरे देशों की भू-सम्पत्ति के विरुद्ध है और जिससे, उदाहरण के लिए, अनाज के व्यापार के कानून[11] निकले थे। इसी तरह, मध्ययुगीन अर्ध-गुलामी, उपनिवेशों की गुलामी, तथा ग्रेट ब्रिटेन के गाँवों के लोगों की, (और) वहाँ के दैनिक वेतन-भोगी मजदूरों की दयनीय दशा के सम्बन्ध में भी यहाँ हम विचार नहीं करेंगे। यहाँ केवल राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रस्थापनाओं तक ही हम अपने को सीमित रखेंगे।

(१) समाज के कल्याण में जमींदार की अभिरुचि के होने का अर्थ, राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार, यह होता है कि उसकी दिलचस्पी इस बात में है कि समाज की आबादी बढ़े, कारखानों में बनने वाले माल की मात्रा बढ़े, आबादी की आवश्यकताएँ बढ़ें—संक्षेप में, समाज की धन-सम्पदा बढ़े; और, जैसा कि हम देख चुके हैं, धन-सम्पदा की इस वृद्धि के साथ-साथ दरिद्रता और दासता में भी वृद्धि होती है। मकान के बढ़ते हुए किराये और बढ़ती हुई गरीबी के बीच का सम्बन्ध—समाज में जमींदार की दिलचस्पी का एक ज्वलंत उदाहरण है, क्योंकि, किराय-जमीन (ground rent) के, उस जमीन से मिलने वाले ब्याज के साथ-साथ जिस पर मकान खड़ा है, मकान का किराया भी बढ़ जाता है।

(२) स्वयं राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार, जमींदार का स्वार्थ पट्टेदार किसान के हितों के—और इस प्रकार समाज के एक महत्त्वपूर्ण अंग के हितों के—एकदम विरुद्ध होता है।

।।११। (३) चूंकि पट्टेदार किसान (असामी—अनु०) अपने खेत मजदूरों को जितनी ही कम मजदूरी देता है जमींदार उससे उतने ही अधिक लगान की माँग कर सकता है, और चूंकि किसान मजदूरी को जितना ही और घटाता जाता है जमींदार उससे उतने ही अधिक लगान की माँग करता जाता है, इसलिए स्पष्ट है कि, जमींदार के हित खेत-मजदूरों के हितों के भी उसी तरह खिलाफ हैं जिस तरह कि कारखानेदारों के हित उनके मजदूरों के हितों के खिलाफ होते हैं।

(४) चूंकि कारखानों के बने मालों की क़ीमत में वास्तविक कमी होने से जमीन का लगान बढ़ जाता है, इसलिए जमींदार की इस बात में प्रत्यक्ष दिलचस्पी होती है कि औद्योगिक मजदूरों की मजदूरियाँ गिर जायें, पूंजीपतियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता हो, अति-उत्पादन हो, औद्योगिक उत्पादन से सम्बद्ध समस्त दुःख-दैन्य में वृद्धि हो।

(५) इस प्रकार, जमींदार के हित समाज के हित से अभिन्न होने की बात तो दूर रही, वास्तव में, एक ओर जहाँ वे पट्टेदार किसानों (असामियों), खेत-मजदूरों, कारखानों के मजदूरों तथा पूंजीपतियों के हितों के विरुद्ध होते हैं वहीं, दूसरी ओर, उस प्रतियोगिता के कारण जिस पर हम अब विचार करेंगे, एक जमींदार का हित भी दूसरे जमींदार के हित से मेल नहीं खाता।

आमतौर से बड़ी और छोटी भू-सम्पत्ति का आपसी सम्बन्ध बड़ी और छोटी पूंजी के आपसी सम्बन्ध के ही समान होता है। किन्तु, इसके अतिरिक्त भी ऐसी विशेष परिस्थितियाँ होती हैं जिनके परिणामस्वरूप, अनिवार्य रूप से, बड़ी भू-सम्पत्ति का एकत्रीकरण तथा छोटी सम्पत्ति का उसके द्वारा आत्मसात्करण हो जाता है।

।।१२। (१) अन्य किसी भी क्षेत्र में मूलधन (स्टॉक) के आकार में वृद्धि के साथ मजदूरों और उपकरणों की संख्या सापेक्ष रूप से इतनी नहीं घटती जाती जितनी की भू-सम्पत्ति के क्षेत्र में। इसी प्रकार, चौमुखी शोषण करने, उत्पादन के खर्चे में मितव्ययता करने, तथा श्रम का प्रभावी ढंग से विभाजन करने की सम्भावना अन्य कहीं भी मूलधन (स्टॉक) के आकार के साथ-साथ इतनी नहीं बढ़ती जाती जितनी कि भू-सम्पत्ति के क्षेत्र में। कोई खेत कितना भी छोटा क्यों न हो, उसे जोतने-बोने के लिए कुछ न्यूनतम इतने उपकरणों (हल, आरी, आदि) की, जिनकी संख्या को घटाया नहीं जा सकता, आवश्यकता होती है, किन्तु भू-सम्पत्ति के रक़बे को इस न्यूनतम आकार से भी कम किया जा सकता है।

(२) बड़ी भू-सम्पत्ति उस पूंजी के ब्याज को, जिसे जमीन की उन्नति करने के लिए पट्टेदार किसान (असामी) ने उसमें लगाया है, स्वयं आत्मसात कर लेती है। छोटी भू-सम्पत्ति को स्वयं अपनी पूंजी लगानी पड़ती है, इसलिए उसे यह मुनाफा बिल्कुल नहीं प्राप्त होता।

(३) प्रत्येक सामाजिक सुधार से जहाँ बड़ी जागीर (भू सम्पत्ति) को फ़ायदा पहुंचता है, वहीं छोटी सम्पत्ति को उससे नुकसान पहुंचता है—क्योंकि उससे नक़द मुद्रा की उसको आवश्यकता बढ़ जाती है।

(४) इस प्रतियोगिता से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण नियमों पर विचार करना बाकी है :

(क) उस कृष्ट* (जोती-बोई) जमीन का लगान, जिस पर मनुष्य का आहार पैदा होता है, अन्य कृष्ट जमीन के अधिकांश भाग के लगान को नियमित करता है। [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १८४ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३३१)]

अन्ततोगत्वा, बड़ी जागीर ही मवेशियों जैसे खाद्य पदार्थों को पैदा कर सकती है। इसलिए वही दूसरी जमीनों के लगान को वि-नियमित करती है और उसे घटाकर न्यूनतम सीमा तक पहुंचा दे सकती है।

तब फिर स्वयं अपनी जमीन पर खेती करने वाले छोटे भूस्वामी का बड़े भूस्वामी के साथ वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि स्वयं अपना औजार रखने वाले किसी कारीगर का फैक्टरी के मालिक के साथ सम्बन्ध होता है। छोटी भू-सम्पत्ति श्रम का मात्र एक उपकरण (साधन) बन गयी है। ॥१६।" छोटे स्वामी के लिए लगान पूर्णतया समाप्त हो जाता है; उसके लिए अधिक से अधिक उसकी पूंजी का ब्याज और उसकी मजदूरी ही बच पाते हैं। क्योंकि, प्रतियोगिता के द्वारा लगान को इतना कम करवा दिया जा सकता है कि वह उस पूंजी के ब्याज से रत्ती भर भी अधिक न रह जाय जिसे उसके मालिक ने नहीं लगाया है।

(ख) इसके अतिरिक्त, इस बात को हम पहले ही देख चुके हैं कि जमीनों, खानों और मछली पकड़ने के क्षेत्रों की उर्वरता यदि बराबर हो, और एक ही जैसी कार्य-कुशलता से उनका समुपयोजन (exploitation) किया जाय, तो उनकी पैदावार पूंजी के परिमाण के अनुपात में होती है। अतः, जीत बड़े भूस्वामी की

---

* पाण्डुलिपि में "कृष्ट" के बजाय "पैदा किये गये" लिखा है।—सं०

ही होती है। इसी प्रकार, लगायी जाने वाली पूँजियों की मात्रा जहाँ बराबर होती है वहाँ पैदावार उर्वरता के अनुपात में होती है। अतः, पूँजियाँ जहाँ बराबर होती हैं वहाँ जीत अधिक उर्वर भूमि के स्वामी के हाथ लगती है।

(ग) "किसी भी क़िस्म की खदान को इस बात के आधार पर उर्वर अथवा अनुर्वर (वन्ध्य) कहा जा सकता है कि श्रम की एक निश्चित मात्रा द्वारा उसके अन्दर से खनिज की जो मात्रा निकाली जा सकती है वह उस मात्रा से अधिक या कम होती है जिसे, श्रम की उतनी ही मात्रा से, उसी किस्म की दूसरी अधिकांश खदानों से निकाला जा सकता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १५१ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३४५-४६)]

"कोयले की सबसे उर्वर खदान अपने पास-पड़ोस की दूसरी सभी खदानों के कोयलों* की क़ीमत को भी विनियमित करती है। मालिक और काम का उपक्रमी (undertaker) दोनों देखते हैं कि अपने समस्त पड़ोसियों के मुकाबले में कुछ सस्ता बेच कर उनमें से एक तो अधिक लगान प्राप्त कर सकता है और दूसरा अधिक मुनाफ़ा कमा सकता है। जल्दी ही उनके पड़ोसी भी उसी क़ीमत पर बेचने के लिए बाध्य हो जाते हैं, यद्यपि ऐसा करने की उनमें सामर्थ्य नहीं होती, और यद्यपि इसकी वजह से हमेशा ही उनका लगान और उनका मुनाफ़ा दोनों ही घट जाते हैं, और कभी-कभी वे (लगान और मुनाफ़ा–अनु०) बिल्कुल ही खत्म हो जाते हैं। कुछ कामों को बिल्कुल तिलांजलि दे दी जाती है; दूसरों में लगान देने की क्षमता नहीं होती, और उन्हें केवल मालिक ही चला सकता है।" [एडम स्मिथ, पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १५२-५३ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३५०)]

"पेरू की खदानों की खोज के बाद, यूरोप की चाँदी की अधिकांश खदानों का परित्याग कर दिया गया था ... ...। यही हश्र क्यूबा तथा सेन्ट डोमिन्गो की खदानों का हुआ था, और पोटोसी की खदानों की खोज के बाद पेरू की पुरानी खदानों की भी यही स्थिति हो गयी थी।" [पूर्वोद्धृत रचना, पृष्ठ १५४ (गार्नियर, खण्ड १, पृष्ठ ३५३)]

खदानों के सम्बन्ध में स्मिथ ने यहाँ जो कुछ कहा है वही न्यूनाधिक मात्रा में आम तौर से भू-सम्पत्ति के सम्बन्ध में लागू होता है :

* पाण्डुलिपि में "कोयलों" के बजाय "खदान" लिखा हुआ है।—सम्पादक

"देखा जाता है कि भूमि का साधारण बाजार मूल्य हर जगह सूद की साधारण बाजार दर पर निर्भर करता है ... भूमि का लगान यदि मुद्रा (रुपये) के सूद से काफी अधिक घट जायेगा तो भूमि को कोई नहीं खरीदेगा जिससे कि उसका भी साधारण मूल्य जल्दी ही गिर जायेगा। इसके विपरीत, उससे होने वाले लाभ यदि उसके अन्तर से अधिक होंगे तो हर आदमी भूमि खरीदेगा जिससे कि उसका साधारण मूल्य फिर जल्दी ही बढ़ जायेगा।" [पूर्वोद्धृत रचना पृष्ठ ३२० (गानियर, खण्ड २, पृष्ठ ३६७-३६८)]

रुपये के सूद के साथ भूमि के लगान के सम्बन्ध से स्पष्ट है कि यह अनिवार्य है कि लगान अधिकाधिक घटता जावे। इसके फलस्वरूप, अन्त में केवल सबसे धनी लोग ही लगान के सहारे जीवन-यापन कर सकेंगे। इसीलिए उन भू-स्वामियों के बीच जो अपनी जमीन काश्तकारों (रैयत) को पट्टे पर नहीं उठाते प्रतियोगिता निरन्तर बढ़ती जाती है। उनमें से कुछ तबाह हो जाते हैं; (दूसरी ओर—अनु०) बड़े पैमाने की भू-सम्पत्ति का और अधिक सचयन (हो जाता है—अनु०)।

॥१७॥ इस प्रतियोगिता का एक परिणाम यह भी होता है कि भू-सम्पत्ति का एक बड़ा भाग पूंजीपतियों के हाथों में पहुंच जाता है और इस प्रकार पूंजीपति साथ ही साथ भू-स्वामी भी बन जाते हैं—ठीक उसी तरह जिस तरह कि छोटे भू-स्वामी मोटे तौर से पूंजीपतियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। इसी प्रकार, बड़े भू-स्वामियों का एक भाग साथ ही साथ उद्योगपति बन जाता है।

अन्तिम परिणाम, इस प्रकार, इसका यह होता है कि पूंजीपति और भू-स्वामी के बीच का अन्तर मिट जाता है, जिससे कि आखिर में जनसंख्या के केवल दो वर्ग रह जाते हैं मजदूर वर्ग और पूंजीपतियों का वर्ग। भू-सम्पत्ति के इस मोल-तोल का, भू-सम्पत्ति के एक माल में रूपान्तरित हो जाने का, अन्तिम परिणाम यह होता है कि पुराने का तख्ता उलट जाता है और रुपये के अभिजात वर्ग की सत्ता की अन्तिम तौर से स्थापना हो जाती है।

(१) इस सम्बन्ध में रोमान्सवादियों द्वारा जो भावुकतापूर्ण आंसू बहाये जाते हैं उनमें हम नहीं सम्मिलित होंगे। रोमान्सवादी सदा ही भूमि के मोल-तोल की निर्लज्जता का उसके पूर्णतया तर्कपूर्ण उस परिणाम के साथ, जो कि निजी सम्पत्ति के क्षेत्र में अनिवार्य तथा वाछनीय है, भूमि में निहित निजी सम्पत्ति के मोल-तोल के साथ घालमेल कर देते हैं। सबसे पहले तो, सामन्ती

भू-सम्पत्ति अपने स्वभाव से ही पहले ही से गोन-शोध की हुई भूमि होती है—वह, वह भूमि होती है जो मनुष्य से विलग हो गयी है और इसलिए उसके मुकाबले में कुछ बड़े-बड़े भू-स्वामियों के रूप में आ खड़ी होती है।

एक गैर बाहरी) शक्ति के रूप में मनुष्यों के ऊपर भूमि के आधिपत्य की बात तो सामन्ती भू-सम्पत्ति में पहले से ही निहित होती है। अर्ध-दास भूमि से बंधा रहता है। इसी प्रकार, उत्तराधिकार में प्राप्त भू-सम्पत्ति (जागीर) का स्वामी, सबसे बड़ा बेटा भी भूमि से बंधा रहता है। भूमि उसे दाय (उत्तराधिकार) में प्राप्त करती है। वास्तव में निजी सम्पत्ति के आधिपत्य का प्रारम्भ ही भू-सम्पत्ति से होता है—वही उसका आधार है। किन्तु सामन्ती भू-सम्पत्ति की व्यवस्था में स्वामी कम से कम जागीर के राजा के रूप में तो सामने आता है। इसी तरह, मालिक और भूमि के बीच का सम्बन्ध मात्र भौतिक सम्पदा के सम्बन्ध से आज भी कुछ अधिक घनिष्ट प्रतीत होता है। जागीर अपना वैशिष्ट्य प्राप्त करती है अपने स्वामी के कारण : वह उसी का पद धारण करती है, वह उसी के अनुरूप बैरन या ड्यूक की रियासत होती है, उसके विशेषाधिकार उसी के विशेषाधिकार होते है उसका अधिकार-क्षेत्र, उसकी राजनीतिक हैसियत, आदि उसी के अधिकार-क्षेत्र, उसीकी राजनीतिक हैसियत, आदि पर आधारित होते है। वह अपने स्वामी (प्रभू) का प्राण-हीन शरीर प्रतीत होती है। इसीलिए कहावत बनी है कि nulle terre sons maitra*—जो कि अभिजात वर्ग तथा भू सम्पत्ति के सलयन (fusion) को व्यक्त करती है। इसी प्रकार, भू-सम्पत्ति का शासन सीधे-सीधे मात्र पूंजी के शासन के रूप में सामने नहीं आता। उसके साथ जिनका सम्बन्ध होता है उनके लिए जागीर उनकी पितृ-भूमि के समान होती है। वह उनकी एक प्रकार की सीमित राष्ट्रीयता होती है।

।।१८। ठीक इसी प्रकार, सामन्ती भू-सम्पत्ति अपने स्वामी को अपना नाम दे देती है, वैसे ही जैसे कि एक राज्य अपने राजा को अपना नाम दे देता है। उसके परिवार का इतिहास, उसके घराने का इतिहास, आदि—ये सब चीजें जागीर का व्यक्तिगत रूप से उसके लिए (निर्दिष्टीकरण) कर देती हैं और अक्षरशः उसे उसका घर बना देती है, उसका मानवीकरण कर देती हैं। इसी प्रकार, जागीर में काम करने वाले लोगों की हैसियत दैनिक-मजदूरों की नहीं होती; बल्कि, वे आंशिक रूप से स्वयं उसकी उसी तरह सम्पत्ति होते हैं जिस

---

* स्वामी के बिना कोई जमीन नहीं।—सम्पादक

तरह कि अर्ध-दास (उसकी सम्पत्ति) होते हैं; और, आंशिक रूप से, वे उसके प्रति सम्मान, स्वामिभक्ति तथा, कर्तव्य के बन्धनों से बंधे रहते हैं। अतएव, उनके साथ उसका सम्बन्ध सीधा-सीधा राजनीतिक होता है, और, इसके अतिरिक्त, उसका एक मानवीय, दिली (intimate) पक्ष भी होता है। एक जागीर के रीति-रिवाज, चरित्र, आदि दूसरी जागीर के रीति-रिवाज, चरित्र, आदि से भिन्न होते हैं और उस प्रदेश के अनुरूप प्रतीत होते हैं जिसके साथ उनका सम्बन्ध होता है; यद्यपि, बाद में, जो चीज़ किसी मनुष्य को किसी जागीर के साथ जोड़ती है वह उसका चरित्र, उसका व्यक्तित्व नहीं, बल्कि उसकी थैली होती है। अन्तिम बात यह है कि सामन्ती स्वामी अपनी भूमि से अधिकतम लाभ कमाने की कोशिश नहीं करता। इसके विपरीत, जो कुछ उसे मिलता है उसका वह उपभोग करता है और उत्पादन की चिन्ता करने का काम शान्त भाव से वह अपने अर्ध-दासों तथा काश्तकारों के ज़िम्मे छोड़ देता है। सामन्ती अभिजात वर्ग का भू-सम्पत्ति के साथ ऐसा ही सम्बन्ध होता है, यह उसके स्वामियों को एक भावुकतापूर्ण गौरव-भाव से मण्डित कर देता है।

आवश्यक है कि इस दिखावे का अन्त कर दिया जाय—कि भू-सम्पत्ति को, जो कि निजी सम्पत्ति का मूल है, पूरे तौर से निजी सम्पत्ति के व्यापार-चक्र में घसीट लाया जाय और उसे एक माल बना दिया जाय, मालिक का शासन, सभी राजनीतिक रंग-रोग़न से मुक्त होकर निजी सम्पत्ति के, पूँजी के खुले शासन के रूप में सामने आ जाय; मालिक और मज़दूर के सम्बन्ध को शोषक और शोषित के असली आर्थिक सम्बन्ध में बदल दिया जाय; मालिक और उसकी सम्पत्ति के बीच के समस्त [.]* वैयक्तिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया जाय जिससे कि सम्पत्ति मात्र एक वस्तुगत, भौतिक सम्पदा के रूप में सामने आ जाय; भूमि के साथ प्रतिष्ठा के विवाह का स्थान सुविधा के विवाह को दे दिया जाय; और भूमि भी, मनुष्य की ही भाँति, नीचे गिर कर एक व्यावसायिक मूल्य की हैसियत में पहुंच जाय। आवश्यक है कि वह चीज़ भी—जो कि भू-सम्पत्ति का मूल है—घिनौना स्वार्थ—खुलकर अपने मानव-द्वेषी रूप में सामने आ जाय। आवश्यक है कि अचल एकाधिकारिता (इजारेदारी) चल तथा चपल एकाधिकारिता में, प्रतियोगिता में, परिवर्तित हो जाय; और दूसरों के ख़ून और पसीने की पैदावारों का निठल्ले ढंग से रसास्वादन करने की व्यवस्था उसी भाग

---

* .. पाण्डुलिपि में इस जगह प्रयुक्त किये गये शब्द को पढ़ा नहीं जा सकता। —सम्पादक

के कोलाहलपूर्ण व्यापार में बदल जाय। अन्त में, आवश्यक है कि इस प्रतियोगिता में, पूँजी के रूप में भू-सम्पत्ति मजदूर वर्ग तथा उन मालिकों दोनों के ऊपर अपने आधिपत्य के रूप में प्रकट हो जाय जो पूँजी के परिवर्तन के नियमों के कारण या तो स्वयं तबाह होते जा रहे हैं, या तरक्की करते जा रहे हैं। इस प्रकार, इस मध्ययुगीन कहावत, "nulle terre sans seigneur" (प्रभु के बिना कोई भूमि नहीं) की जगह एक दूसरी कहावत ने, "l'argent n'a pas de maître" (स्वामी के कदम बढ़ाये बिना कोई रुपया नहीं) ले ली है—जो कि मनुष्य के ऊपर मृत भूत के सम्पूर्ण आधिपत्य को अभिव्यक्त करती है।

॥१९॥ (२) भू-सम्पत्ति के विभाजन अथवा अविभाजन से सम्बन्धित तर्क के विषय में निम्न चीज देखने को मिलती है।

भू सम्पत्ति का विभाजन भू-सम्पत्ति की बड़े पैमाने की एकाधिकारिता (इजारेदारी) का निषेध कर देता है—उसका उन्मूलन कर देता है; किन्तु (ऐसा वह–अनु०) इस एकाधिकार का सामान्यीकरण (generalising) करके ही करता है। वह एकाधिकार के स्रोत का, निजी सम्पत्ति का, उन्मूलन नहीं करता। वह एकाधिकार के मौजूदा स्वरूप पर हमला करता है, उसके मूल तत्व पर नहीं। फल यह होता है कि वह निजी-सम्पत्ति के नियमों का शिकार हो जाता है, क्योंकि भू-सम्पत्ति का विभाजन उद्योग के क्षेत्र में चलने वाली प्रतियोगिता के ही समान होता है। श्रम के औजारों के इस प्रकार के विभाजन तथा श्रम के बिखराव (dispersal) से [जो कि श्रम के विभाजन से स्पष्ट रूप से भिन्न होता है: पृथक्कृत (विच्छेदित–अनु०) श्रम की व्यवस्था में काम का बँटवारा अनेक लोगों के बीच नहीं होता, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति उसी काम को अकेले-अकेले करता रहता है, उसी काम का बहुगुणन (multiplication) हो जाता है] जो आर्थिक नुकसान होते हैं उसके अलावा, [भूमि का] यह विभाजन, [उद्योग के क्षेत्र में होने वाली] उस प्रतियोगिता की ही भाँति, अनिवार्य रूप से फिर संचयन (accumulation) का रूप ग्रहण कर लेता है।

अतः, भू-सम्पत्ति का जहाँ भी विभाजन होता है वहाँ उसके सामने इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता कि वह और भी विषालु (malignant) रूप में एकाधिकारिता की तरफ लौट जाये, अथवा भू-सम्पत्ति के विभाजन का ही निषेध कर दे, उसका उन्मूलन कर दे। परन्तु, ऐसा करने का अर्थ सामन्ती स्वामित्व की व्यवस्था की ओर लौटना नहीं, बल्कि भूमि में निजी सम्पत्ति का ही पूर्ण उन्मूलन कर देना होता है। एकाधिकार का प्रथम उन्मूलन सदैव उसके सामान्यीकरण के रूप में, उसके अस्तित्व के विस्तीर्णीकरण के रूप में व्यक्त होता

है। एकाधिकार के, उसके अधिकतम विस्तृत तथा अभिव्याप्त रूप में, एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद, उन्मूलन का अर्थ उसका पूर्ण विनाश होता है। मिल-जुल कर काम करने की व्यवस्था भूमि पर जब लागू की जाती है तभी उसे बड़े पैमाने की भू-सम्पत्ति से होने वाला आर्थिक लाभ प्राप्त होता है, और उसके सर्वप्रथम* [भूमि के] विभाजन में अंतर्निहित मूल प्रवृत्ति, समानता की प्रवृत्ति प्रतिफलित होती है। इसी भाँति, मेल-जोल सम्पत्ति के सर्वाधिपत्य (overlordship) तथा मूर्खतापूर्ण रहस्यवाद को, धरती के साथ मनुष्य के अन्तरंग सम्बन्धों को भी पुनःस्थापना—अब अर्ध-दास व्यवस्था की मध्यस्थता से मुक्त—एक तर्कशील आधार पर कर देता है; क्योंकि धरती अब मोल-तोल की वस्तु नहीं रह जाती तथा, मुक्त श्रम और मुक्त उपभोग के माध्यम से, एक मर्तबा फिर मनुष्य की सच्ची व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है। भू-सम्पत्ति के विभाजन का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि जन-समुदाय—जो अब गुलामी की अवस्था को नहीं स्वीकार कर सकते, सम्पत्ति के माध्यम से उससे भिन्न ढंग से बर्बाद होते हैं जिससे कि उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में वे बर्बाद होते हैं।

जहाँ तक बड़े पैमाने की भू-सम्पत्ति का सम्बन्ध है, उसके पक्ष-पोषकों ने कूट तर्क देकर सदा ही बड़े पैमाने की खेती से होने वाले आर्थिक लाभों को बड़े पैमाने की भू-सम्पत्ति से अभिन्न सिद्ध किया है, जैसे कि यह बात (स्पष्ट-अनु०) न हो कि, एक तो, यह लाभ वास्तव में सम्पत्ति के उन्मूलन के परिणामस्वरूप ही ॥२०॥ सर्वाधिक बड़े रूप में प्राप्त हो सकेगा, और, दूसरे, समाज के लिए भी वह केवल तभी कल्याणकारी होगा। इसी प्रकार से, छोटी भू-सम्पत्ति की मोल-तोल करने की भावना पर भी उन्होंने प्रहार किया है—जैसे कि बड़ी भू-सम्पत्ति में—उसके उस आधुनिक अंग्रेजी स्वरूप की तो बात ही क्या करना—जिसके अन्दर भूस्वामी के सामन्तवाद का असामी किसान के मोल-तोल और उद्योग का सम्मिश्रण होता है—उसके सामन्ती स्वरूप में भी मोल-तोल की भावना छिपी मौजूद न रहती हो।

जिस तरह कि बड़ी भू-सम्पत्ति विभक्त भूमि द्वारा उसके विरुद्ध लगाये जाने वाले एकाधिकार के अभियोग को लौटा कर स्वयं उसके ऊपर यही अभियोग लगा सकती है—क्योंकि विभक्त भूमि भी निजी सम्पत्ति के एकाधिकार पर ही आधारित होती है, उसी तरह विभक्त भू-सम्पत्ति भी बड़ी भू-सम्पत्ति के

* पाण्डुलिपि में "सर्वप्रथम" (erst) शब्द को साफ-साफ पढ़ा नहीं जा सकता।—स०

ऊपर विभाजन का दोषारोपण कर सकती है;—क्योंकि, उसके अन्दर भी, यद्यपि कठोर और जड़ीभूत रूप में, विभाजन प्रचलित होता है। दरअसल, निजी-सम्पत्ति पूर्णतया विभाजन पर ही आधारित होती है। इसके अतिरिक्त, जिस तरह कि भूमि के विभाजन से, पूंजीगत धन के रूप में, पुनः बड़ी भू-सम्पत्ति की स्थापना हो जाती है, उसी तरह यह भी आवश्यक है कि सामन्ती भू-सम्पत्ति का विखण्डन हो जाय, अथवा, वह चाहे जितना सिर पटके, कम से कम पूंजीपतियों के हाथ में वह पहुंच जाय।

क्योंकि बड़ी भू-सम्पत्ति अनिवार्य रूप से—इंगलैण्ड की ही तरह—जनसंख्या के विशाल बहुमत को ढकेल कर उद्योग-धन्धों की गोद में फेंक देती है और स्वयं अपने मजदूरों को अत्यधिक दीनता की स्थिति में पहुंचा देती है। इस प्रकार, गरीब लोगों तथा देश की सम्पूर्ण क्रियाशीलता को दूसरी तरफ़ ढकेल कर, यह (बड़ी भू-सम्पत्ति–अनु०) अपने शत्रु की, पूंजी की, उद्योग-धन्धों की शक्ति को जन्म देती है और उसका विस्तार करती है। देश के अधिकांश लोगों को वह औद्योगिक और, इस प्रकार, बड़ी भू-सम्पत्ति का विरोधी बना देती है। उद्योग-धन्धो ने जहां महाशक्ति प्राप्त कर ली है—जैसे कि वर्तमान काल में उन्होंने इंगलिस्तान में प्राप्त कर ली है—वहां बड़ी भू-सम्पत्ति से बाहरी देशों* के विरुद्ध उसके एकाधिकार का अधिकाधिक मात्रा में वे अपहरण करते जाते हैं और उसे विवश कर देते हैं कि वह विदेशों की भू-सम्पत्ति के साथ प्रतियोगिता करे। क्योंकि, उद्योग-धन्धों के दबदबे के सामने, बाहरी देशों के विरुद्ध अपनी सामन्ती शान-शौकत को भू-सम्पत्ति एकाधिकारों के माध्यम से ही बनाये रख सकती है, (और) इस तरह व्यापार के उन आम नियमों से, जो कि उसके सामन्ती स्वरूप के साथ मेल नहीं खाते, अपने को वह सुरक्षित बनाये रख सकती है। प्रतियोगिता के भंवर में एक बार फंस जाने के बाद, प्रतियोगिता के शासनाधीन प्रत्येक अन्य माल की ही तरह, भू-सम्पत्ति भी प्रतियोगिता के नियमों का अनुपालन करने लगती है। अस्तु, उसका घटना-बढ़ना, घटना और बढ़ना, एक के पास से दूसरे के पास चली जाना आरम्भ हो जाता है; और अब कोई भी कानून उसे इने-गिने पूर्व-निर्दिष्ट लोगों के पास नहीं बनाये रख सकता। ॥२१॥ इसका तात्कालिक परिणाम यह होता है कि भूमि बंटकर अनेक लोगों के पास पहुंच जाती है और हर हालत में वह औद्योगिक पूंजियों की शक्ति के अधीन हो जाती है।

* पहले "बाहरी देशों के एकाधिकार के विरुद्ध" लिखा गया था, बाद में "के एकाधिकार" को मार्क्स ने काट दिया था।—स०

अन्ततोगत्वा, बड़ी भू-सम्पत्ति, जिसे इस तरह से जबर्दस्ती बचाये रखा गया है और जिसने अपने साथ एक जबर्दस्त उद्योग को खड़ा कर लिया है, उस भूमि के विभक्तीकरण की अपेक्षा—जिसके साथ उद्योग की शक्ति हमेशा गौण ही बनी रहती है, और भी अधिक शीघ्रता से संकट पैदा कर देती है।

बड़ी भू-सम्पत्ति जैसा कि इगलिस्तान में हम देखते हैं, अपने सामन्ती स्वरूप का परित्याग कर चुकी है और इस अर्थ में उसने औद्योगिक जामा पहन लिया है कि उसका लक्ष्य अब अधिक से अधिक रुपया कमाना हो गया है। उसके मालिक को उससे अधिक से अधिक सम्भव लगान प्राप्त होता है, असामी किसान (रैयत) को उसकी पूंजी पर अधिकतम सम्भव मुनाफ़ा मिलता है। इसके फलस्वरूप, भूमि पर काम करने वाले मजदूरों की संख्या न्यूनतम हो गयी है और असामी काश्तकार (tenant farmers) भू-सम्पत्ति के क्षेत्र में उद्योग और पूंजी की सत्ता का प्रतिनिधित्व करने लगे हैं। विदेशी प्रतियोगिता के फलस्वरूप, लगान अब अधिकांश स्थानों पर स्वतन्त्र आय का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। भू-स्वामियों की भारी संख्या असामी काश्तकार (या रैयत-अनु०) बनने के लिए विवश हो गयी है; इस प्रकार उनमें से कुछ [······]* सर्वहारा बन जाते हैं। दूसरी तरफ, अनेक असामी काश्तकार भू-सम्पत्ति खरीद लेते हैं, क्योंकि उनके बड़े-बड़े मालिक अपनी निश्चित आमदनियों के कारण अधिकांशतया फिजूल-खर्ची के शिकार हो जाते हैं और ज्यादातर इस योग्य भी नहीं होते कि बड़े पैमाने की खेती कर सकें, बहुधा उनके पास भूमि का समुपयोजन करने के लिए न तो पूंजी होती है न उसकी क्षमता। इसलिए, इस वर्ग का भी एक भाग पूरे तौर से बर्बाद हो जाता है। अन्त में, नयी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि मजदूरी को, जो कि पहले ही घटाकर न्यूनतम की जा चुकी है, और भी अधिक घटाया जाय। इसमें, अनिवार्य रूप से, क्रांति का जन्म होता है।

भू-सम्पत्ति के लिए आवश्यक था कि उसका इन दोनों ही तरीकों से विकास हो जिससे कि दोनों ही के द्वारा वह अपने अनिवार्य पतन का अनुभव कर सके—ठीक उसी तरह जिस तरह कि उद्योग के लिए आवश्यक था कि एकाधिकार तथा प्रतियोगिता दोनों ही के माध्यम से वह अपने को तबाह करे, ताकि वह मनुष्य में विश्वास करना सीख सके।२१॥

---

* यहां पाण्डुलिपि का एक शब्द पढ़ा नहीं जा सकता।—सं०

[पृथक्कृत श्रम*]

।।२२। अभी हमने राजनीतिक-अर्थशास्त्र के पक्ष से विचार किया है। उसकी भाषा और उसके नियमों को हमने मान लिया है। निजी संपत्ति की, श्रम, पूंजी और भूमि की, तथा मजदूरी, पूंजी के मुनाफ़े और भूमि के लगान के विलगाव की (तथा), इसी तरह, श्रम के विभाजन, प्रतियोगिता, विनिमय-मूल्य, आदि की अवधारणाओं को हमने पहले से ही स्वीकार कर लिया था। राजनीतिक अर्थशास्त्र के ही आधार पर, स्वयं उसके ही शब्दों में, हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि मजदूर नीचे गिरकर माल के स्तर पर पहुंच जाता है; और, वास्तव में, सबसे घटिया माल बन जाता है; कि मजदूर की दुर्दशा उसके उत्पादन की शक्ति और मात्रा के उलटे (विलोम) अनुपात में होती है; कि प्रतियोगिता का अनिवार्य परिणाम पूंजी का थोड़े से हाथों में जमा हो जाना और, इस भांति, एकाधिकार की और भी भयावह रूप मे पुनःस्थापना हो जाना होता है; और, यह कि, अन्त में, भूमि के जोतने वाले तथा कारखाने के मजदूर के बीच के भेद की ही तरह, पूंजीपति और लगान के उपजीवी (rentier) के बीच का भी अन्तर मिट जाता है और पूरा समाज अवश्यम्भावी रूप से सम्पत्ति के स्वामियों तथा सम्पत्ति-विहीन मजदूरों के दो वर्गों में विभक्त हो जाता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति को मान कर चलता है; वह हमें उसके बारे में समझाता नहीं। आम, अमूर्त, सूत्रों के माध्यम से वह उस भौतिक प्रक्रिया को बतलाता है जिसमें से निजी-सम्पत्ति यथार्थ में गुजरती है, और फिर इन्हीं सूत्रों को वह नियम मान लेता है। इन नियमों को वह समझाता नहीं, अर्थात् वह यह नहीं स्पष्ट करता कि किस प्रकार वे निजी सम्पत्ति की प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। श्रम और पूंजी, तथा पूंजी और भूमि के विभाजन के कारण पर राजनीतिक अर्थशास्त्र कोई प्रकाश नहीं डालता। उदाहरण के लिए, जब वह मजदूरी और मुनाफ़े के सम्बन्ध को बतलाता है तब वह पूंजीपतियों के हित को ही चरम सत्य मान लेता है, अर्थात् उस चीज को वह पहले से ही सच मान लेता है जिसकी उसे व्याख्या करनी है। इसी प्रकार, प्रतियोगिता हर जगह आ जाती है। उसे बाह्य परिस्थितियों के आधार पर समझाया जाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं सिखलाता कि ये बाह्य तथा ऊपरी तौर से आकस्मिक मालूम पड़ने वाली परिस्थितियां किस हद तक विकास के एक आवश्यक क्रम की ही अभिव्यक्ति हैं। हम देख चुके हैं कि विनिमय स्वयं उसे एक आकस्मिक

---

* Estranged Labour—अनु०

चीज ही लगती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल लोभ और लोभियों के बीच के युद्ध के—प्रतियोगिता* के—चाकों को ही चालू करता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र चूँकि यह नहीं समझता कि यह सचलन किस तरह परस्पर जुड़ा हुआ है इसीलिए, उदाहरण के लिए, यह सम्भव हुआ कि प्रतियोगिता के सिद्धान्त को एकाधिकार के सिद्धान्त के मुकाबले में, शिल्पों (दस्तकारियों) की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को शिल्प-संघ के सिद्धान्त के मुकाबले में, भू-सम्पत्ति के विभाजन के सिद्धान्त को बड़ी जागीर के सिद्धान्त के मुकाबले में रखा जा सका—क्योंकि प्रतियोगिता, शिल्पों की स्वतन्त्रता तथा भू-सम्पत्ति के विभाजन को एकाधिकार, शिल्प-संघ प्रणाली, तथा सामन्ती सम्पत्ति के मात्र आकस्मिक, पूर्व-चिन्तित तथा हिंस्र परिणामों के रूप में ही समझाया और समझा गया था—उनके आवश्यक, अनिवार्य और स्वाभाविक परिणामों के रूप में नहीं।

इसलिए आवश्यक है कि अब हम निजी-सम्पत्ति, लोभ, श्रम, पूंजी तथा भू-सम्पत्ति के बिलगाव के अन्तर्निहित सम्बन्ध को : विनिमय और प्रतियोगिता, मूल्य तथा मानवों के अवमूल्यन, एकाधिकार तथा प्रतियोगिता, आदि के आपसी सम्बन्ध को—इस पूरे अलगाव (पृथक्करण) और मुद्रा प्रणाली के बीच के सम्बन्ध को—अच्छी तरह हृदयंगम कर लें।

समझाने की कोशिश करते समय राजनीतिक अर्थशास्त्री जिस तरह एक मनगढ़न्त आदिकालिक दशा का सहारा लेता है उस तरह हमें नहीं करना चाहिए। इस तरह की आदिकालिक दशा से किसी बात का जवाब नहीं मिलता : वह केवल प्रश्न को एक धूम्रवर्णी नीहारिका जैसी दूरी के गर्भ में ढकेल देता है। जिस घटित व्यापार का, अर्थात्, दो वस्तुओं के बीच के आवश्यक सम्बन्ध का—उदाहरण के लिए, श्रम और विनिमय के विभाजन के बीच के सम्बन्ध का—उसे पता लगाना है उसे ही अर्थशास्त्री एक सचाई मान लेता है। ठीक इसी तरह मानव के पतन की बात कह कर धर्मशास्त्री पाप के आदि कारण की व्याख्या करता है : अर्थात् जिस चीज को समझाया जाना है उसे ही, ऐतिहासिक रूप में, वह एक सचाई मान लेता है!

हम एक वास्तविक आर्थिक सचाई के आधार पर विचार करें।

* पाण्डुलिपि में इस परिच्छेद के बाद निम्न वाक्य को काट दिया गया है : "अब हमें सम्पत्ति के इस भौतिक संचलन की जाँच-पड़ताल करनी है।"

—सम्पादक

मजदूर जितना ही अधिक धन पैदा करता है, शक्ति और मात्रा में उसके द्वारा किये गये उत्पादन में जितनी ही अधिक वृद्धि होती है, वह उतना ही अधिक गरीब होता जाता है। मजदूर जितने ही अधिक मालों की सृष्टि करता है निरन्तर उतना ही अधिक सस्ता माल वह खुद बनता जाता है। मानवों की दुनिया का अवमूल्यन वस्तुओं की दुनिया के बढ़ते हुए मूल्य के सीधे अनुपात में होता है। श्रम केवल मालों को ही नहीं पैदा करता; वह स्वयं अपने को और मजदूर को भी एक माल के रूप में पैदा करता है—और इस कार्य को भी वह उसी गति से करता है जिस गति से वह आम मालों का उत्पादन करता है।

यह सचाई केवल इस बात को स्पष्ट करती है कि वह वस्तु जिसे श्रम पैदा करता है—श्रम की पैदावार—स्वयं उसके मुकाबले में एक गैर (परकीय) चीज के रूप में, पदा करने वाले (उत्पादक) से स्वतन्त्र शक्ति के रूप में, आ खड़ी होती है। श्रम की पैदावार (उत्पत्ति–अनु०) वह श्रम है जिसे एक वस्तु के रूप में मूर्तिमान कर दिया गया है, जिसने भौतिक रूप ग्रहण कर लिया है, वह श्रम का अंगीभूतकरण (objectification) है। उसका अंगीभूतकरण श्रम की आत्म-सिद्धि है। इन आर्थिक परिस्थितियों के अन्तर्गत, श्रम की यह आत्म-सिद्धि मजदूरों" की आत्म-सिद्धि के लोप के रूप में; (उसका) अंगीभूतकरण अंग (वस्तु–अनु०) के लोप तथा उसकी दासता के रूप में; आत्मसातकरण (अधि-करण–अनु०) पृथक्करण (estrangement) के रूप में, परकीयकरण" (alienation) के रूप में, अभिव्यक्त होता है।

श्रम की आत्म-सिद्धि इस हद तक आत्मसिद्धि के लोप के रूप में अभिव्यक्त होती है कि मजदूर अपनी आत्मसिद्धि को भूखों मरने की हद तक खो बैठता है। अंगीभूतकरण इस हद तक अंग (वस्तु) के लोप के रूप में अभिव्यक्त होता है कि मजदूर से वे वस्तुएँ छिन जाती हैं जो न केवल उसके जीवन के लिए, बल्कि उसके काम के लिए भी नितान्त आवश्यक होती हैं। वास्तव में, श्रम स्वयं एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसे वह अधिकतम प्रयास करके तथा अत्यधिक अनिय-मित रूप से कभी-कभार ही प्राप्त कर पाता है। वस्तु का आत्मसातकरण (अधिकरण–अनु०) इस हद तक पृथक्करण के रूप में अभिव्यक्त होने लगता है कि मजदूर जितनी ही अधिक वस्तुओं को पैदा करता है उतनी ही कम पर वह अपना अधिकार क़ायम कर सकता है और उतनी ही अधिक मात्रा में अपनी पैदावार का, पूंजी का गुलाम वह बनता जाता है।

इस कथन में कि अपने श्रम की पैदावार के साथ मजदूर का सम्बन्ध एक गैर (परकीय) वस्तु की तरह का होता है—ये समस्त परिणाम निहित हैं।

योंकि, इस आधार पर यह बात स्पष्ट है कि, मजदूर जितना ही अधिक अपने
ो खपाता है, उतनी ही मात्रा में उन वस्तुओं की परकीय (ग़ैर) दुनिया,
नकी अतिशय मात्रा मे तथा अपने विरुद्ध वह सृष्टि करता है, अधिका-
क बलशाली होती जाती है, वह स्वय—उसका आन्तरिक लोक (inner
orld)—अधिकाधिक विपन्न होता जाता है, उसकी अपनी सम्पत्ति के रूप मे
सके पास की चीजें अधिकाधिक घटती जाती हैं। धर्म के क्षेत्र मे भी ऐसा ही
ता है। ईश्वर मे मनुष्य जितना ही अधिक लगाता है, उसके पास उतना ही
म रह जाता है। मजदूर वस्तु मे अपना जीवन उड़ेल देता है; किन्तु इसके
द उसका जीवन उसका अपना नही रह जाता, बल्कि वस्तु का हो जाता है।
तः इस कार्य की मात्रा जितनी ही अधिक होती है मजदूर के पास वस्तुओं की
तनी ही कमी होती जाती है। उसके श्रम की पैदावार चाहे जो हो, वह खुद
हीं होता। इसलिए, यह पैदावार जितनी ही अधिक होती है वह स्वय उतना
ी कम हो जाता है। उसकी पैदावार मे मजदूर के परकीयकरण (alienation)
ा अर्थ केवल यह नही होता कि उसका श्रम एक वस्तु, एक बाह्य सत्ता बन
ाता है, बल्कि यह भी होता है कि वह, उसके बाहर, स्वतन्त्र रूप से, एक ग़ैर
परकीय) वस्तु के रूप मे, अस्तित्वशील हो जाता है, और यह स्वयं एक ऐसी
क्ति बन जाता है जो उसके मुकाबले मे आ खड़ी होती है। उसका अर्थ यह
ोता है कि वह जीवन जो उक्त वस्तु को उसने दिया है उसके मुकाबले में एक
रोधी और परकीय चीज के रूप मे आ खड़ा होता है।

॥२३॥ अब हम अंगीभूतकरण (objectification) के सम्बन्ध मे, मजदूर के
त्पादन के सम्बन्ध मे और अधिक गहराई से विचार करें; तथा उसके अन्दर
सकी पैदावार के पृथक्करण (अलगाव) को, उसकी वस्तु के विलोप को देखें।

प्रकृति के बिना, इन्द्रियगत बाह्य संसार (sensuous external world)
े बिना, मजदूर किसी भी चीज की सृष्टि नही कर सकता। वही वह सामग्री
ोती है, जिसके माध्यम से उसके श्रम की आत्म-सिद्धि होती है, जिसमे वह क्रिया-
ील होता है, जिससे और जिसके द्वारा वह पैदा करता है।

किन्तु, जिस तरह कि प्रकृति श्रम के लिए इस अर्थ मे **जीवन के साधन**
ुटाती है कि श्रम उन वस्तुओं के बिना, जिन पर उसे काम करना होता है,
ीवित नही रह सकता; उसी तरह, दूसरी ओर, एक अधिक सीमित अर्थ मे,
ह **जीवन के साधन** भी, अर्थात्, स्वयं मजदूर के शारीरिक जीवन-यापन के
लए आवश्यक साधन भी जुटाती है।

इस प्रकार, अपने श्रम के द्वारा बाह्य संसार का, इन्द्रियगत प्रकृति का

मजदूर जितना ही अधिक आत्मसात्करण (अधिकरण—अनु०) करता है, उत
ही अधिक मात्रा में दो दृष्टियों से जीवन के साधनों से वह स्वयं अपने को वंचि
करता जाता है : एक तो इस दृष्टि से कि इन्द्रियगत बाह्य संसार अधिकाधि
मात्रा मे उसके श्रम की वस्तु के रूप में—उसके श्रम के जीवन-साधन के रू
समाप्त होता जाता है, और दूसरे, इस दृष्टि से कि, तात्कालिक अर्थ
अधिकाधिक मात्रा में वह, जीवन के साधन के रूप में, मजदूर के शारीरि
जीवनयापन के साधन के रूप में, समाप्त होता जाता है।

अतएव, दोनो ही दृष्टियों से मजदूर अपनी वस्तु का सेवक बन जाता है
पहले तो इस दृष्टि से कि उसे श्रम की एक वस्तु *प्राप्त होती है*, अर्थात् उ
काम मिलता है; और, दूसरे इस दृष्टि से कि उसे जीवन-यापन के साध
प्राप्त होते हैं। इससे उसे पहले तो एक मजदूर के रूप मे, और, दूसरे, ए
सदेह व्यक्ति (physical subject) के रूप मे जीवित रहने में मदद मिलती है
इस दासता की पराकाष्ठा यह है कि एक सदेह व्यक्ति की हैसियत से केवल ए
मजदूर के रूप मे ही वह अपने को जीवित बनाये रख सकता है और केव
एक सदेह व्यक्ति के ही रूप में वह एक मजदूर रह सकता है।

[आर्थिक नियमो के अनुसार, उसकी वस्तु से मजदूर के पृथक्कर
(अलगाव) को इस प्रकार व्यक्त किया गया है : मजदूर जितना ही अधिक पैद
करता है, उपभोग के लिए उसके पास उतना ही कम सुलभ होता है; जितने ह
अधिक मूल्यो की वह सृष्टि करता है, उतना ही अधिक निर्मूल्य, उतना ह
अधिक निर्गुणी वह हो जाता है; उसकी पैदावार जितनी ही अधिक सुरूप होत
है, मजदूर उतना ही अधिक कुरूप हो जाता है; उसका लक्ष्य जितना ही अधि
सभ्य होता है, मजदूर उतना ही अधिक बर्बर बन जाता है; श्रम जितना ह
शक्तिशाली बनता है, मजदूर उतना ही अधिक निर्बल बन जाता है; श्रम जितन
ही अधिक मेधावी (प्रवीण—अनु०) बन जाता है, मजदूर उतना ही कम होशि
यार होता जाता है और उतनी ही अधिक मात्रा मे प्रकृति का वह दास ब
जाता है।]

मजदूर (श्रम) तथा उत्पादन के बीच के सीधे सम्बन्ध पर विचार
करके राजनीतिक अर्थशास्त्र उस पृथक्करण (अलगाव) पर परदा डालता है ज
कि श्रम की प्रकृति में अंतर्निहित है। यह सच है कि धनाढ्य लोगों के लिए श्र
अद्भुत वस्तुएँ पैदा करता है—किन्तु मजदूर के लिए वह तंगी और कंगाली क
जन्म देता है। वह महलो का निर्माण करता है—किन्तु मजदूर के लिए गन्दी
अंधेरी कोठरियां बनाता है। वह सौन्दर्य की सृष्टि करता है—किन्तु मजदूर के

ए कुरूपता उपजाता है। श्रम की जगह वह मशीनों को प्रतिष्ठा करता है, न्तु मजदूरों के एक अंग को बर्बर किस्म की मेहनत करने के लिए वह पीछे ओर फेंक देता है, और उनके दूसरे अंग को मशीन बना देता है। वह बुद्धि जन्म देता है—किन्तु मजदूर के लिए निर्बुद्धिता को, विकलांग मूढ़ता की ष्टि करता है।

अपनी उत्पत्तियों (पैदावारों) के साथ श्रम का सीधा सम्बन्ध वही होता जो मजदूर का उसके उत्पादन की वस्तुओं के साथ होता है। उत्पान की वस्तुओं तथा स्वयं उत्पादन के साथ साधन-सम्पन्न व्यक्ति (man of neans) का सम्बन्ध इसी पहले सम्बन्ध से ही पैदा होता है—और वह उसी की ष्टि करता है। इस दूसरे पहलू (पक्ष–अनु०) पर हम बाद में विचार करेंगे। तः, जब हम यह पूछते है कि श्रम का बुनियादी सम्बन्ध क्या है तब हम त्पादन के साथ मजदूर के सम्बन्ध की ही बाबत दरियाफ्त करते हैं।

अभी तक मजदूर के पृथक्करण, उसके परकीयकरण के केवल एक पक्ष (पहलू–अनु०) पर, अर्थात् उसके श्रम की पैदावारों के साथ मजदूर के सम्बन्ध पक्ष पर ही हम विचार करते आये हैं। परन्तु, पृथक्करण केवल फल (नतीजे–नु०) के रूप में ही नहीं, बल्कि स्वयं उत्पादन की क्रियाशीलता (act of roduction) के अन्दर उत्पादन क्रिया के रूप में भी अभिव्यक्त होता है। यदि उत्पादन की क्रिया के दौरान ही मजदूर अपने को अपने से पृथक (विलग –अनु०) न करता जाता होता, तो अपनी क्रियाशीलता की पैदावार के सामने वह एक अजनबी के रूप में कैसे आ खड़ा हो सकता था? उत्पत्ति (पैदावार–अनु०) आखिर तो क्रियाशीलता का, उत्पादन का ही निष्कर्ष होती है। इसलिए, यदि श्रम की उत्पत्ति परकीयकरण है, तो आवश्यक है कि उत्पादन स्वयं सक्रिय परकीयकरण, क्रियाशीलता का परकीयकरण, परकीयकरण की क्रियाशीलता हो। श्रम की वस्तु के पृथक्करण (अलगाव) में स्वयं श्रम की क्रियाशीलता के पृथक्करण का, परकीयकरण का मात्र निष्कर्ष ही समाविष्ट होता है।

तब फिर श्रम का परकीयकरण क्या होता है?

सबसे पहले, यह कि श्रम मजदूर के लिए एक बाह्य वस्तु बन जाता है, अर्थात् वह उसकी अन्तर्भूत प्रकृति का अंग नहीं रह जाता; इसलिए, अपने काम से वह अपनी आत्म-पुष्टि नहीं करता, बल्कि अपना निषेध करता है; सन्तुष्ट नहीं, बल्कि दुःखी महसूस करता है; अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का उन्मुक्त रूप से विकास नहीं करता, बल्कि अपने शरीर को यातना देता है और

अपने मस्तिष्क को नष्ट कर देता है। अतः, मजदूर अपने को अपने काम से बाहर ही महसूस करता है, और अपने काम के दौरान अपने को अपने से बाहर महसूस करता है। जब वह काम नहीं करता होता तब वह सुखी महसूस करता है, और जब वह काम करता होता है तब वह अपने को निराश्रित महसूस करता है। अतएव उसका श्रम स्वेच्छा-प्रेरित नहीं, बल्कि जबरदस्ती कराया हुआ श्रम होता है; वह बेगार होता है। इसलिए, किसी आवश्यकता की पूर्ति उससे नहीं होती, वह मात्र अपने से बाहर की आवश्यकताओं की तृप्ति का साधन होता है। उसका परकीय चरित्र इस बात से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि ज्यों ही शारीरिक अथवा अन्य किसी प्रकार की बाध्यता नहीं रह जाती त्यों ही (आदमी—अनु०) श्रम से उसी तरह कतराता है जिस तरह कि कोई प्लेग से कतराये। बाह्य श्रम, वह श्रम जिसमें मनुष्य अपने को परकीय बना लेता है, आत्मोत्सर्ग का, आत्म-क्लेश का श्रम होता है। अंत में, श्रम का बाह्य चरित्र मजदूर के सामने इस रूप में आता है कि वह स्वयं उसका नहीं, बल्कि किसी और का श्रम होता है, कि वह उसका अपना नहीं होता, कि उसमें वह स्वयं अपना नहीं होता, बल्कि किसी और का होता है। जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मानवीय कल्पना, मानवीय मस्तिष्क तथा मानवीय हृदयकी स्वतः स्फूर्त सक्रियता व्यक्ति के ऊपर उसकी मर्जी से नहीं, बल्कि स्वतन्त्र रूप से काम करती है—अर्थात् एक परकीय, दैवी या पैशाचिक क्रियाशीलता के रूप में काम करती है—उसी प्रकार मजदूर की क्रियाशीलता उसकी ऐच्छिक (स्वतःस्फूर्त) क्रियाशीलता नहीं होती। वह दूसरे की सम्पत्ति होती है; उससे उसके स्व का लोप हो जाता है। अन्ततः उसके फलस्वरूप, मनुष्य (मजदूर) अपने को केवल अपने पशु जैसे (animal) व्यापारों में ही—खाने, पीने, प्रजनन करने के, अथवा, अधिक से अधिक, अपने घर में रहने तथा कपड़े पहनने, आदि के कामों में ही अपने को मुक्त रूप से क्रियाशील महसूस करता है और अपने मानवीय व्यापारों में वह एक पशु के अलावा और कुछ नहीं अपने को महसूस करता। जो पाशविक है वह मानवीय बन जाता है और जो मानवीय है वह पाशविक।

निस्सन्देह, खाना-पीना, बच्चे पैदा करना, आदि भी विशुद्ध रूप से मानवीय व्यापार (functions) ही हैं। किन्तु, अलग से, अन्य समस्त मानवीय व्यापारों के क्षेत्र से उन्हें विलग करके और एकमात्र परम लक्ष्य बनाकर देखने पर, वे पशुओं जैसे व्यापार बन जाते हैं।

व्यावहारिक मानवीय क्रियाशीलता के, श्रम के, पृथक्करण की क्रिया के सम्बन्ध में हमने उसके दो पहलुओं से विचार किया है। (१) श्रम की उपज

(product of labour) के साथ मजदूर के उस सम्बन्ध के पहलू से जिसमें कि वह (श्रम की उत्पत्ति–अनु०) एक परकीय वस्तु के रूप में उसके ऊपर अपनी सत्ता का इस्तेमाल करती है। यह सम्बन्ध, साथ ही साथ, इन्द्रियगत (sensuous) बाह्य जगत् के साथ, प्रकृति के पदार्थों (objects of nature) के साथ एक ऐसे परकीय संसार के रूप में सम्बन्ध होता है जो शत्रुवत रूप से उसके विरुद्ध होता है। (२) श्रम प्रक्रिया (labour process) के अन्तर्गत उत्पादन कार्य (act of production) के साथ श्रम के सम्बन्ध (के पहलू से–अनु०)। यह सम्बन्ध स्वयं अपनी उस क्रियाशीलता के साथ मजदूर का सम्बन्ध होता है जो एक ऐसी परकीय क्रियाशीलता है जो उसकी अपनी नहीं है; उसके अंतर्गत क्रियाशीलता यातना-भोग है; शक्ति कमजोरी है; पैदा करने का काम मजदूर की स्वयं अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति को, उसके व्यक्तिगत जीवन को—क्योंकि क्रियाशीलता के अलावा जीवन है ही क्या?—वन्ध्य करना (शक्तिहीन बनाना–अनु०) है—वह ऐसी क्रियाशीलता है जो स्वयं उसके विरुद्ध हो गयी है, उससे स्वतन्त्र है, और उसकी अपनी चीज नहीं है। पहले हमने वस्तु का पृथक्करण देखा था, यहाँ हम स्व का पृथक्करण देख रहे हैं।

॥२४॥ पृथक्कृत श्रम के जिन दो पहलुओं पर हम विचार कर चुके हैं उनसे हमें अभी उसके एक तीसरे पहलू का पता लगाना है।

मनुष्य एक जातिमूल-प्राणी'' (species-being) है, न केवल इसलिए कि व्यवहार और सिद्धान्त (दोनों–अनु०) में जाति को (स्वयं अपनी तथा दूसरी वस्तुओं की भी जातियों को) वह अपना लक्ष्य (object) बना लेता है, बल्कि—और यह उसे व्यक्त करने की मात्र एक दूसरी विधि है—इसलिए भी कि स्वयं अपने-आप को वह एक वास्तविक, जीवित जाति मानता है; क्योंकि स्वयं अपने आप को वह एक सार्वलौकिक, और इसलिए, एक स्वतन्त्र प्राणी मानता है।

मनुष्य और पशु दोनों ही में जाति के जीवन का शारीरिक रूप से यह आधार होता है कि (पशु की ही तरह) मनुष्य अजैव (अकार्बनिक) प्रकृति (inorganic nature) के सहारे जीवित रहता है; और मनुष्य (अथवा पशु) जितना ही अधिक सार्वलौकिक होता है उतना ही अधिक अजैव प्रकृति का वह क्षेत्र सार्वभौमिक होता है जिसके सहारे वह जीवन-यापन करता है। जिस प्रकार कि पौधे, पशु, पत्थर, हवा, प्रकाश, आदि आंशिक रूप से प्रकृति विज्ञान के पदार्थों के रूप में, आंशिक रूप से कला की वस्तुओं के रूप में—सैद्धान्तिक रूप से मानवीय चेतना का, उसकी आत्मिक अजैव प्रकृति का, उसके उस आत्मिक

आहार का एक ऐसा अंग होते हैं जिसको सुस्वादु और सुपाच्य बनाने के लिए उसे (मनुष्य को–अनु०) पहले से तैयार करना होता है—ठीक उसी प्रकार, व्यवहार के प्रदेश में भी वे मानवीय जीवन और मानवीय क्रियाशीलता का एक अंग होते हैं। शारीरिक रूप से मनुष्य प्रकृति की केवल इन्हीं उत्पत्तियों के सहारे जिन्दा रहता है—चाहे वे भोजन, ताप, कपड़ों, निवास-स्थान, आदि के रूप में ही क्यों न सामने आती हों। मनुष्य की सार्वलौकिकता व्यवहार में ठीक उस सार्वभौमिकता के ही रूप में सामने आती है जो समस्त प्रकृति को उसका अजैव (इनऑर्गेनिक) शरीर बना देती है—ऐसा वह दोनों रूपों में करती है, क्योंकि प्रकृति (१) उसके जीवन का प्रत्यक्ष साधन है, और (२) उसके जीवन की क्रियाशीलता की सामग्री, वस्तु तथा औजार भी है। प्रकृति मनुष्य का अजैव शरीर है—वह प्रकृति जो स्वयं मानव शरीर नहीं है। मनुष्य प्रकृति के सहारे जिन्दा रहता है—इसका अर्थ यह है कि प्रकृति ही उसका शरीर है, जिसके साथ यदि उसे मौत के मुंह में नहीं चला जाना है, आवश्यक है कि वह सतत् पारस्परिक आदान-प्रदान की स्थिति में बना रहे। मनुष्य का शारीरिक और आत्मिक जीवन प्रकृति के साथ जुड़ा है—इसका अर्थ केवल यही होता है कि प्रकृति स्वयं अपने से जुड़ी हुई है, क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है।

मनुष्य से (१) प्रकृति का और (२) स्वयं अपना, अपने सक्रिय व्यापारों का, अपने जीवन की क्रियाशीलता का पृथक्करण करके पृथक्कृत श्रम जाति-मूल (species) का मनुष्य से पृथक्करण कर देता है। जाति-मूल के जीवन को वह उसके (मनुष्य के–अनु०) लिए व्यक्तिगत जीवन के साधन में बदल देता है। पहले वह मूल-जाति के जीवन और व्यक्तिगत जीवन का पृथक्करण करता है, और फिर (दूसरे) व्यक्तिगत जीवन को उसके निराकार रूप में वह, उसी तरह, उसके निराकार और पृथक्कृत रूप में जाति-मूल के जीवन का लक्ष्य बना देता है।

क्योंकि श्रम, जीवन की क्रियाशीलता, स्वयं उत्पादक जीवन मनुष्य को सबसे पहले एक आवश्यकता की,—शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखने की आवश्यकता की सम्पूर्ति का मात्र एक साधन प्रतीत होता है। फिर भी उत्पादक जीवन ही जाति-मूल का जीवन है। वह जीवन पैदा करने वाला जीवन है। जाति-मूल का सम्पूर्ण चरित्र—उसका जाति-मूल वाला चरित्र—उसके जीवन की क्रियाशीलता के चरित्र में मौजूद रहता है; और मुक्त, सचेत क्रियाशीलता ही मनुष्य का जाति-मूल गत चरित्र है। जीवन स्वयं जीवन का एकमात्र साधन प्रतीत होता है।

पशु तत्काल अपने जीवन की क्रियाशीलता के साथ एकात्म स्थापित कर

लेता है। वह उससे अपने को जुदा नहीं करता। वही उसके जीवन की क्रियाशीलता होती है। मनुष्य अपने जीवन की क्रियाशीलता को ही अपनी इच्छा तथा अपनी चेतना का लक्ष्य बनाता है। वह सचेत रूप में जीवन-व्यापार करता है। वह लक्ष्य के साथ सीधे-सीधे मिल कर एकाकार नहीं हो जाता। सचेत जीवन-व्यापार मनुष्य को पशु के जीवन-व्यापार से तुरन्त जुदा कर देता है। ठीक इसी कारण वह एक जाति-मूल प्राणी होता है। अथवा, चूंकि वह एक जाति-मूल प्राणी है केवल इसीलिए वह एक सचेत प्राणी होता है, अर्थात् स्वयं अपना जीवन उसके लिए एक लक्ष्य होता है। केवल इसी कारण उसकी क्रियाशीलता मुक्त क्रियाशीलता होती है। पृथक्कृत श्रम इस सम्बन्ध को उलट देता है, जिससे कि, ठीक इसीलिए कि मनुष्य एक सचेत प्राणी है वह अपने जीवन की क्रियाशीलता को, अपनी मूल-सत्ता को अपने अस्तित्व का मात्र एक साधन बना लेता है।

अपनी व्यावहारिक क्रियाशीलता के माध्यम से; अजैव (इनऑरगैनिक) प्रकृति पर किये गये अपने काम के माध्यम से, वस्तुओं की एक दुनिया की रचना करके, मनुष्य अपने को एक सचेत जाति-मूल-प्राणी, अर्थात् एक ऐसा प्राणी सिद्ध कर देता है जो जाति-मूल को स्वयं अपनी एक प्रभु-सत्ता मानता है, अथवा जो स्वयं अपने को एक जाति-मूल-प्राणी समझता है। निस्सन्देह, पशु भी पैदा करते हैं। मधुमक्खियों, बनबिलावों, चीटियों, आदि की तरह वे भी अपने लिए घोंसले, रहने की जगहें बनाते हैं। परन्तु, पशु केवल उसी चीज को पैदा करता है जिसकी उसे स्वयं अपने लिए, अथवा अपने बच्चे के लिए तत्काल आवश्यकता होती है। वह एकांगी ढंग से पैदा करता है, परन्तु मनुष्य सार्वलौकिक रूप में पैदा करता है। वह केवल तात्कालिक शारीरिक आवश्यकता के दबाव से पैदा करता है, किन्तु मनुष्य उस समय भी पैदा करता है जिस समय कि शारीरिक आवश्यकता से वह मुक्त होता है और इसलिए, वास्तव में, वह उससे स्वतन्त्र रहता हुआ पैदा करता है। पशु केवल अपने को पैदा करता है, परन्तु मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति को पुनः पैदा कर देता है। पशु की पैदावार का सम्बन्ध तात्कालिक रूप से उसके भौतिक शरीर से होता है, परन्तु मनुष्य अपनी पैदावार का मुक्त रूप से सामना करता है। पशु जिस जाति-मूल का होता है उसी के नमूने पर तथा उसी की जरूरत के अनुसार गढ़ता है; परन्तु मनुष्य इस चीज को जानता है कि प्रत्येक जाति-मूल के नमूने (मानक) के अनुरूप कैसे पैदा किया जाय, और वह इस बात को भी जानता है कि अंतर्निहित मानक को हर जगह किस प्रकार (निर्मित–अनु०) वस्तु पर लागू किया जाय। अतः, मनुष्य सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी वस्तुओं की रचना करता है।

अतएव, वस्तुगत संसार पर किये गये अपने कार्य के माध्यम से ही मनुष्य वास्तव में इस बात को सिद्ध करता है कि वह जाति-मूल प्राणी है। यह उत्पादन ही उसका क्रियाशील जातिमूल-जीवन है। इसी उत्पादन के कारण प्रकृति उसकी कृति (रचना—अनु०) तथा उसी की वास्तविकता प्रतीत होती है। अतः, श्रम का लक्ष्य मनुष्य के जातिमूल-जीवन का अंगीभूतकरण होता है : क्योंकि वह अपने प्रतिरूप की न केवल बौद्धिक रूप से—जैसे कि चेतना के क्षेत्र में, बल्कि सक्रिय रूप से, वास्तव में भी, सृष्टि करता है, और इसलिए वह अपने को उसी दुनिया के अन्दर देखता है जिसकी उसने रचना की है। इसलिए, मनुष्य से उसके उत्पादन की वस्तु को जबरदस्ती जुदा करके, पृथक्कृत श्रम उससे उसके जातिमूल-जीवन को, जातिमूल के एक सदस्य के रूप में उसकी वास्तविक वस्तुनिष्ठता को छीन लेता है, और पशुओं की तुलना में उसकी जो श्रेष्ठता है उसको बदल कर उसे उसकी कमजोरी बना देता है जिससे कि उसका अजैव शरीर, प्रकृति उससे छिन जाती है।

इसी प्रकार, स्वतःस्फूर्त मुक्त क्रियाशीलता को एक साधन के रूप में नीचे गिराकर, पृथक्कृत श्रम मनुष्य के जातिमूल-जीवन को उसके शारीरिक अस्तित्व का साधन बना देता है। इस तरह, पृथक्करण के द्वारा उस चेतना को, जो मनुष्य के अन्दर अपने जाति-मूल के सम्बन्ध में होती है, इस प्रकार बदल दिया जाता है कि जाति-मूल [—जीवन] उसके लिए एक साधन बन जाता है।

इस तरह पृथक्कृत श्रम :

(३) मनुष्य की जातिमूल-सत्ता (Man's species-being) को, उसकी प्रकृति तथा उसके आत्मिक जातिमूल-धर्मगुण दोनों को, एक ऐसी सत्ता में बदल देता है जो उसके लिए परकीय होती है, वह उसे उसके व्यक्तिगत अस्तित्व के एक साधन में बदल देता है। वह मनुष्य से स्वयं उसके शरीर को, साथ ही साथ उसकी बाह्य प्रकृति तथा उसके आत्मिक पक्ष को, उसके मानवीय पक्ष को भी पृथक कर देता है।

(४) मनुष्य के अपने श्रम की उत्पत्ति से, अपने जीवन की क्रियाशीलता से, जातिमूल-प्राणी के अपने रूप से पृथक हो जाने का एक तात्कालिक परिणाम यह होता है कि मनुष्य का मनुष्य से पृथक्करण हो जाता है। मनुष्य जब अपने सामने खड़ा होता है तब वह एक दूसरे आदमी के सामने खड़ा होता है। जो बात अपने काम के साथ, अपने श्रम की उत्पत्ति के साथ तथा स्वयं अपने साथ मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में लागू होती है, वही दूसरे मनुष्य के साथ, तथा

दूसरे मनुष्य के श्रम और श्रम के उद्देश्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में भी लागू होती है।

वास्तव में, इस कथन का कि मनुष्य की अति-मूल-प्रकृति उससे पृथक हो गयी है अर्थ यह होता है कि एक मनुष्य दूसरे से पृथक हो गया है, क्योंकि (वास्तव में–अनु०) उनमें से प्रत्येक—मनुष्य की मूलभूत प्रकृति से पृथक हो गया है।

मनुष्य का पृथक्करण, और वास्तव में वह प्रत्येक सम्बन्ध जो मनुष्य का स्वयं उसके साथ [होता है], केवल उस सम्बन्ध के रूप में ही फलीभूत तथा व्यक्त होता है जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्यों के साथ होता है।

अस्तु, पृथक्कृत श्रम के सम्बन्ध के दायरे में प्रत्येक मनुष्य दूसरे को उसी मापदण्ड तथा सम्बन्ध की दृष्टि से देखता है जिसमें, एक मजदूर के रूप में, वह स्वयं अपने को पाता है।

॥२५॥ हमने राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक सचाई को—मजदूर और उसकी पैदावार (उत्पाद) के पृथक्करण की बात को—लेकर विचार करना शुरू किया था। इस सचाई को हमने सम्बोधात्मक शब्दावली (conceptual terms) में सूत्रबद्ध करते हुए उसे पृथक्कृत, परकीयकृत श्रम कहा है। इस सम्बोध (अवधारणा–अनु०) का हमने विश्लेषण किया है—ऐसा करते समय हमने राजनीतिक अर्थशास्त्र की मात्र एक सचाई का ही विश्लेषण किया है।

आगे अब हम देखें कि पृथक्कृत, परकीयकृत श्रम का सम्बोध (विचार –अनु०) वास्तविक जीवन में किस तरह अपने को व्यक्त और प्रस्तुत करता है।

श्रम का उत्पाद (पैदावार–अनु०) यदि मेरे लिए परकीय है, यदि वह एक परकीय शक्ति के रूप में मेरा विरोध करती है, तो, वह किसकी सम्पत्ति है ?

यदि स्वयं मेरी क्रियाशीलता मेरी नहीं है, यदि वह एक परकीय जबरदस्ती करायी गयी क्रियाशीलता (बेगार–अनु०) है, तो वह है किसकी ?

मेरे अलावा किसी दूसरे व्यक्ति की।

यह व्यक्ति कौन है ?

देवतागण ? असंदिग्ध रूप में, एकदम प्राचीनकाल में ऐसा लगता है कि मुख्य उत्पादन (उदाहरण के लिए, मिस्र, भारत तथा मेक्सिको में मन्दिरों, आदि के निर्माण का कार्य) देवताओं के ही लिए किया जाता था, और उत्पादित वस्तु देवताओं की ही सम्पत्ति होती थी। किन्तु, देवता स्वयं कभी श्रम के

मालिक नहीं थे। प्रकृति भी उसकी मालिक नहीं थी। और अपने श्रम के द्वारा मनुष्य प्रकृति को जितना ही अधिक वशीभूत करता (अधीन बनाता—अनु०) जाये और उद्योग-धन्धों के चमत्कारों के कारण देवताओं के चमत्कार जितने ही अधिक निष्प्रयोजन होते जायें उतनी ही अधिक मात्रा में मनुष्य इन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए यदि उत्पादन के आनन्द तथा उत्पाद के उपभोग को तिलांजलि देता जाये—तो यह कैसा विचित्र अंतर्विरोध होगा !

वह परकीय सत्ता, श्रम और श्रम की उत्पत्ति जिसकी सम्पत्ति बन जाते हैं, जिसकी सेवा के लिए श्रम किया जाता है, और जिसके फ़ायदे के लिए श्रम की पैदावार जुटाई जाती है, स्वयं मनुष्य ही हो सकता है।

श्रम की पैदावार यदि मजदूर की सम्पत्ति नहीं होती, वह यदि एक परकीय शक्ति के रूप में उसका विरोध करती है, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि वह मजदूर की न होकर किसी दूसरे मनुष्य की सम्पत्ति है। मजदूर की क्रियाशीलता उसके लिए यदि एक यंत्रणा है, तो किसी दूसरे को निश्चित ही वह संतोष तथा सुख देनी होगी। मनुष्य के ऊपर शासन करने वाली यह परकीय शक्ति देवतागण नहीं, प्रकृति नहीं, बल्कि केवल स्वयं मनुष्य ही हो सकता है।

हमें पहले की इस स्थापना को याद रखना चाहिए कि अपने साथ मनुष्य का सम्बन्ध दूसरे मनुष्य के साथ उसके सम्बन्ध के माध्यम से ही वस्तुगत तथा वास्तविक बनता है। इस तरह, उसके श्रम की पैदावार, अंगीभूतकृत उसका श्रम यदि उसके लिए एक परकीय वैरपूर्ण, ऐसी शक्तिशाली वस्तु है, जो उससे स्वतन्त्र है, तो उसके सम्बन्ध में उसकी स्थिति यही होगी कि उक्त वस्तु का स्वामी कोई और व्यक्ति है, ऐसा कोई व्यक्ति जो परकीय, वैरपूर्ण, शक्तिशाली, और उससे स्वतन्त्र है। स्वयं अपनी क्रियाशीलता को यदि वह अस्वतन्त्र क्रियाशीलता मानता है, तो उसे वह किसी दूसरे मनुष्य की सेवा के लिए, उसके आधिपत्य, उसकी जोर-जबरदस्ती, तथा उसके जुए के नीचे की गयी क्रियाशीलता मानता है।

स्वयं अपने से तथा प्रकृति से होने वाला मनुष्य का प्रत्येक स्व-पृथक्करण (self-estrangement) उसी सम्बन्ध के रूप में प्रकट होता है जिसके माध्यम से अपने से भिन्न तथा अपने से विच्छिन्नीकृत दूसरे मनुष्यों के साथ वह अपने को और प्रकृति को जोड़ता है। इसी कारण धार्मिक स्व-पृथक्करण अनिवार्य रूप से पादरी अथवा फिर किसी मध्यस्थ, आदि के साथ साधारण आदमी के सम्बन्ध के रूप में व्यक्त होता है—क्योंकि यहाँ हम बौद्धिक संसार की ही चर्चा कर रहे

है। वास्तविक व्यावहारिक दुनिया में स्व-पृथक्करण की क्रिया दूसरे मनुष्यों के साथ वास्तविक व्यावहारिक सम्बन्ध के माध्यम से ही व्यक्त हो सकती है। वह माध्यम जिसके द्वारा पृथक्करण होता है स्वयं व्यावहारिक है। इस प्रकार, पृथक्कृत श्रम के माध्यम से (उत्पादित) वस्तु के साथ तथा उत्पादन की क्रिया के साथ मनुष्य न केवल ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है जो ऐसी शक्तियों* के साथ स्थापित किये गये सम्बन्ध होते हैं जो कि उसके लिए परकीय तथा उसके प्रतिकूल हैं, बल्कि वह उस सम्बन्ध की भी स्थापना कर देता है जिसमें उसके उत्पादन तथा उत्पाद (पैदावार) के साथ दूसरे मनुष्य जुड़ते हैं, और जिसमें कि इन दूसरे मनुष्यों के साथ वह स्वयं भी जुड़ा होता है। जिस तरह कि स्वयं अपने उत्पादन को वह (मनुष्य—अनु०) अपनी असलियत के लोप के रूप में, अपनी सज़ा के रूप में पैदा करता है, स्वयं अपनी पैदावार को एक घाटे के रूप में, एक ऐसी पैदावार के रूप में वह पैदा करता है जो उसकी अपनी सम्पत्ति नहीं होती, उसी तरह उत्पादन और उत्पाद के ऊपर वह एक ऐसे व्यक्ति का आधिपत्य स्थापित कर देता है जो उत्पादन नहीं करता। जिस तरह कि स्वयं अपनी क्रियाशीलता को वह अपने से पृथक कर देता है, उसी तरह एक अजनबी व्यक्ति को वह ऐसी क्रियाशीलता से मण्डित कर देता है जो स्वयं उसकी नहीं है।

इस सम्बन्ध पर अभी तक हमने केवल मज़दूर के दृष्टिकोण से विचार किया है; आगे हम इस पर गैर-मज़दूर के भी दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

तब फिर, पृथक्कृत, परकीयकृत श्रम के द्वारा मज़दूर इस श्रम के साथ एक ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध की सृष्टि कर देता है जो उक्त श्रम के लिए परकीय है तथा उससे दूर (बाहर—अनु०) खड़ा है। श्रम के साथ मज़दूर का यह सम्बन्ध उसके साथ पूंजीपति के (अथवा जिस किसी भी नाम से श्रम के स्वामी को आप इंगित करना चाहें उसके) सम्बन्ध की सृष्टि कर देता है। इस भाँति, **निजी सम्पत्ति पृथक्कृत श्रम की**, प्रकृति के साथ और स्वयं उसके साथ मज़दूर के बाह्य सम्बन्ध की उत्पत्ति, उसी का प्रति-फल, उसी का आवश्यक परिणाम होती है।

निजी सम्पत्ति इस तरह पृथक्कृत श्रम को, अर्थात्, परकीयकृत मनुष्य की,

---

* पाण्डुलिपि में शक्तियों (Machte) के स्थान पर मनुष्य (Menschen), लिखा हुआ है।—स०

पृथक्कृत श्रम की, पृथक्कृत जीवन की, पृथक्कृत मनुष्य की अवधारणा विश्लेषण की निष्पत्ति होती है।

यह सही है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र में परकीयकृत श्रम की (परकीकृत जीवन की) अवधारणा हमें निजी सम्पत्ति के संचालन से प्राप्त हुई है परन्तु, इस अवधारणा का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निजी सम्पत्ति यद्यपि परकीयकृत श्रम की वजह, उसका कारण मालूम पड़ती है किन्तु वास्तव में वह उसका परिणाम है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि देवगण मूलरूप से मनुष्य की बौद्धिक भ्रान्ति का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम रहे हैं। बाद में यह सम्बन्ध अन्योन्य (reciprocal) हो जाता है।

निजी सम्पत्ति के विकास की पराकोटि पर ही उसका यह भेद पुनः खुलता है कि एक ओर तो वह परकीयकृत श्रम की उत्पत्ति होती है, और, दूसरी ओर वह, वह साधन होती है जिसके माध्यम से श्रम अपने को परकीय बना लेता है, इस परकीयकरण की आत्म-सिद्धि हो जाती है।

यह स्पष्टीकरण तुरन्त ऐसे विभिन्न अन्तर्द्वन्द्वों को उजागर कर देता है जिनका अभी तक समाधान नहीं हुआ है।

(१) राजनीतिक अर्थशास्त्र अपनी बात इस स्थापना से शुरू करता है कि श्रम ही उत्पादन की असली आत्मा है; तिस पर भी श्रम को वह कुछ नहीं देता, और निजी सम्पत्ति को ही सब कुछ दे देता है। इस अन्तर्विरोध का सामना होने पर, प्रूधो ने निजी सम्पत्ति के विरुद्ध श्रम के पक्ष में फ़ैसला किया है।[11] किन्तु, हम इस बात को समझते हैं कि यह दृश्यमान अन्तर्विरोध पृथक्कृत श्रम का स्वयं अपने साथ अन्तर्विरोध है; और राजनीतिक अर्थशास्त्र ने तो पृथक्कृत श्रम के नियमों को केवल सूत्रबद्ध ही कर दिया है।

इसलिए, हम इस बात को भी समझते हैं कि मजदूरी और निजी सम्पत्ति एकसम (अभिन्न—अनु०) हैं। वास्तव में, जहाँ पैदावार श्रम की वस्तु के रूप में, स्वयं श्रम की मजदूरी का भुगतान करती है, वहाँ मजदूरी श्रम के पृथक्करण का ही एक अनिवार्य परिणाम होती है। इसी प्रकार, श्रम की मजदूरी में श्रम स्वयं एक उद्देश्य के रूप में नहीं, बल्कि मजदूरी के सेवक के रूप में सामने आता है। इस बिन्दु पर बाद में हम और रोशनी डालेंगे; परन्तु इस बीच हम केवल कुछ निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करेंगे। ॥२६।[11]

इसलिए, मजदूरी में जबरदस्ती प्राप्त की गयी वृद्धि (अन्य सभी कठिनाइयों को, जिनमें यह बात भी शामिल है कि इस तरह की वृद्धि को, जो कि असंगति ही है, केवल बलपूर्वक ही क़ायम रखा जा सकता है, फ़िलहाल हम

अनदेखा करते हैं) दास के लिए प्राप्त की गयी अधिक रकम के सिवा और कुछ नहीं होगी, और उससे मजदूर या श्रम को न तो उसकी मानवीय हैसियत प्राप्त हो सकेगी और न सम्मान।

वास्तव मे, मजदूरी की समानता की जो माँग प्रूधो करते हैं वह भी वर्तमान कालीन मजदूर के अपने श्रम के साथ के सम्बन्ध को श्रम के साथ सभी मनुष्यों के सम्बन्ध मे बदल देने मात्र का ही काम करती है। समाज की तब एक निराकार पूँजीपति के ही रूप मे कल्पना की जाती है।

मजदूरी पृथक्कृत श्रम का प्रत्यक्ष परिणाम होती है, और पृथक्कृत श्रम निजी सम्पत्ति का प्रत्यक्ष कारण। अतएव एक का पतन होगा तो अवश्यम्भावी रूप से दूसरे का भी पतन हो जायेगा।

(२) निजी सम्पत्ति के साथ पृथक्कृत श्रम के सम्बन्ध से आगे यह निष्कर्ष निकलता है कि निजी-सम्पत्ति, आदि के बन्धन से, उसकी दासता से, समाज की मुक्ति मजदूरों की मुक्ति के राजनीतिक रूप मे अभिव्यक्त होती है; इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रश्न केवल उनकी (मजदूरों की—अनु०) मुक्ति का है (बल्कि पूरे समाज की मुक्ति का है—अनु०)—क्योंकि मजदूरों की मुक्ति मे सम्पूर्ण मानवजाति की मुक्ति निहित है—और वह उसमे इसलिए निहित है कि उत्पादन के साथ मजदूर के सम्बन्ध के साथ पूरी मानवजाति की गुलामी जुड़ी हुई है, और गुलामी के सभी सम्बन्ध इसी सम्बन्ध के ही मात्र रूप-भेद तथा परिणाम होते हैं।

निजी सम्पत्ति की अवधारणा से विश्लेषण के आधार पर जिस प्रकार हमने पृथक्कृत, परकीयकृत श्रम की अवधारणा निकाली है, उसी तरह इन दोनो कारकों की सहायता से हम राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रत्येक कोटि विकसित कर ले सकते हैं; और तब हम फिर देखेंगे कि प्रत्येक कोटि के अन्दर—जैसे कि व्यापार, प्रतियोगिता, पूँजी, मुद्रा की कोटि में—इन्हीं प्राथमिक तत्वों का ही एक विशिष्ट तथा विकसित रूप पाया जाता है।

किन्तु इस घटनाप्रवाह पर विचार करने से पहले आइए हम दो और समस्याओं का समाधान निकालने की चेष्टा करें।

(१) हम यह बतलाने की कोशिश करें कि सचमुच मानवीय तथा सामाजिक सम्पत्ति के सन्दर्भ मे निजी सम्पत्ति की, जैसी कि पृथक्कृत श्रम के फलस्वरूप वह उत्पन्न हुई है, आम प्रकृति कैसी है।

(२) श्रम के पृथक्करण को, उसके परकीयकरण को हमने एक सचाई के रूप में स्वीकार कर लिया है, और इस सचाई का हमने विश्लेषण किया है।

अब हम यह पूछते हैं कि मनुष्य अपने श्रम को किस तरह परकीय बना देत
उसे पृथक कर देता है ? और यह पृथक्करण मानव विकास की प्रकृति में
तरह मौजूद है ? निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति के प्रश्न को मानवजाति
विकास-क्रम के साथ परकीयकृत श्रम के सम्बन्ध के प्रश्न में बदल कर,
समस्या के समाधान की ओर हम पहले ही काफ़ी आगे बढ़ गये हैं। क्यों
जब कोई निजी सम्पत्ति की बात करता है, तब वह किसी ऐसी चीज के वि
में सोचता है जो मनुष्य से बाहर है । जब कोई श्रम की बात करता है, तब
सीधे-सीधे स्वयं मनुष्य के विषय में सोचता है । प्रश्न के इस नये सूत्रीकर
खुद ही उसका उत्तर छिपा हुआ है ।

"(पहली) समस्या के सम्बन्ध में : प्रश्न निजी सम्पत्ति की आम प्र
का तथा वास्तविक मानवीय सम्पत्ति के साथ उसके सम्बन्ध का है ।

परकीयकृत श्रम ने—जैसा कि हमने देखा है—अपने को दो ऐसे काम
विभक्त कर लिया है जो एक दूसरे के आश्रित हैं, अथवा जो कि एक और
सम्बन्ध के केवल विभिन्न व्यक्त रूप हैं । आत्मसात्करण पृथक्करण के रूप
परकीयकरण के रूप में प्रकट होता है; और परकीयकरण आत्मसात्करण
पृथक्करण के ऐसे रूप में अभिव्यक्त होता है जो कि वास्तव में एक नागरिक
अनुरूप होता है ।"

हमने एक पक्ष पर—स्वयं मजदूर के साथ परकीयकृत श्रम के सम्बन्ध
अर्थात्, परकीयकृत श्रम के स्वयं अपने साथ सम्बन्ध के पक्ष पर विचार कि
है । उत्पत्ति (पैदावार–अनु०), जो कि इस सम्बन्ध का अनिवार्य फल है, ज
कि हम देख चुके हैं, ग़ैर-मजदूर का मजदूर और श्रम के साथ साम्पत्ति
सम्बन्ध (का फल–अनु०) होती है । परकीयकृत श्रम की भौतिक, सार
(summary) अभिव्यक्ति के रूप में निजी सम्पत्ति के अन्तर्गत दोनों
सम्बन्ध आ जाते हैं : मजदूर का काम और अपने श्रम की उत्पत्ति के स
तथा ग़ैर-मजदूर के साथ सम्बन्ध, और ग़ैर-मजदूर का मजदूर और उसके
की उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध ।

इस चीज को देख चुकने के बाद कि उस मजदूर के सम्मुख, जो अ
श्रम के माध्यम से प्रकृति का आत्मसात्करण करता है, यह आत्मसात्क
पृथक्करण के रूप में, उसकी अपनी स्वतःस्फूर्त क्रियाशीलता का दूसरे के लि
की गयी क्रियाशीलता तथा दूसरे की क्रियाशीलता के रूप में, जीवन-श
जीवनोत्सर्ग के रूप में, वस्तु का उत्पादन वस्तु के एक परकीय शक्ति के हाथ
एक परकीय व्यक्ति के हाथ में चले जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है—

हम इस बात पर विचार करेंगे कि इस व्यक्ति का, जो श्रम और मजदूर के लिए परकीय है, मजदूर, श्रम और उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के साथ कैसा सम्बन्ध होता है।

सबसे पहले इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि हर वह चीज जो मजदूर के अन्दर परकीयकरण की, पृथक्करण की क्रियाशीलता के रूप में अभिव्यक्त होती है, ग़ैर-मजदूर के अन्दर परकीयकरण की, पृथक्करण की दशा के रूप में अभिव्यक्त होती है।

दूसरे, इस बात को (अवधृत किया जाना चाहिए–अनु०) कि उत्पादन और उत्पत्ति के प्रति मजदूर की वास्तविक, व्यावहारिक मनोभावना इसके विरुद्ध खड़े ग़ैर-मजदूर के अन्दर (मनःस्थिति की दृष्टि से) एक सैद्धान्तिक मनोभावना के रूप में अभिव्यक्त होती है।

॥२७॥ तीसरे यह कि, ग़ैर-मजदूर मजदूर के विरुद्ध हर वह चीज करता है जो मजदूर स्वयं अपने विरुद्ध करता है; किन्तु अपने विरुद्ध वह चीज नहीं करता जो वह मजदूर के विरुद्ध करता है।

इन तीन सम्बन्धों पर हम थोड़ी और गहराई से विचार करें।* ॥२७॥

---

* इस जगह पहली पाण्डुलिपि अपूर्ण रूप में ही समाप्त हो जाती है।—सं०

[पूंजी और श्रम का विरोध। भू-सम्पत्ति और पूंजी]

[......] ॥४०॥ उसकी पूंजी का सूद होता है* । मजदूर ए
वास्तविकता की मनोगतवादी अभिव्यक्ति है कि पूंजी ऐसा मनुष्य है जो अपने
लिए पूरे तौर से मिट चुका है, उसी तरह जिस तरह कि पूंजी इस वास्तविकता
की वस्तुगतवादी अभिव्यक्ति है कि श्रम वह मनुष्य है जिसका अपने लिए लोप
हो चुका है। परन्तु मजदूर का दुर्भाग्य यह है कि वह एक जीवित पूंजी है, और,
इसलिए एक ऐसी दीन-हीन पूंजी है जो हर क्षण, जब वह काम नहीं करती
होती, अपनी दिलचस्पी, और इसीलिए, अपनी जीविका, खो देती है। पूंजी के
रूप में मजदूर का मूल्य मांग और पूर्ति के अनुसार बढ़ता है, और शारीरिक
रूप से भी उसके अस्तित्व, उसके जीवन को किसी भी अन्य माल की ही तरह
एक माल की पूर्ति के रूप में ही देखा जाता रहा है, और देखा जाता है। मजदूर
पूंजी पैदा करता है, पूंजी उसे पैदा करती है—इसलिए वह अपने-आप को पैदा
करता है, और मजदूर के रूप में, एक माल के रूप में, मनुष्य इस पूरे चक्र
(cycle) की पैदावार होता है।

मनुष्य के लिए, जो कि एक मजदूर से अधिक कुछ नहीं है—और उसके
लिए एक मजदूर के रूप में—उसके मानवीय गुणों का अस्तित्व केवल उसी हद तक
होता है जिस हद तक कि वे पूंजी के लिए, जो उसके लिए परकीय है, अस्तित्व
रखते हैं। परन्तु, मनुष्य और पूंजी चूंकि परकीय हैं, एक दूसरे के लिए विराने हैं
और इसलिए एक दूसरे के साथ उनके सम्बन्ध का स्वरूप चूंकि अवास्तविक,
बाहरी और आकस्मिक होता है, अतः, अनिवार्य है कि यह परायापन भी एक
वास्तविक वस्तु लगे। इसलिए, पूंजी के दिमाग में (आवश्यकता के कारण,
अथवा स्वच्छन्दता से) ज्यों ही यह बात घुस जाती है कि अब वह (पूंजीपति-

---

* दूसरी पाण्डुलिपि का पृष्ठ ४० इन्हीं शब्दों से शुरू होता है; इसके पहले के पृष्ठ अब नहीं पाये हैं। —सं॰

–अनु०) मजदूर के लिए काम नहीं करेगा त्योंही वह अपने लिए भी काम बन्द कर देता है; उसके (मजदूर के–अनु०) पास कोई काम नहीं रह जाता, अतः मजदूरी भी नहीं रह जाती, और चूंकि मानव प्राणी के रूप में उसका कोई अस्तित्व नहीं है, केवल एक मजदूर के रूप में ही अस्तित्व है, इसलिए वह जाकर चाहे तो अपने को जमींदोज कर ले, चाहे भूखों मर जाये, चाहे कुछ और करे। मजदूर मजदूर के रूप में तभी जिन्दा रहता है जबकि वह पूंजी के रूप में अपने लिए जिन्दा रहता है, और पूंजी के रूप में वह केवल तभी जिन्दा रहता है जब कोई पूंजी उसके लिए मौजूद होती है। पूंजी का अस्तित्व ही उसका अस्तित्व है, उसका जीवन है; क्योंकि वही उसके जीवन के क्रम को इस तरह तय करती है जिससे कि उसमें उसकी दिलचस्पी नहीं रहती।

अतएव, राजनीतिक अर्थशास्त्र बेकार मजदूर को, श्रमजीवी को मान्यता नहीं देता, क्योंकि वह इस श्रम-सम्बन्ध की परिधि से बाहर होता है। उचक्का, ठग, भिखारी, बेकार, भूखों मर रहा कोई अभागा और अपराधी श्रमजीवी–ये ऐसी हस्तियाँ हैं जिनका राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि में कोई अस्तित्व नहीं होता; उनका अस्तित्व केवल दूसरी आंखों के लिए—डाक्टर की, जज की, कब्र खोदने वाले की, और कुर्क-अमीन, आदि की आंखों के ही लिए होता है, राजनीतिक अर्थशास्त्र के कार्य-प्रदेश से बाहर की ये हस्तियाँ उसके लिए मात्र प्रेतात्माएँ होती हैं। इसलिए, उसकी नजर में मजदूर की आवश्यकताएँ केवल एक आवश्यकता के रूप में होती है—जब तक वह काम कर रहा है तब तक और मजदूरों की नस्ल को (मर जाने से) रोकने के लिए जहाँ तक आवश्यक हो वहाँ तक उसका रख-रखाव किया जाय। इस तरह, श्रम की मजदूरी का ठीक वही महत्व होता है जो कि अन्य किसी भी उत्पादक उपकरण के रख-रखाव तथा सफ़ाई, आदि की सेवा का, अथवा सूद सहित पूंजी के पुनरुत्पादन के लिए आम-तौर से आवश्यक उसके (पूंजी के–अनु०) उपभोग का महत्व होता है। वह (मजदूरी–अनु०) उस तेल की ही तरह होती है जिसे पहियों को चालू रखने के लिए लगाया जाता है। अतएव, मजदूरी पूंजी और पूंजीपति के आवश्यक लागत खर्च का ही एक अंग होती है, और उसे इस आवश्यकता की सीमाओं से बाहर नहीं जाना चाहिए। इसलिए, अंग्रेज फ़ैक्टरी मालिक के लिए, १८३४ के संशोधन विधेयक* के पास होने से पहले, मजदूर की मजदूरी में से उसे सरकारी खैरात

* देखिए: कार्ल मार्क्स द्वारा लिखित, "प्रशा का बादशाह और सामाजिक सुधार। एक प्रशावासी द्वारा" (नामक) लेख पर आलोचनात्मक सीमान्त टिप्पणियाँ" (मार्क्स-एंगेल्स, ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ ३९७–९९)—स०

की रकम को पाट लेना, जो उसे गरीबों के लिए क़ायम कोष से मिलती है, और उसे उसकी मजदूरी का एक अभिन्न अंग मानना सर्वथा तर्क-संगत था।"

उत्पादन मनुष्य को सीधे-सीधे एक माल के रूप में, एक मानवीय माल के रूप में, माल की भूमिका अदा करने वाले मनुष्य के रूप में नहीं पैदा करता, इस भूमिका को ध्यान में रखते हुए वह उसे मानसिक तथा शारीरिक रूप से एक मनुष्यत्व-विहीन (Dehumanised) प्राणी के रूप में पैदा करता है। (वह–अनु०) अनैतिकता, कुरूपता, तथा मजदूरों और पूँजीपतियों की मूढ़ता (पैदा करता है–अनु०)–उसकी उत्पत्ति स्वचेतन तथा स्वयं-क्रियाशील माल... मानवीय माल होता है... मानव प्राणी के अस्तित्व की घोषणा करना–माल की अपेक्षा अधिक या कम मानवीय उत्पादकता की बात करना–उसके प्रति उदासीन होना और यहाँ तक कि (उसे–अनु०) हानिकारक (कह देना–अनु०)–स्मिथ और "से" के मुकाबले में रिकार्डो, मिल, आदि का एक बहुत आगे बढ़ा हुआ क़दम है। कहा जाता है कि उत्पादन का असली लक्ष्य यह देखना नहीं है कि कोई पूँजी कितने मजदूरों को काम पर रखती है, बल्कि यह है कि वह कितना सूद लाती है, उसकी वार्षिक बचत (Savings) का कुल योग कितना होता है।

इसी तरह आधुनिक ।।४१। अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र ने भी इस सम्बन्ध में बहुत बड़ी और सुसंगत प्रगति की थी: जबकि श्रम को अपने एकमात्र सिद्धान्त के गौरव-पद पर प्रतिष्ठित कर देने के साथ ही साथ, पूर्ण स्पष्टता के साथ उसने इस बात की भी व्याख्या कर दी थी कि मजदूरी और पूँजी पर मिलने वाले सूद के बीच उल्टा (प्रतिलोम–अनु०) सम्बन्ध होता है, और, साधारण तौर से, केवल मजदूरी को घटा कर ही पूँजीपति मुनाफ़ा कमा सकता है; और, इसी तरह, इसका उल्टा भी सही होता है। सिद्ध कर दिया गया है कि पूँजीपति और मजदूर के बीच का सामान्य सम्बन्ध उपभोक्ता को ठगने का नहीं, बल्कि एक दूसरे को धोखा देने (ठगने–अनु०) का है।

निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों के अन्दर श्रम के रूप में निजी सम्पत्ति का सम्बन्ध, पूँजी के रूप में निजी सम्पत्ति का सम्बन्ध, तथा इन दोनों के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध निहित रहता है। एक तरफ़ तो श्रम के रूप में मानवीय क्रियाशीलता का—अर्थात् एक ऐसी क्रियाशीलता का उत्पादन होता है जो स्वयं अपने लिए, मनुष्य के लिए, और प्रकृति के लिए, और इसीलिए चेतना एवं जीवन की अभिव्यक्ति के लिए, एकदम परकीय होती है—मात्र एक ऐसे मजदूर के रूप में मनुष्य के निराकार अस्तित्व का उत्पादन होता है जो, इसीलिए, सारे भरे हुए शून्य में से पूर्ण शून्य में—अपनी सामाजिक, और इसीलिए वास्तविक

अस्तित्व-विहीनता के शून्य में, हर दिन गिर जा सकता है। दूसरी तरफ पूँजी के रूप में मानवीय क्रियाशीलता की उस वस्तु का उत्पादन होता है। जिसमें कि उक्त वस्तु की समस्त प्राकृतिक एवम् सामाजिक विशिष्टताएँ नष्ट (अस्तित्व-विहीन —अनु०) हो जाती हैं, जिसमें कि निजी सम्पत्ति के प्राकृतिक और सामाजिक गुण विलुप्त हो गये हैं (और इसलिए समस्त राजनीतिक और सामाजिक भ्रम भी मिट गये हैं, और प्रकट रूप से किसी भी मानवीय रिश्ते से उसका सम्बन्ध नहीं रह गया है); जिसमें कि वह पूँजी अनिवार्यतः नाना प्रकार की प्राकृतिक तथा सामाजिक अभिव्यक्तियों के रूप में भी (अपनी वास्तविक अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में पूर्णतया उदासीन बनी रहते हुए) वही बनी रहती है। चरम सीमा पर पहुँच जाने पर, अनिवार्यतः यह अन्तर्विरोध निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों की सीमा, पराकोटि, और उसकी पूरी दुनिया के पतन का कारण बन जाता है।

इसलिए यह घोषित करना कि भूमि का लगान सूद का वह अन्तर होता है जो खेती का सबसे निकृष्ट और सबसे अच्छी भूमि से मिलता है, भूस्वामी के उन रोमांसवादी भ्रमों का—उसके तथाकथित सामाजिक महत्व तथा समाज के हित के साथ उसके हित की अभिन्नता के भ्रमों का—जिनमें फिजियोक्रेटों (अठारहवीं शताब्दी के भू-अर्थशास्त्रियों—अनु०) के बाद एडम स्मिथ की अब भी आस्था बनी हुई है [पर्दाफाश*] कर देना; और इस वास्तविक जगत की गतिशीलता का पूर्वानुमान [करना**] तथा उसके लिए (गतिशीलता के लिए —अनु०) ज़मीन तैयार कर देना जो भू-स्वामी को एक साधारण, नीरस पूँजीपति में बदल देगी और इस प्रकार [पूँजी और श्रम के बीच के] अन्तर्विरोध को सरल तथा और भी तेज़ कर देगी तथा उसके समाधान को नजदीक ला देगी—आधुनिक अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र की दूसरी महान उपलब्धि है। भूमि के रूप में भूमि ने, और लगान के रूप में लगान ने अपने पद का सम्मान-चिह्न खो दिया है और वे अकिंचन पूँजी और सूद अथवा कहना चाहिए कि, ऐसी पूँजी और सूद बन गये हैं जिनका अर्थ केवल रुपया होता है। पूँजी और भूमि, मुनाफा और लगान के बीच का अन्तर, और इन दोनों और मजदूरी के बीच का अन्तर, तथा उद्योग-धन्धों और कृषि के बीच का एवम् अचल और चल निजी सम्पत्ति के बीच का अन्तर-वस्तुओं की प्रकृति में नहीं निहित है बल्कि एक ऐतिहासिक अन्तर है; पूँजी और श्रम के बीच के अन्तर्विरोध के उठने और विकसित होने के क्रम में वह एक निश्चित ऐतिहासिक दशा

---

* पाण्डुलिपि यहाँ छिन्नभिन्न हो गयी है।—सं०

है । अचल भू-सम्पत्ति के विपरीत, उद्योग; आदि में केवल उस रास्ते की अभिव्यक्ति हुई है जिस पर चल कर [उद्योग का] जन्म हुआ है और कृषि के साथ उसके उस अन्तर्विरोध का (उद्घाटन हुआ है–अनु०) जिसके अन्दर से उद्योग-धन्धों का विकास हुआ है । यह अन्तर एक विशेष प्रकार के काम के रूप में–एक आवश्यक, महत्वपूर्ण, तथा जीवन-व्यापी अन्तर के रूप में–केवल तभी तक बराबर क़ायम बना रहता है जब तक कि उद्योग (शहरी जीवन) भू-सम्पत्ति (ज़मींदार-वर्गीय सामन्ती जीवन) के ऊपर और उसके ख़िलाफ़ विकसित होता रहता है तथा, एकाधिकार, शिल्प, शिल्प-संघ, निगम, आदि के रूप में, अपने विरोधी के उस सामन्ती स्वरूप को स्वयं भी लगातार धारण किये रहता है जिसके अन्दर श्रम का अब भी ऊपर से दिखने वाला सामाजिक महत्व है, वास्तविक लोक समाज का अब भी महत्व है और जो अभी तक अपनी अन्तर्वस्तु के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करने की अवस्था तक, पूरे तौर से स्वयं अपने लिए होने की" अवस्था तक, अर्थात् समस्त अन्य सत्ता से अलगाव की अवस्था तक नहीं पहुंचा है, और, इसलिए, अभी तक पूर्णतया मुक्त हो गयी पूंजी नहीं बना है ।

॥४२॥ किन्तु मुक्त हो गया उद्योग, स्वयं अपने लिए क़ायम हुआ उद्योग, तथा मुक्त हो गयी पूंजी–ये श्रम के विकास के अवश्यम्भावी परिणाम हैं । अपने विरोधी के ऊपर उद्योग की जो शक्ति है वह कृषि के एक वास्तविक उद्योग के रूप में उभर आने से तत्काल प्रकट हो जाती है; इससे पहले वह (अर्थात् भूमि–अनु०) अधिकांश काम धरती तथा धरती के उस दास के ज़िम्मे छोड़ देती थी जिसके द्वारा धरती (ज़मीन–अनु०) स्वयं खेती कर लेती थी । दास के एक मुक्त मज़दूर में–अर्थात् भाड़े के एक टट्टू में–रूपान्तरित हो जाने के बाद भूस्वामी स्वयं उद्योग के एक नायक के, एक पूंजीपति के रूप में रूपान्तरित हो जाता है । यह ऐसा रूपान्तरण है जो प्रारम्भ में शिकमी काश्तकार के माध्यम से होता है । परन्तु, शिकमी काश्तकार भूस्वामी का प्रतिनिधि–भूस्वामी का गुप्त [illegible] होता है; भूस्वामी का आर्थिक अस्तित्व–एक निजी मालिक के रूप में उसका अस्तित्व–शिकमी काश्तकार की ही वजह से होता है, क्योंकि उसे मिलने वाले लगान का आधार काश्तकारों के बीच चलने वाली प्रतियोगिता ही होता है ।

इस प्रकार, शिकमी काश्तकार की काया के रूप में भूस्वामी पहले ही एक रूप में एक साधारण पूंजीपति बन चुका है । और लाज़मी है कि वास्तविक जीवन में भी ऐसा ही हो जाये: कृषि में लगे हुए पूंजीपति के लिए–शिकमी काश्तकार के लिए–भूस्वामी बन जाना, अथवा इसका उल्टा हो जाना, [illegible] है । भूस्वामी काश्तकार द्वारा किया जाने वाला औद्योगिक [illegible]

भूस्वामी का औद्योगिक मोल-तोल होता है, क्योंकि पहले का (आसामी काश्तकार का–अनु०) अस्तित्व दूसरे के (भूस्वामी के – अनु०) अस्तित्व की स्वीकृति पर ही आधारित होता है।

किन्तु अपने अस्तित्व के भिन्न-भिन्न स्रोतों, अपने वंशानुक्रम (कुल–अनु०) की जानकारी रखते हुए, भूस्वामी इस बात को जानता है कि पूंजीपति उसका कल का मुक्त हो गया, बदतमीज, धनाढ्य बन गया दास है और स्वयं अपने को भी अब वह एक ऐसे पूंजीपति के रूप मे देखता है जिसके लिए उससे खतरा है। पूंजीपति भूस्वामी को कल के एक काहिल, क्रूर, स्वार्थी स्वामी के रूप में जानता है: वह जानता है कि उसकी पूंजीपति वाली हैसियत को वह नुकसान पहुचाता है, किन्तु अपने वर्तमान समस्त सामाजिक महत्व, अपनी समस्त धन-दौलत तथा अपने समस्त सुख-आनन्द के लिए वह उद्योग का ही ऋणी है; उसे उसमे [भूस्वामी मे] मुक्त उद्योग और मुक्त पूंजी का—ऐसी पूंजी का विरोध दिखलायी देता है जो सभी प्राकृतिक सीमाओं से स्वतन्त्र हो। यह अन्तर्विरोध [भूस्वामी और पूंजीपति के बीच का] बहुत ही कटु होता है, और उनमे से हर एक दूसरे की असलियत को खोल देता है। उनमे से प्रत्येक कितना रद्दी व बेकार है इसे अच्छी तरह जानने के लिए केवल उन आक्षेपों को पढ लेना काफ़ी होगा जो अचल सम्पत्ति ने चल सम्पत्ति पर और चल सम्पत्ति ने अचल सम्पत्ति पर किये हैं। भूस्वामी अपने अभिजात वर्गीय कुल-गोत्र पर, अपने सामन्ती स्मृति-चिन्हों पर, अपने संस्मरणों, अपनी यादों की कविता पर, अपने रोमांसवादी स्वभाव पर तथा अपने राजनीतिक महत्व, आदि पर बल देता है, और जब वह अर्थशास्त्र की बात करता है तब केवल कृषि को ही वह उत्पादक मानता है। इसी के साथ-साथ, अपने विरोधी को वह एक मक्कार, लुटेरे, पर-निन्दक, धोखेबाज, लालची, किराये के टट्टू, बागी और ऐसे हृदय और आत्म-विहीन व्यक्ति के रूप मे चित्रित करता है जो जन समाज से कटा हुआ है और बिना किसी शर्म-लिहाज के उसका सौदा करके उसे बेच देता है, जो प्रतियोगिता को जन्म देता है, उसे बढाता है और उसे सजोता है और, इसी के साथ-साथ, दरिद्रता, और अपराधों को जन्म देता है तथा समस्त सामाजिक बन्धनों को नष्ट कर देता है, जो कि जबर्दस्ती पैसा वसूलने वाला, दलाली करने वाला, दासवृत्ति रखने वाला, चिकना-चुपड़ा, चापलूसी करने वाला, ठगने वाला ऐसा पक्का धूर्त है जिसमे न इज्जत-आबरू की भावना है, न सिद्धांत, न कविता, न कोई गुण और न कोई और चीज है। (अन्य लोगों के साथ-साथ फ़िज़ियोक्रैट बर्गा से को पढिए जिसकी कैमील देसमोलीन्स ने अपनी पत्रिका "फ्रांस की क्रांतियाँ तथा ब्रबान्त"

मे पूरी तरह खाल उधेड़ी है. फौन थिके, मान्सीओले, हॉलेर, नियो, कोसेगार्टेन तथा सिसमान्दी को भी पढ़िए ।)

दूसरी ओर, चल सम्पत्ति स्वयं उद्योग और प्रगति के चमत्कारों का बखान करती है । वह आधुनिक काल की सन्तान है, उसी का वैध, घर में ही जन्मा पुत्र है । अपने विरोधी को भोंदू बताकर वह उस पर तरस खाती है—वह जिसे स्वयं अपनी प्रकृति का ज्ञान नहीं है (और उसकी यह बात बिल्कुल सही है), जो नैतिकतामरी पूंजी और मुक्त श्रम की जगह पर पाशविक, अनैतिक, हिंसा तथा अर्घ-दासता की प्रतिष्ठा कर देना चाहती है । वह उसे एक डॉन क्विक्जोट के रूप मे चित्रित करती है, जो कि अपने मुंहफटपने, सम्माननीयता, सामान्य हित तथा स्थिरता की आड मे प्रगति करने की अपनी अक्षमता, लोलुपतापूर्ण सुख-सुविधा-प्रियता, स्वार्थान्धता, सकुचित हितवादिता तथा दुष्ट इरादे पर पर्दा डालता है । वह उसे एक चालाक एकाधिकारी घोषित करती है. उसके संस्मरणों, उसके काव्य, तथा उसके रोमांसवाद पर ऐतिहासिक तथा व्यंग्यात्मक रूप से यह बतलाकर ठंडा पानी डाल देती है कि उसके वे रोमांसवादी किले किस प्रकार की नीचता, क्रूरता, अधःपतन, वेश्यावृत्ति, कुख्याति, अराजकता तथा विद्रोह के कारखाने बने हुए थे ।

।।४३। वह (चल सम्पत्ति—अनु०) यह दावा करती है कि उसने सबको राजनीतिक आजादी दिलायी है; उन श्रृंखलाओं को ढीला किया है जो सभ्य समाज को जकड़े हुए थीं; अलग-अलग पड़ी हुई दुनियाओं को एकता के सूत्र में बांध दिया है; ऐसे व्यापार का चलन किया है जिसने क़ौमों के बीच मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं; शुद्ध नैतिकता और एक प्रीतिकर संस्कृति की सृष्टि

---

* दूसरी ओर, उस झगड़ालू, पुराने-हीगेलवादी धर्मशास्त्री फुके को पढ़िए जो, भी नियो की ही तरह, अपनी आँखों मे आँसू भर कर बतलाता है कि, जब अर्द्धदास प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया था तब एक दास ने किस प्रकार इस बात से इन्कार कर दिया था कि आगे से वह अभिजात वर्ग की सम्पत्ति" नहीं रहेगा । जस्टस मोज़र के देशभक्तिपूर्ण दिवास्वप्नों को भी पढ़िए जिनकी विशेषता यह है कि वे एक क्षण के लिए भी [...] (यहाँ कुछ शब्द पढ़े नहीं जा सकते) एक अधकचरे व्यक्ति के सम्माननीय, निम्न-पूंजीवादी "घर के पके" साधारण, सकुचित क्षितिज को नहीं तिलांजलि दे सकते; परन्तु, इसके बावजूद, शुद्ध कल्पना बने रहते हैं । इस अन्तर्विरोध ने उन्हें जर्मन हृदय के अत्यन्त समीप पहुंचा दिया है । —मार्क्स द्वारा लिखी गयी टिप्पणी ।

ती है; लोगों की अमार्जित आवश्यकताओं के स्थान पर सुसभ्य आवश्यकताओं की प्रतिष्ठा कर दी है, और उनकी सम्पूर्ति के साधन जुटा दिये है। इसी के साथ-साथ, वह यह भी कहती है कि भूस्वामी—यह निठल्ला, पराजीवी, गल्ले का मुनाफाखोर—जनता की बुनियादी आवश्यकताओं की कीमत बढ़ा देता है और, इस तरह, उत्पादकता में वृद्धि किये बिना ही, पूंजीपति को मजदूरी में वृद्धि करने के लिए विवश कर देता है, (और) इस तरह, राष्ट्र की वार्षिक आय [की वृद्धि को], पूंजी के संचय को, और इसलिए लोगों के लिए काम और देश के लिए धन-सम्पदा को जुटाने की सम्भावना के मार्ग में रोड़े अटकाता है; अन्ततोगत्वा वह इस सम्भावना को ही समाप्त कर देता है जिससे कि एक आम ह्रास की स्थिति पैदा हो जाती है—और वह, उसके लिए रत्ती भर भी कुछ किये बिना तथा अपने सामन्ती विद्वेषों को जरा भी कम किये हुए, आधुनिक सभ्यता के प्रत्येक फायदे का पराजीवी ढंग से उपभोग करता है। अन्त में, वह—जिसके लिए भूमि का जोतना-बोना और भूमि स्वय मात्र उस रुपये के एक स्रोत के रूप में ही अस्तित्व रखते है जो उसे मुफ्त में एक भेंट के रूप में मिल जाता है—जरा अपने शिकमी काश्तकार के ऊपर एक नजर डाले और फिर बतलाये कि क्या वह खुद एक पक्का, अपना मतलब सिद्ध करने वाला, धूर्त, बदमाश नहीं है जो अपने दिल में और वास्तविक जीवन में भी बहुत दिनों से मुक्त उद्योग और आनन्ददायी व्यापार के साथ सम्बन्ध रखता आया है—ऐतिहासिक संस्मरणों तथा नैतिक अथवा राजनीतिक लक्ष्यों के विषय में चाहे वह कितना ही विरोध और कितनी ही बकवास क्यों न करता रहा हो! अपने को सही ठहराने के लिए हर वह चीज जिसे वास्तव में वह पेश कर सकता है केवल जमीन पर खेती करने वाले काश्तकार (पूंजीपति और मजदूरों) के ही सम्बन्ध में सच है जिसका कि भूस्वामी दरअसल दुश्मन है। इस भांति, अपने विरुद्ध वह स्वय गवाही देता है। [चल-सम्पत्ति दावा करती है कि] पूंजी के बिना भूसम्पत्ति मृत, निकम्मी चीज होती है, कि उसकी (पूंजी की—अनु०) सभ्यतापूर्ण विजय ने इस बात को खोज निकाला है कि मानवीय श्रम मृत वस्तु के बजाय धन-सम्पदा का स्रोत है और उसे उसका स्रोत बना दिया है। (देखिए : पॉल लुई, कूरिये, सेण्ट-साइमन, गैनिल्ह, रिकार्डो, मिल, मेक्कलोच तथा देश्तुत् द' ट्रेसी, और मिचेल शेवालियर।)

विराम के वास्तविक क्रम के फलस्वरूप (इसी जगह इसे जोड़ना होगा), भूस्वामी के ऊपर पूंजीपति की, अर्थात् अविकसित, अपरिपक्व निजी सम्पत्ति के ऊपर विकसित निजी सम्पत्ति की—अनिवार्यतः विजय हो जाती है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि, आम तौर से, गतिशीलता की निश्चलता के ऊपर; खुली,

सचेत नीचता की छिपी, चेतना-विहीन नीचता के ऊपर; धनलिप्सा की सुख-सुविधा-प्रियता के ऊपर; ज्ञानोद्दीप्ति के घोषित रूप से अशान्त, चतुर स्वार्थ की अन्धविश्वास के स्थानीय, सांसारिक दृष्टि से होशियार, सम्पत्ति, निठल्ले और मूर्खतापूर्ण निज-स्वार्थ के ऊपर; तथा रुपये की निजी सम्पत्ति के अन्य स्वरूपों के ऊपर विजय होना अवश्यम्भावी होता है।

वे राज्य जिन्हें पूर्ण रूप से विकसित मुक्त उद्योग में पूर्ण रूप से विकसित शुद्ध नैतिकता तथा पूर्ण रूप से विकसित जन-हितैषी व्यापार में खतरा ही खतरा दिखलायी देता है, भूसम्पत्ति के पंजीकरण की प्रक्रिया की रोकथाम करने की कोशिश करते हैं, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिलती।

पूंजी से भू-सम्पत्ति इस बात मे भिन्न होती है कि वह ऐसी निजी सम्पत्ति—पूंजी—होती है जो अब भी स्थानीय तथा राजनीतिक विद्वेषों से ग्रस्त होती है; वह ऐसी पूंजी होती है जो दुनिया के साथ अपने फंसाव से अभी तक अपने को मुक्त नहीं कर पायी है और अपने अनुकूल कोई रूप नहीं ढूंढ़ पायी है—वह ऐसी पूंजी है जो अभी तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई है। अपनी विश्व-सृष्टि (cosmogony) के क्रम मे, आवश्यक है कि, वह अपने अमूर्त, अर्थात् शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर ले।

निजी-सम्पत्ति के चरित्र की अभिव्यक्ति श्रम, पूंजी, तथा इन दोनों के बीच के सम्बन्धों के माध्यम से होती है। इन संघटकों को जिस प्रक्रिया से गुजरना होता है वह इस प्रकार है:

प्रथम: बिना मध्यस्थता के या माध्यस्थता के मध्यम से दोनों के बीच एकता की अवस्था।

पूंजी और श्रम आरम्भ मे एकताबद्ध होते हैं। फिर, यद्यपि वे अलग और पृथक हो जाते हैं, वे एक दूसरे का सकारात्मक रूप में विकास तथा संवर्धन करते रहते हैं।

[दूसरे] दोनों के बीच विरोध की अवस्था—जिसमें वे एक दूसरे को अपने से विलग रखते हैं। मजदूर जानता है कि पूंजीपति स्वयं उसकी अस्तित्व हीनता है, और यही बात उल्टे रूप मे सही है: प्रत्येक दूसरे से उसके अस्तित्व का बलपूर्वक हरण कर लेना चाहता है।

[तीसरे।] प्रत्येक के स्वयं से विरोध की अवस्था। पूंजी = संचित श्रम। पूंजी के रूप में वह स्वयं पूंजी तथा उसके ब्याज में विभक्त हो जाती है और यह ब्याज फिर ब्याज और मुनाफे में (विभक्त हो जाता है—अनु०) पूंजीपति

पूरे तौर से बलि चढ़ जाता है। वह मजदूर वर्ग की श्रेणी में पहुंच जाता है; और मजदूर पूंजीपति बन जाता है (किन्तु ऐसा केवल अपवाद रूप में ही होता है)। श्रम पूंजी की एक आवश्यकता—उसकी लागत। इस प्रकार, श्रम की मजदूरी—पूंजी की कुर्बानी होती है।

श्रम स्वयं श्रम में तथा श्रम की मजदूरी में विभक्त हो जाता है। मजदूर स्वयं एक पूंजी, एक माल।

पारस्परिक अंतर्विरोधों की टक्कर। ।४३।।

[तीसरी पाण्डुलिपि]

[निजी सम्पत्ति और श्रम। राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति की गतिशीलता की एक उत्पत्ति के रूप में]

॥१। भाग ३६* के सम्बन्ध मे। निजी सम्पत्ति का—स्वय अपने लिए क्रियाशीलता के रूप मे, कर्त्ता (Subject) के रूप में, व्यक्ति के रूप में, निजी सम्पत्ति का—आत्म-लक्षी सार (Subjective essence) श्रम है। अतएव, यह बात स्पष्ट है कि केवल उसी राजनीतिक अर्थशास्त्र को जो श्रम को अपना मूल-स्रोत मानता है—एडम स्मिथ—और जो, इसीलिए, निजी-सम्पत्ति को अब मनुष्य से बाहर की मात्र एक स्थिति नही मानता—इसी राजनीतिक अर्थशास्त्र को स्वीकार किया जाना है : एक ओर तो निजी-सम्पत्ति की वास्तविक कर्मशक्ति (energy) तथा वास्तविक गतिशीलता (Movement) की उत्पत्ति के रूप में (यह निजी सम्पत्ति की ऐसी गतिशीलता है जो चेतना मे स्वयं अपने लिए स्वतन्त्र हो गयी है, आधुनिक उद्योग (की शक्ल में—अनु०) स्व बन गयी है), आधुनिक उद्योग की उत्पत्ति के रूप मे; और, दूसरी ओर, एक ऐसी शक्ति के रूप मे जिसने आधुनिक उद्योग की कर्मशक्ति और उसके विकास को गौरवान्वित किया है तथा चेतना के क्षेत्र में उसे एक शक्ति बना दिया है।

अत:, इस प्रबुद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्र को, जिसने—निजी-सम्पत्ति के अन्दर-धन-सम्पदा के आत्मलक्षी सार (Subjective essence) को ढूँढ निकाला है, मुद्रा तथा वाणिज्य प्रणाली के अनुयायी, जो निजी सम्पत्ति को मनुष्यों के विरोध मे खड़ी मात्र एक वस्तुगत चीज मानते हैं, जड़ पूजावादी (fetishists), कट्टर ईसाई-धर्मवादी (Catholics) लगते है। अतएव, एंगेल्स

* यहाँ दूसरी पाण्डुलिपि के लुप्त हो गये भाग का हवाला दिया जा रहा है। —स०

एडम स्मिथ को जब राजनीतिक अर्थशास्त्र का लूथर* कहा था तब उन्होंने ठीक ही बात कही थी। जिस तरह लूथर धर्म को, श्रद्धा को—बाह्य संसार का मूल-तत्व मानते थे और, इसलिए, कट्टर ईसाई-धर्म के मूर्ति पूजावाद का विरोध करते थे—जिस तरह धार्मिकता को मनुष्य का आन्तरिक तत्व बनाकर उन्होंने बाह्य धार्मिकता को स्थानच्युत कर दिया था, जिस तरह पादरी को साधारण आदमियों के दिलों में बैठाकर उन्होंने साधारण आदमी से बाहर के पादरियों का निषेध कर दिया था, उसी तरह की बात धन-सम्पदा (wealth) के सम्बन्ध में है . धन-सम्पदा का एक ऐसी ऐतिहासिक चीज़ के रूप में जो मनुष्य से बाहर और उससे स्वतन्त्र है और, इसलिए, जो एक ऐसी चीज़ है जिसे केवल बाहरी ढंग से सुरक्षित रखा जाना तथा स्थापित किया जाना है—अन्त कर दिया गया है, अर्थात्, निजी-सम्पत्ति को मनुष्य के अन्दर स्थापित करके और स्वयं मनुष्य को उसके सार के रूप में स्वीकार करके, धन-सम्पदा की इस बाह्य, मस्तिष्क-विहीन वस्तुगतता (external, mindless Objectivity) का अन्त कर दिया गया है। किन्तु, इसके फलस्वरूप मनुष्य को निजी सम्पत्ति की परिधि के अन्दर खींच ले आया गया है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि लूथर ने उसे धर्म की परिधि के अन्दर पहुँचा दिया था। मनुष्य को मान्यता प्रदान करने के बहाने यह राजनीतिक अर्थशास्त्र जिसका सिद्धान्त श्रम है, मनुष्य की अस्वीकृति (खण्डन–अनु०) को उल्टे उसके तार्किक परिणाम तक पहुँचा देता है, क्योंकि स्वयं मनुष्य का बाह्य सम्बन्ध निजी-सम्पत्ति के बाह्य तत्व के साथ अब तनाव का नहीं रह जाता, बल्कि अब वह स्वयं निजी-सम्पत्ति का तनावपूर्ण लक्ष्य बन गया है। पहले स्वयं अपने से बाह्य होने की—मनुष्य के वास्तविक बाह्यीकरण (externalisation) की—जो क्रिया थी वह मात्र बाह्यीकरण की क्रिया, परकीयकरण की प्रक्रिया बन गयी है।

ऐसा आभास होता है कि यह राजनीतिक अर्थशास्त्र मनुष्य की (उसकी स्वतन्त्रता, आत्म-स्फूर्तता, आदि की) मान्यता (अभिस्वीकृति–अनु०) से आरम्भ करता है, फिर, यह निर्धारित करके कि निजी सम्पत्ति तो स्वयं मनुष्य की सत्ता के ही अन्दर स्थित है वह निजी सम्पत्ति की स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्य विशिष्टताओं से इस रूप में प्रभावित नहीं हो सकता जैसे कि वे कोई ऐसी चीजें हों जिनका अस्तित्व स्वयं उसके बाहर रहा है। फलतः, यह राजनीतिक अर्थशास्त्र एक सार्वभौमी, सर्वव्यापी ऐसी शक्ति का परिचय देता है

* देखिए : फ्रेडरिक एंगेल्स की रचना, "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा" (इस पुस्तक के परिशिष्ट में)। –सं०

जो कि प्रत्येक प्रतिबन्ध तथा बन्धन को भंग करके उनके स्थान पर स्वयं अपनी स्थापना एकमात्र राजनीतिक, एकमात्र सार्वभौमिकता, एकमात्र सीमा तथा एकमात्र बन्धन के रूप में कर लेती है। अतः यह अनिवार्य है कि अपने विकास के अग्रिम क्रम में वह पाखण्ड के अपने इस लबादे को उतार कर फेंक दे और अपने पूर्ण मानव-द्वेषी रूप में सामने आ जाय। और—इस सिद्धान्त के फलस्वरूप जिन समस्त प्रत्यक्ष अन्तर्विरोधों में वह फँस जाता है उनसे रत्ती भर भी परेशान हुए बिना—श्रम के विचार को और भी अधिक एकपक्षी ढंग से और, इसीलिए, और भी अधिक तीव्रता से तथा और भी अधिक सुसंगत रूप से धन-सम्पदा के एकमात्र सार-तत्व के रूप में विकसित करके; (और) उस दूसरे, भौतिक दृष्टिकोण के विपरीत, यह सिद्ध करके कि इस सिद्धान्त का आन्तरिक स्वरूप मानव विरोधी है-वह ठीक ऐसा ही करता है। अन्त में लगान पर निजी-सम्पत्ति की उस अन्तिम, वैयक्तिक, प्राकृतिक विधा तथा धन-सम्पदा के उस स्रोत पर सांघातिक प्रहार करके जो श्रम की संचलन-क्रिया (movement) से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, अर्थात् सामन्ती सम्पत्ति की अभिव्यक्ति पर, उस अभिव्यक्ति पर सांघातिक प्रहार करके, जो पूर्णतया आर्थिक रूप ग्रहण कर चुकी है और, इसलिए, राजनीतिक अर्थशास्त्र का सामना करने में असमर्थ हो गयी है—उसने ठीक ऐसा किया है। (रिकार्डो की सिद्धान्त-प्रणाली)। स्मिथ से 'से' तक तथा 'से' से रिकार्डो, मिल, आदि तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के मानव द्वेषी स्वरूप (cynicism) में न केवल सापेक्ष रूप से इस कारण अधिक वृद्धि हुई है कि जिन लोगों के एकदम आखिर में नाम लिये गये हैं उनके सामने उद्योग-धन्धों का गूढ़ रूप अधिक विकसित तथा अधिक परस्पर-विरोधी शक्ल में सामने आ गया है; बल्कि, मनुष्य से अपने पृथक्करण की प्रक्रिया में बाद वाले ये अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में अपने पूर्वजों की अपेक्षा एक सकारात्मक अर्थ में भी निरन्तर तथा सचेत रूप से कहीं अधिक आगे बढ़ गये हैं। किन्तु, ऐसा उन्होंने केवल इसलिए किया है कि उनके विज्ञान का विकास अधिक सुसंगत तथा सच्चे रूप में हो रहा है। निजी-सम्पत्ति को उसके सक्रिय रूप में वे चूँकि कर्त्ता (subject) बनाते हैं और, इस प्रकार, साथ ही साथ, मनुष्य को मूल-तत्व (essence) में—तथा इसी के साथ मनुष्य को एक गैर-तात्त्विकता से मूल-तत्व में परिणत कर देते हैं, इसलिए वास्तविकता का अन्त-विरोध उस अंतर्विरोधी सत्ता के साथ पूरे तौर से मेल खा जाता है जिसे अपने सिद्धान्त के रूप में वे स्वीकार करते हैं। उसका खण्डन करने की बात तो दूर रही, उद्योग-धन्धों का विदीर्ण ॥२। संसार उल्टे उनके आत्म-विदारित (ruptu-

red) सिद्धान्त की पुष्टि ही करता है। उनका सिद्धान्त, आखिर तो, इस विदारण का ही सिद्धान्त है।

डा॰ कुएसने का फ़िजियोक्रैटी* सिद्धान्त वाणिज्यिक व्यवस्था (mercantile system) से एडम स्मिथ की ओर बढ़ने में बीच की एक कड़ी का काम देता है। फ़िजियोक्रैसी का अर्थ आर्थिक शब्दावली में सीधे-सीधे यह होता है कि सामन्ती सम्पत्ति विगलित हो गयी है, परन्तु ठीक इसीलिए उसका अर्थ सीधे-सीधे यह भी होता है कि उसका (सामन्ती सम्पत्ति का—अनु॰) आर्थिक रूपान्तरण (metamorphosis), तथा पुनर्स्थापन (restoration) हो गया है—अन्तर केवल इतना ही है कि उसकी भाषा अब सामन्ती न रहकर आर्थिक हो गयी है। सारा धन भूमि और खेती (कृषि) में विभाजित हो गया है। भूमि अभी तक पूंजी नहीं बनी : वह अब भी उसके अस्तित्व की एक ऐसी विशेष विधा बनी हुई है—जिसकी वैधता, कहा जाता है कि, उसकी प्राकृतिक, विशिष्टता में निहित है तथा उसकी उत्पत्ति भी उसी से होती है। परन्तु भूमि एक सामान्य प्राकृतिक तत्व है और वाणिज्यिक व्यवस्था धन के अस्तित्व को केवल बहुमूल्य धातु के ही रूप में स्वीकार करती है। इस भाँति, प्रकृति की सीमाओं के अन्तर्गत धन की वस्तु (object) ने—उसके द्रव्य (matter) ने—अधिकतम मात्रा में सार्वभौमिकता की स्थिति प्राप्त कर ली है, क्योंकि प्रकृति के रूप में भी तात्कालिक वस्तुगत रूप से वह धन होती है। और मनुष्य के लिए भूमि का अस्तित्व केवल श्रम के ही माध्यम से, कृषि के ही माध्यम से होता है।

इस प्रकार धन के आत्मनिष्ठ मूल-तत्व (subjective essence) को पहले से ही श्रम में स्थानान्तरित कर दिया गया है। किन्तु, साथ ही साथ, कृषि ही एकमात्र उत्पादक श्रम होती है। अतः, श्रम को अभी तक उसकी सामान्यता (generality) तथा अमूर्तता (abstraction) के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है : अब भी उसके मूलद्रव्य (matter) के रूप में वह एक विशेष प्राकृतिक तत्व के साथ जुड़ा हुआ है, और इसलिए उसे प्रकृति द्वारा निर्धारित अस्तित्व की एक विशेष विधा के रूप में ही जाना-माना जाता है। इसलिए अब भी वह मनुष्य का एक निजी, विशिष्ट प्रकार का परकीयकरण है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि उसकी उत्पत्ति की भी परिकल्पना धन के लगभग एक ऐसे विशिष्ट रूप में ही की जाती है जिसकी उपलब्धि श्रम की

---

* फ़िजियोक्रैट : ये १८ वीं शताब्दी के भू-अर्थशास्त्री या प्रकृतिवादी थे जिनका सिद्धान्त यह था कि भूमि और कृषि ही धन के स्रोत हैं।—स॰

अपेक्षा प्रकृति से ही अधिक होती है। भूमि को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अब भी मनुष्य से स्वतन्त्र, प्रकृति के एक घटना-प्रवाह के रूप में ग्राह्य किया जाता है—पूँजी के, अर्थात् स्वयं श्रम के एक पक्ष के रूप में नहीं। उल्टे, श्रम स्वयं ही भूमि का एक पक्ष प्रतीत होता है। परन्तु चूँकि पुराने बाह्य धन को, केवल एक वस्तु के रूप में अस्तित्व रखने वाले धन को, अन्ध-श्रद्धा (fetishism) को एक अत्यन्त सरल प्राकृतिक तत्व का रूप दे दिया गया है, और चूँकि उसके मूल-तत्व को चाहे केवल आंशिक रूप से और एक विशिष्ट स्वरूप में ही सही—उसके आत्मनिष्ठ अस्तित्व के अन्तर्गत मान लिया गया है, इसलिए धन की सामान्य प्रकृति (general nature) को स्पष्ट करने की दिशा में और, इसलिए, श्रम को उसकी सम्पूर्ण निरपेक्षता (total absoluteness) में (अर्थात्, उसकी अमूर्तता में) सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में आवश्यक अग्रिम क़दम उठा लिया गया है। भू-अर्थशास्त्र (फ़िज़ियोक्रेसी) के विरुद्ध तर्क किया जाता है कि, आर्थिक दृष्टिकोण से—अर्थात्, एकमात्र तर्कसिद्ध दृष्टिकोण से—कृषि किसी भी अन्य उद्योग से भिन्न नहीं होती; और इसलिए धन का मूल-तत्व किसी एक विशिष्ट तत्व के साथ सम्बद्ध श्रम का कोई निश्चित (specific) रूप—श्रम का कोई विशिष्ट प्रकाश्य रूप—नहीं होता, बल्कि सामान्य श्रम (labour in general) ही होता है।

श्रम को धन का मूल तत्व घोषित करके भू-अर्थशास्त्र (फ़िज़िओक्रेसी) विशिष्ट, बाह्य, मात्र वस्तुनिष्ठ (objective) धन के अस्तित्व से इन्कार करता है। किन्तु भू-अर्थशास्त्र (फ़िजिओक्रेसी) की दृष्टि से श्रम सर्वप्रथम भू-सम्पत्ति का ही केवल आत्म-निष्ठ मूलतत्व (subjective essence) होता है। (इसका उस किस्म की सम्पत्ति से वह फ़र्क़ करता है जो ऐतिहासिक और से प्रमुख तथा मान्यता-प्राप्त रूप में आविर्भूत हुई है।) वह भू-सम्पत्ति को ही परकीयकृत मनुष्य (alienated man) में रूपान्तरित कर देता है। उसके सामन्ती चरित्र को वह केवल यह कह कर ही समाप्त कर देता है कि उसका मूलतत्व उद्योग (कृषि) है। परन्तु उद्योग की दुनिया को यह कह कर अंगीकार कर लेता है कि कृषि ही एकमात्र उद्योग है।

स्पष्ट है कि उद्योग के आत्मनिष्ठ मूलतत्व को (भू-सम्पत्ति के विरुद्ध उद्योग को, अर्थात्, उद्योग द्वारा स्वयं अपने को उद्योग के रूप में गठित कर लेने की बात को) यदि अब हृदयगम कर लिया गया है, तो इस मूल-तत्व के अन्दर उसका विरोधी तत्व भी समाविष्ट है। क्योंकि, उद्योग जिस प्रकार उन्मूलित कर दी गयी भू-सम्पत्ति को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है, उसी प्रकार उद्योग

का आत्मनिष्ठ मूल-तत्व भी भू-सम्पत्ति के आत्मनिष्ठ मूलतत्व को अपने अन्दर एकीभूत कर लेता है।

जिस तरह कि भू-सम्पत्ति निजी सम्पत्ति का प्रथम रूप होती है, और उद्योग शुरू-शुरू में उसके मुकाबले में ऐतिहासिक रूप से सम्पत्ति की मात्र एक विशेष किस्म के रूप में—अथवा, कहना चाहिए कि, भू-सम्पत्ति के मुक्ति-प्राप्त दास के रूप में—सम्मुख आता है, ठीक उसी तरह निजी सम्पत्ति के आत्मनिष्ठ मूल-तत्व के, श्रम के, वैज्ञानिक विश्लेषण के क्रम में यह प्रक्रिया भी अपनी पुनरावृत्ति करती है। श्रम का सर्वप्रथम केवल कृषि श्रम (agricultural labour) के रूप में प्रादुर्भाव होता है; किन्तु फिर अपने को वह सामान्य श्रम (labour in general) के रूप में प्रस्थापित कर लेता है।

॥३॥ सारा धन औद्योगिक धन, श्रम का धन बन गया है; और उद्योग उसी प्रकार निष्पादित (किया जा चुका–अनु०) श्रम होता है जिस प्रकार कि कारखाने (फैक्टरी) की व्यवस्था उद्योग का, अर्थात्, श्रम का, सिद्धीकृत (perfected) मूल-तत्व होती है, तथा औद्योगिक पूंजी निजी सम्पत्ति का निष्पादित वस्तुगत स्वरूप होती है।

अब हम देख सकते हैं कि ठीक इसी बिन्दु पर किस प्रकार निजी सम्पत्ति मनुष्य के ऊपर अपने प्रभुत्व की पूरे तौर से स्थापना कर लेती है और, अपने सर्व-सामान्य रूप में, एक ऐतिहासिक विश्व-शक्ति बन जाती है।

निजी सम्पत्ति और कम्युनिज्म

पृष्ठ ३९* के सम्बन्ध में। सम्पत्ति के अभाव तथा सम्पत्ति के बीच के विरोध को जब तक श्रम और पूंजी के विरोध के रूप में नहीं समझा जाता तब तक वह एक तटस्थ विरोध ही बना रहता है, ऐसा जिसे कि उसके सक्रिय संसर्ग में, उसके आन्तरिक रिश्ते के साथ नहीं हृदयगम किया गया है, एक अंतर्विरोध के रूप में नहीं समझा गया है। इस प्रथम रूप में तो निजी सम्पत्ति का उन्न विकास हुए बिना ही (प्राचीन रोम, तुर्की, आदि की तरह) वह अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। अभी तक ऐसा नहीं आभासित होता कि उसकी स्था- पना स्वयं निजी सम्पत्ति ने ही की है। किन्तु श्रम, (जो कि–अनु०) सम्पत्ति से

* यहाँ दूसरी पाण्डुलिपि के लुप्त अंश की ओर संकेत किया गया है।—सं०

अपेक्षा प्रकृति में ही अधिक होती है। भूमि को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अब भी मनुष्य से स्वतन्त्र, प्रकृति के एक घटना-प्रवाह के रूप में ग्राह्य किया जाता है—पूंजी के, अर्थात् स्वयं श्रम के एक पक्ष के रूप में नहीं। उल्टे, श्रम स्वयं ही भूमि का एक पक्ष प्रतीत होता है। परन्तु चूंकि पुराने बाह्य धन की, केवल एक वस्तु के रूप में अस्तित्व रखने वाले धन की, अन्ध-श्रद्धा (fetishism) को एक अत्यन्त सरल प्राकृतिक तत्व का रूप दे दिया गया है, और चूंकि उसके मूलतत्व को चाहे केवल आंशिक रूप से और एक विशिष्ट स्वरूप में ही सही—उसके आत्मनिष्ठ अस्तित्व के अन्तर्गत मान लिया गया है, इसलिए धन के सामान्य प्रकृति (general nature) को स्पष्ट करने की दिशा में और, इसीलिए, श्रम को उसकी सम्पूर्ण निरपेक्षता (total absoluteness) में (अर्थात् उसकी अमूर्तता में) सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में आवश्यक अग्रिम कदम उठा लिया गया है। भू-अर्थशास्त्र (फ़िज़ियोक्रेसी) के विरुद्ध तर्क किया जाता है कि, आर्थिक दृष्टिकोण से—अर्थात्, एकमात्र तर्कसिद्ध दृष्टिकोण से—कृषि किसी भी अन्य उद्योग से भिन्न नहीं होती; और इसलिए धन का मूल-तत्व किसी एक विशिष्ट तत्व के साथ सम्बद्ध श्रम का कोई विशिष्ट (specific) रूप—श्रम का कोई विशिष्ट प्रकाश्य रूप—नहीं होता, और सामान्य श्रम (labour in general) ही होता है।

श्रम को धन का मूल तत्व घोषित करके भू-अर्थशास्त्र (फ़िज़ियोक्रेसी) विशिष्ट, बाह्य, मात्र वस्तुनिष्ठ (objective) धन के अस्तित्व से इन्कार करता है। किन्तु भू-अर्थशास्त्र (फ़िज़ियोक्रेसी) की दृष्टि से श्रम सर्वप्रथम भू-सम्पत्ति का ही केवल आत्म-निष्ठ मूलतत्व (subjective essence) होता है। (इसका उस किस्म की सम्पत्ति से वह तर्क करता है जो ऐतिहासिक रूप से प्रमुख तथा मान्यता-प्राप्त रूप में आविर्भूत हुई है।) वह भू-सम्पत्ति को ही परकीयकृत मनुष्य (alienated man) में रूपान्तरित कर देता है। उसके सामन्ती चरित्र को वह केवल यह कह कर ही समाप्त कर देता है कि उसका मुख्य उद्योग (कृषि) है। परन्तु उद्योग की दुनिया को यह कह कर अस्वीकार कर देता है कि कृषि ही एकमात्र उद्योग है।

स्पष्ट है कि उद्योग के आत्मनिष्ठ मूलतत्व को (भू-सम्पत्ति के विरुद्ध उद्योग को, अर्थात्, उद्योग द्वारा स्वयं अपने को उद्योग के रूप में गठित करने की क्रिया को) यदि अब हृदयंगम कर लिया गया है, तो इस मूल तत्व के अन्तर्गत इसका विरोधी तत्व भी समाविष्ट है। क्योंकि, उद्योग जिस प्रकार [illegible] को वहीं भू-सम्पत्ति को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है, उसी प्रकार उद्योग

का आत्मनिष्ठ मूल-तत्व भी भू-सम्पत्ति के आत्मनिष्ठ मूलतत्व को अपने अन्दर एकीभूत कर लेता है।

जिस तरह कि भू-सम्पत्ति निजी सम्पत्ति का प्रथम रूप होती है, और उद्योग शुरू-शुरू में उसके मुकाबले में ऐतिहासिक रूप से सम्पत्ति की मात्र एक विशेष किस्म के रूप में—अथवा, कहना चाहिए कि, भू-सम्पत्ति के मुक्ति-प्राप्त दास के रूप में—सम्मुख आता है, ठीक उसी तरह निजी सम्पत्ति के आत्मनिष्ठ मूल-तत्व के, श्रम के, वैज्ञानिक विश्लेषण के क्रम में यह प्रक्रिया भी अपनी पुनरावृत्ति करती है। श्रम का सर्वप्रथम केवल कृषि श्रम (agricultural labour) के रूप में प्रादुर्भाव होता है; किन्तु फिर अपने को वह सामान्य श्रम abour in general) के रूप में प्रस्थापित कर लेता है।

॥३। सारा धन औद्योगिक धन, श्रम का धन बन गया है, और उद्योग सी प्रकार निष्पादित (किया जा चुका—अनु०) श्रम होता है जिस प्रकार कि ारखाने (फैक्टरी) की व्यवस्था उद्योग का, अर्थात्, श्रम का, सिद्धीकृत perfected) मूल-तत्व होती है, तथा औद्योगिक पूंजी निजी सम्पत्ति का म्पादित वस्तुगत स्वरूप होती है।

अब हम देख सकते हैं कि ठीक इसी बिन्दु पर किस प्रकार निजी सम्पत्ति नुष्य के ऊपर अपने प्रभुत्व की पूरे तौर से स्थापना कर लेती है और, अपने र्व-सामान्य रूप में, एक ऐतिहासिक विश्व-शक्ति बन जाती है।

निजी सम्पत्ति और कम्युनिज्म

पृष्ठ ३९* के सम्बन्ध में। सम्पत्ति के अभाव तथा सम्पत्ति के बीच के विरोध को जब तक श्रम और पूंजी के विरोध के रूप में नहीं समझा जाता तब तक वह एक नगण्य विरोध ही बना रहता है, ऐसा जिसे कि उसके सक्रिय संसर्ग में, उसके आन्तरिक रिश्ते के साथ नहीं हृदयगम किया गया है, एक अंतर्विरोध के रूप में नहीं समझा गया है। इस प्रथम रूप में तो निजी सम्पत्ति का उच्च विकास हुए बिना ही (प्राचीन रोम, तुर्की, आदि की तरह) वह अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। अभी तक ऐसा नहीं आभासित होता कि उसकी स्थापना स्वयं निजी सम्पत्ति ने ही की है। किन्तु श्रम, (जो कि—अनु०) सम्पत्ति से

* यहाँ दूसरी पाण्डुलिपि के लुप्त अंश की ओर संकेत किया गया है।—सं०

विलग रूप में निजी सम्पत्ति का आत्मनिष्ठ सार है, तथा पूँजी, (जो कि-अनु०) श्रम से विलग रूप में वस्तुगत श्रम (objective labour) है—मिलकर, उसके अन्तर्विरोध की विकसित अवस्था में, निजी सम्पत्ति बन जाते हैं—इसलिए (उनके बीच-अनु०) एक गतिशील ऐसा सम्बन्ध क़ायम हो जाता है जो तेजी से उसे ढकेलता हुआ उसके समाधान (विघटन-अनु०) की दिशा में ले जाता है।

उसी पृष्ठ के सम्बन्ध में। आत्म-पृथक्करण (self-estrangement) की अनुभवातीतता (transcendence) भी आत्म-पृथक्करण के ही मार्ग का अनुसरण करती है। निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में पहले उसके वस्तुगत पक्ष के ही रूप में विचार किया जाता है—किन्तु इसके बावजूद उसका सारतत्व श्रम को ही माना जाता है। इसलिए उसके अस्तित्व का रूप पूंजी होता है जिसका कि "उस रूप में" (प्रूधों) उन्मूलन किया जाता है। अथवा फिर, श्रम के एक विशिष्ट रूप को—गिराकर बराबर कर दिये गये, टुकड़े-टुकड़े में तोड़ दिये गये, और इसलिए अमुक्त (unfree) श्रम को—निजी सम्पत्ति की अनिष्टकारिता का तथा मनुष्यों से पृथक उसके अस्तित्व का स्रोत समझा जाता है। उदाहरण के लिए, फ़ूरिये को ले लीजिए, जो कि फ़िज़ियोक्रेटों (१८वीं शताब्दी के भू-अर्थशास्त्रियों-अनु०) की ही भांति, खेतिहर श्रम (agriculture labour) को खुद भी कम से कम आदर्श क़िस्म का श्रम मानते हैं, जबकि, इसके विपरीत, सेण्ट-साइमन कहते हैं कि उसका सार औद्योगिक श्रम है और, इसी कारण, वह यह कामना करते हैं कि उद्योगपतियों का एकान्तिक शासन हो तथा मजदूरों की दशा में सुधार हो। अन्ततः, कम्युनिज्म (साम्यवाद) उन्मूलित निजी सम्पत्ति की सकारात्मक अभिव्यक्ति (positive expression) है—सर्वप्रथम सार्वलौकिक निजी सम्पत्ति के रूप में। इस सम्बन्ध को पूरे तौर से अंगीकार करते हुए कम्युनिज्म है :

(१) अपने प्रथम रूप में [इस सम्बन्ध का] यह मात्र एक सामान्यीकरण (generalisation) तथा समापन (Consummation) है। इस हैसियत से यह दोहरे रूप में सामने आता है : एक ओर तो भौतिक सम्पत्ति का ऐश्वर्य इतना व्यापक होता है कि उस हर चीज को, जिसे लोग निजी सम्पत्ति के रूप में अपना नहीं बना सकते, यह नष्ट कर देना चाहता है। प्रतिभा (talent), आदि की यह मनमाने ढंग से अवहेलना करना चाहता है। उसकी दृष्टि में जीवन तथा अस्तित्व का एकमात्र प्रयोजन सीधे-सीधे, भौतिक रूप से स्वामित्व स्थापित करना है। मजदूर की श्रेणी का अन्त नहीं किया जाता, बल्कि सभी मनुष्यों को इसी की परिधि में शामिल कर लिया जाता है। निजी सम्पत्ति का सम्बन्ध

वस्तुओं के संसार के साथ पूरे समाज के सम्बन्ध के रूप में अचल बना रहता है। अन्त में, सार्वजनीन निजी सम्पत्ति का निजी सम्पत्ति के साथ मुकाबला करने की यह क्रिया विवाह (जो कि असंदिग्ध रूप से एकान्तिक निजी सम्पत्ति का ही एक रूप है) के विरुद्ध स्त्रियों के समुदाय को पेश करने के उस पाशविक रूप में व्यक्त होती है जिसमें कि स्त्री सामुदायिक तथा सबकी मिलीजुली (common) सम्पत्ति का एक अंश बन जाती है। कहा जाता है कि स्त्रियों को सामूहिक सम्पत्ति बनाने की यह धारणा इस अभी तक सर्वथा भोंडे (अपरिष्कृत—अनु०) तथा विचार-शून्य कम्युनिज़्म** के भेद को खोल देती है। जिस तरह कि स्त्री विवाह से आम वेश्यावृत्ति* की स्थिति में पहुंच जाती है, उसी तरह धन-सम्पदा (अर्थात्, मनुष्य के वस्तुगत पदार्थ) की सम्पूर्ण दुनिया निजी सम्पत्ति के स्वामी के साथ एकान्तिक विवाह के सम्बन्ध की स्थिति से पूरे समुदाय के साथ सार्वलौकिक वेश्यावृत्ति की स्थिति में पहुंच जाती है। इस किस्म का कम्युनिज़्म (साम्यवाद)—क्योंकि वह मनुष्य के व्यक्तित्व का हर क्षेत्र में निषेध करता है—निजी सम्पत्ति की ही—जो कि स्वयं यह निषेध है, मात्र तर्कपूर्ण अभिव्यक्ति है। सत्ता के रूप में परिवेष्टित आम ईर्ष्या ही वह छद्म वेश है जिसमें लोभ (Γ e ν) अपने को मात्र एक दूसरे ढंग से पुनर्स्थापित करता है और अपने को तुष्ट करता है। निजी सम्पत्ति के प्रत्येक अंश का विचार स्वयं ईर्ष्या तथा वस्तुओं को नीचे गिराकर एक सामान्य स्तर पर ले आने की उत्कंठा के रूप में अधिक धनाढ्य निजी सम्पत्ति के विरोध का रूप तो कम से कम ले ही लेता है जिसमें कि यह ईर्ष्या और उत्कंठा प्रतियोगिता के सारतत्व तक का भी रूप ग्रहण कर लेती है। अपरिष्कृत कम्युनिज़्म** (crude communism) इस ईर्ष्या तथा पूर्व कल्पित न्यूनतम के आधार पर नीचे गिराकर बराबर कर देने की इसी प्रक्रिया की मात्र पराकोटि (culmination) है। उसका एक निश्चित, सीमित मापदण्ड निर्धारित है। निजी सम्पत्ति का यह उन्मूलन (अपाहरण—अनु०) वास्तव में कितना

---

* वेश्यावृत्ति तो केवल श्रमजीवी की आम (general) वेश्यावृत्ति की ही एक विशिष्ट (specific) अभिव्यक्ति है, और चूंकि यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसके अन्तर्गत अकेली वेश्या ही नहीं बल्कि वह व्यक्ति भी आ जाता है जो वेश्यावृत्ति कराता है—और वेश्यावृत्ति कराने वाला तो और भी अधिक घृणित है—इसलिए इस श्रेणी में पूंजीपति, आदि भी आ जाते हैं।—मार्क्स की टिप्पणी।"

** पाण्डुलिपि में कम्युनिज़्म लिखा हुआ है।—सं०

कम अधिकरण (appropriation) है—यह चीज वास्तव में संस्कृति और सभ्यता के सम्पूर्ण संसार के निरपेक्ष निषेध से, विपन्न और अपरिष्कृत उस मनुष्य के अप्राकृतिक [illegible] सरलता की स्थिति की ओर प्रतिगमन से सिद्ध हो जाती है जिसकी आवश्यकताएं बहुत कम हैं और जो न केवल निजी सम्पत्ति की स्थिति से आगे बढ़ने में विफल हुआ है, बल्कि उसके पास तक भी अभी तक नहीं पहुंच सका है।

समुदाय केवल श्रम का, और सामुदायिक पूंजी (communal capital) द्वारा सार्वलौकिक पूंजीपति (universal capitalist) के रूप में समुदाय (community) द्वारा दी जाने वाली मजदूरी की समानता का समुदाय है। इस सम्बन्ध के दोनों पक्षों को उठा कर एक कल्पित सार्वलौकिकता के स्तर पर पहुंचा दिया जाता है—श्रम को उस श्रेणी के स्तर पर जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्थिर है, और पूंजी को समुदाय की स्वीकृति-प्राप्त सार्वलौकिकता और सत्ता के स्तर पर।

स्त्री से सम्बन्धित इस दृष्टिकोण में कि वह सामुदायिक काम-वासना की तृप्ति के लिए लूटा हुआ माल तथा मात्र दासी है—अन्तहीन गिरावट की उस स्थिति की अभिव्यक्ति होती है जिसमें कि पुरुष सिर्फ अपने ही लिए जिन्दा रहता है, क्योंकि इस दृष्टिकोण का जो भेद (secret) है वह स्त्री के साथ पुरुष के सम्बन्ध के रूप में और उस सामाजिक चलन के रूप में असंदिग्ध, निर्णयात्मक, स्पष्ट तथा खुले ढंग से अभिव्यक्त होता है जिसमें कि प्रत्यक्ष एवम् प्राकृतिक जातिमूल-सम्बन्धी रिश्ते (species-relationship) की कल्पना की जाती है। व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सीधा, प्राकृतिक तथा आवश्यक सम्बन्ध पुरुष का स्त्री के साथ सम्बन्ध है। इस प्राकृतिक जातिमूल-सम्बन्धी रिश्ते के अन्तर्गत प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध ठीक वही होता है जो उसका पुरुष के साथ सीधा सम्बन्ध होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध ठीक वही होता है जो प्रकृति के साथ—स्वयं अपने प्राकृतिक भवितव्य (natural destination) के साथ – उसका सीधा सम्बन्ध होता है। अतः, इस रिश्ते के रूप में वह मात्रा इन्द्रियगत रूप में (sensuously) अभिव्यक्त होती है, एक ऐसी प्रेक्षणीय (observable) वास्तविकता के रूप में छनकर सामने आ जाती है जिस तक मानवीय सार-तत्व (human essence) मनुष्य की प्रकृति बन गया है, अथवा जिस मात्रा तक प्रकृति उसके लिए मनुष्य का मानवीय सारतत्व बन गयी है। इसीलिए, इस रिश्ते के आधार पर मनुष्य के विकास के पूरे स्तर का निर्धारण किया जा सकता है। इस रिश्ते के स्वरूप से यह बात

जाहिर हो जाती है कि एक जातिमूल-प्राणी (species-being) के रूप में, मनुष्य के रूप में किस हद तक मनुष्य अपनेपन तक पहुँच गया है और स्वयं अपने को समझने लगा है, स्त्री के साथ पुरुष का रिश्ता मानव-प्राणी के साथ मानव-प्राणी का सर्वाधिक प्राकृतिक रिश्ता है। अतः, यह इस बात को बतलाता है कि मनुष्य का प्राकृतिक आचरण किस हद तक मानवीय बन गया है, अथवा उसके अन्दर का मानवीय सारतत्व किस हद तक प्राकृतिक सारतत्व बन गया है—किस हद तक उसकी मानवीय प्रकृति (human nature) उसके लिए प्राकृतिक बन गयी है। यह रिश्ता इस बात को भी बतलाता है कि मनुष्य की आवश्यकता किस हद तक एक मानवीय आवश्यकता बन गयी है, इसलिए, दूसरा व्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में किस हद तक उसके लिए एक आवश्यकता बन गया है—किस हद तक एक वैयक्तिक प्राणी के रूप में साथ ही साथ वह एक सामाजिक प्राणी (social being) बन गया है।

इस प्रकार, निजी सम्पत्ति का प्रथम निश्चयात्मक उन्मूलन—अपरिष्कृत कम्युनिज्म—मात्र एक ऐसा रूप है जिसमें कि निजी सम्पत्ति की, जो अपने को असली सामुदायिक व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित कर लेना चाहती है, निकृष्टता खुल कर धरातल पर आ जाती है।

(२) कम्युनिज्म (अ) का स्वरूप अब भी राजनीतिक (है—अनु॰) —जनतान्त्रिक अथवा निरंकुश, (आ) राज्यसत्ता का उन्मूलन हो जाने के बाद भी अपूर्ण होता है, तथा निजी सम्पत्ति से, अर्थात्, मनुष्य के पृथक्करण (estrangement) से, प्रभावित होता रहता है। दोनों ही स्वरूपों में कम्युनिज्म को इस बात की चेतना होती है कि मनुष्य का स्वयं अपने में पुनः पूर्णीकरण (reintegration) हो रहा है या वह स्वयं अपने में वापस लौट रहा है, मानवीय आत्म-पृथक्करण का परमोत्कर्ष हो रहा है; परन्तु, चूँकि अभी तक उसने निजी-सम्पत्ति के असली सारतत्व को नहीं समझा है, और न आवश्यकता के मानवीय स्वरूप को ही हृदयंगम किया है, इसलिए वह उसका बन्दी ही बना रहता है और उससे संदूषित होता रहता है। वास्तव में, उसने उसकी धारणा को तो समझ लिया है, किन्तु उसके सारतत्व को हृदयंगम नहीं कर पाया है।

(३) कम्युनिज्म मानवीय आत्म-पृथक्करण के रूप में निजी-सम्पत्ति का सच्चा परमोत्कर्ष (होता है—अनु॰) और, इसलिए, मनुष्य द्वारा और मनुष्य ही के लिए मानवीय सारतत्व का (वह) वास्तविक आत्मीयकरण होता है; कम्युनिज्म इसलिए मनुष्य की, एक सामाजिक (अर्थात्, मानवीय) प्राणी के रूप में, स्वयं अपने में पूर्ण वापसी होता है—ऐसी वापसी को सचेत रूप से, तथा पूर्व-

विकास की सम्पूर्ण सम्पदा को साथ लिए हुए, सम्पन्न होती है। पूर्ण रूप में विकसित प्रकृतिवाद के रूप में, यह कम्युनिज्म मानववादाद के समकक्ष होता है, और पूर्ण रूप से विकसित मानववादाद के रूप में प्रकृतिवाद के बराबर होता है: मनुष्य और प्रकृति के बीच के और मनुष्य और मनुष्य के बीच के अन्तर्द्वन्द्व का यह सच्चा समाधान होता है—अस्तित्व और सारतत्व के बीच के वस्तुकरण (objectification) और आत्म-पुष्टीकरण (self-confirmation) के बीच के, स्वतन्त्रता और अनिवार्यता के बीच के, व्यक्ति तथा जाति-मूल के बीच के संघर्ष का वास्तविक समाधान होता है। इतिहास की पहेली का समाधान ही कम्युनिज्म है, और इस बात को वह स्वयं जानता है कि वह यह समाधान है।

॥५॥ अतः, इतिहास की पूरी गति, ठीक उसी तरह जिस तरह कि इसकी उत्पत्ति की वास्तविक क्रिया— उसके अनुभवसिद्ध अस्तित्व के जनन की क्रिया, उसकी चिंतनशील चेतनाके लिए, उसके निर्माण की समझी हुई (comprehended) तथा सुज्ञात (Krown) प्रक्रिया होती है। इसके विपरीत, यह कम्युनिज्म जो अभी तक अपरिपक्व है अपने लिए निजी सम्पत्ति के विरोधी असम्बद्ध ऐतिहासिक घटना-प्रवाहों के बीच—जो पहले से मौजूद है उसी के दायरे में—ऐतिहासिक प्रक्रिया में से एकली अवस्थाओं को तोड़-तोड़ कर और अपनी ऐतिहासिक अभिजात वर्गीय वंशावली के प्रमाणों के रूप में उन पर ध्यान केन्द्रित करके, (कैबेट, विलेगार्देले, आदि विशेष रूप से इस काम को बहुत ही अभिरुचि के साथ करते हैं) वह अपने लिए ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढ़ता है। ऐसा करके वह केवल इस चीज को ही स्पष्ट कर देता है कि इस प्रक्रिया का अधिकाश भाग स्वयं उसी के दावे का खण्डन करता है, और यह जाहिर कर देता है कि, कभी अगर उसका अस्तित्व था भी, तो अतीतकाल में उसका होना स्वयं ही वास्तविक होने के उसके मिथ्याभिमान का खण्डन कर देता है।

इस बात को देख सकना आसान है कि सम्पूर्ण क्रान्तिकारी गति (व्यापार —अनु०) को अनुभव-सिद्ध तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का आधार अनिवार्यतः निजी सम्पत्ति की ही गति में—और भी सही-सही कहा जाय तो, अर्थ-व्यवस्था की ही गति में, प्राप्त होता है।

यह भौतिक सन्निकट दिखलायी देने वाली निजी सम्पत्ति पृथक्कृत मानवीय जीवन की ही भौतिक सलक्ष्य (perceptible) अभिव्यक्ति है। उसकी गति (movement)—उत्पादन और उपभोग की प्रक्रिया—अब तक के समस्त उत्पादन की गति का ही संलक्ष्य प्रकटीकरण [perceptible revelation], अर्थात्, मनुष्य की आत्म-सिद्धि अथवा मूलरूपता [reality] होती है। धर्म,

परिवार, राज्यसत्ता, क़ानून, नैतिकता, विज्ञान, कला, आदि उत्पादन की मात्र विशेष विधाएं [modes] हैं, और उसके सामान्य नियम के ही अन्तर्गत आती हैं। अतएव, मानवीय जीवन के आत्मीयकरण [appropriation] के रूप में निजी सम्पत्ति की सकारात्मक परमोत्कृष्टता समस्त पृथक्करण की सकारात्मक परमोत्कृष्टता होती है—अर्थात्, वह मानव की धर्म, परिवार, राज्यसत्ता, आदि से उसके मानवीय, अर्थात्, सामाजिक अस्तित्व की ओर वापसी होती है। धार्मिक पृथक्करण तो केवल चेतना के, मनुष्य के आन्तरिक जीवन के क्षेत्र में होता है; किन्तु आर्थिक पृथक्करण वास्तविक जीवन का पृथक्करण होता है, अतएव, उसके परमोत्कर्ष [transcendence] में दोनों ही पक्ष आ जाते हैं। यह स्पष्ट है कि विभिन्न कौमों [peoples] के बीच की गति की प्रारम्भिक अवस्था [initial stage] इस बात पर निर्भर करती है कि सम्बन्धित कौम की सच्ची मान्यता-प्राप्त जिन्दगी अपने-आप को चेतना के क्षेत्र में अधिक अभिव्यक्त करती है या बाह्य जगत् में—वह अधिक आदर्श स्वरूप है अथवा वास्तविक। कम्यु-निज्म (साम्यवाद) का प्रारम्भ शुरू से ही अनीश्वरवाद के रूप में (ओवेन) हुआ है; किन्तु अनीश्वरवाद शुरू-शुरू में कम्युनिज्म नहीं होता—उससे बहुत दूर होता है; वास्तव में, वह अनीश्वरवाद अधिकांशतया एक हवाई चीज ही होता है।

अतः अनीश्वरवाद की परोपकारिता की भावना प्रारम्भ में मात्र दार्शनिक अमूर्त परोपकारिता की ही भावना होती है, और कम्युनिज्म की परोपकारिता की भावना एकदम वास्तविक तथा ऐसी होती है जो प्रत्यक्ष रूप से कार्य करने के लिए कटिबद्ध होती है।

हम देख चुके हैं कि निजी सम्पत्ति के वास्तविक उन्मूलन की धारणा के आधार पर मनुष्य किस प्रकार मनुष्य को, अपने को और दूसरे मनुष्य को, पैदा करता है; किस प्रकार वस्तु, जो कि उसकी वैयक्तिकता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है, साथ ही साथ, दूसरे मनुष्य के लिए उसका अपना अस्तित्व, दूसरे मनुष्य का अस्तित्व तथा खुद उसी के लिए उसका अस्तित्व होती है। किन्तु, इसी प्रकार, श्रम की सामग्री तथा कर्ता के रूप में मनुष्य, दोनों ही उक्त गति का प्रस्थान-बिन्दु तथा उसका परिणाम होते हैं (और ठीक इसी तथ्य में कि उन्हें प्रस्थान-बिन्दु होना चाहिए, निजी सम्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता निहित है)। इस भाँति, सामाजिक चरित्र की सारी गति का सामान्य चरित्र (general character) होता है: समाज स्वयं जिस तरह मनुष्य को मनुष्य के रूप में पैदा करता है, ठीक उसी तरह समाज उसके द्वारा पैदा किया जाता है। क्रियाशीलता तथा आनन्द-भोग—अपने मूल-तत्व तथा अस्तित्व

की विधा दोनों ही में सामाजिक होते हैं : सामाजिक* क्रियाशीलता तथा सामाजिक आनन्द-भोग प्रकृति के मानवीय पक्ष का अस्तित्व केवल सामाजिक मानव ही के लिए होता है; क्योंकि तभी मनुष्य के साथ एक सम्बन्ध (bond) के रूप में—ऐसे सम्बन्ध के रूप में जिसमें उसका अस्तित्व दूसरे के लिए और दूसरे का उसके लिए हो—तथा मानवीय वास्तविकता (human reality) के जीवन-तत्त्व (life-element) के रूप में, प्रकृति का उसके लिए अस्तित्व होता है। प्रकृति का स्वयं उसके मानवीय अस्तित्व की आधार-शिला के रूप में केवल तभी अस्तित्व होता है। बस, यहीं वह चीज जो उसके लिए उसका प्राकृतिक अस्तित्व होती है उसका मानवीय अस्तित्व बन गयी है, और प्रकृति उसके लिए मनुष्य बन गयी है। इस प्रकार, समाज का अर्थ प्रकृति के साथ मनुष्य की पूर्ण एकता—सच्चे अर्थों में प्रकृति का पुनरुज्जीवन—(resurrection)—मनुष्य का सुसंगत प्रकृतिवाद तथा प्रकृति का सुसंगत मानवतावाद, होता है।

॥६। सामाजिक क्रियाशीलता तथा सामाजिक आनन्द-भोग मात्र किसी प्रत्यक्ष सामुदायिक क्रियाशीलता (Communal activity) और प्रत्यक्ष सामुदायिक आनन्द-भोग के ही रूप में नहीं अस्तित्व रखते, यद्यपि सामुदायिक क्रियाशीलता तथा सामुदायिक आनन्द-भोग—अर्थात् वह क्रियाशीलता तथा आनन्द-भोग जो दूसरे मनुष्यों के साथ वास्तविक साहचर्य के रूप में अभिव्यक्त तथा प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं—हर उस स्थान पर देखने को मिलेंगे जहाँ भी मेल-मिलाप की इस प्रकार की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति क्रियाशीलता की अंतर्वस्तु के वास्तविक चरित्र से उत्पन्न होती है तथा आनन्द-भोग के स्वरूप के अनुरूप होती है।

किन्तु, जब वैज्ञानिक कार्य, आदि से भी मैं क्रियाशील होता हूं—एक ऐसे काम में सक्रिय होता हूं जिसे सीधे-सीधे दूसरों के साथ मैं मुश्किल से ही कभी कर सकता हूं—तब भी मेरी क्रियाशीलता सामाजिक होती है, क्योंकि उसे मैं एक मनुष्य के रूप में सम्पन्न करता हूं। न केवल मेरी क्रियाशीलता की सामग्री (material) मुझे एक सामाजिक उत्पत्ति के रूप में उपलब्ध करायी जाती है (उसी तरह जिस तरह कि वह भाषा भी जिसमें कि चिन्तक क्रियाशील होता है उसे सामाजिक उत्पत्ति के रूप में प्राप्त होती है); मेरा अपना अस्तित्व ही सामाजिक क्रियाशीलता होता है और, इसलिए, जो कुछ भी मैं अपने को बनाता हूं मैं अपने को समाज के ही लिए तथा इस चेतना के साथ बनाता हूं कि मैं एक सामाजिक प्राणी हूं।

---

* पाण्डुलिपि में इस शब्द को काट दिया गया है। —सं०

मेरी सामान्य चेतना उस वस्तु की मात्र सैद्धान्तिक आकृति (theoretical shape) है जिसकी जीवित आकृति वास्तविक समाज है, सामाजिक ताना-बाना है—यद्यपि आज सामान्य चेतना वास्तविक जीवन का ही एक अमूर्तीकरण है और इसी रूप मे उसके मुक़ाबले मे वह एक विरोधी के रूप में सामने आता है। अतः, एक क्रियाशीलता के रूप मे मेरी सामान्य चेतना की क्रियाशीलता एक सामाजिक प्राणी के रूप मे मेरी सैद्धान्तिक जिन्दगी भी है।

सर्वोपरि यह आवश्यक है कि व्यक्ति के मुकाबले में फिर एक अमूर्त रूप में "समाज" की परिकल्पना करने से हम बचें। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी होता है। इसीलिए, जीवन की उसकी प्रव्यंजनाएँ (manifestations) चाहे वे दूसरो के संग मिलकर बिताये जाने वाले जीवन की सामुदायिक प्रव्यंजनाओं के प्रत्यक्ष रूप मे न भी प्रकट हों—सामाजिक जीवन की ही अभिव्यक्ति एवम् उसी का पुष्टीकरण होती हैं। व्यक्ति के अस्तित्व की विधा जाति-मूल (species) के जीवन की चाहे जितनी अधिक विशिष्ट अथवा चाहे जितनी अधिक सामान्य विधा हो, अथवा जाति-मूल का जीवन वैयक्तिक जीवन का चाहे जितना अधिक विशिष्ट अथवा अधिक सामान्य रूप हो—मानव का वैयक्तिक और जाति-मूल जीवन भिन्न नही होते—और यह अवश्यम्भावी है।

जातिमूल सम्बन्धी अपनी चेतना के माध्यम से मनुष्य अपने वास्तविक सामाजिक जीवन की पुष्टि करता है और विचारों के क्षेत्र मे अपने वास्तविक अस्तित्व की सीधे-सीधे पुनरावृत्ति करता है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि, इसके विपरीत, जाति-मूल की सत्ता (being) अपनी पुष्टि जातिमूल-सम्बन्धी चेतना के अन्दर करती है और उसी की सामान्यता (generality) में एक चिन्तनशील प्राणी के रूप में अपना अस्तित्व रखती है।

अतएव, मनुष्य चाहे जितना एक विशिष्ट (particular) व्यक्ति हो (और, वास्तव में, यह उसकी विशिष्टता ही है जो उसे एक व्यक्ति, और एक वास्तविक वैयक्तिक सामाजिक प्राणी बनाती है), उतनी ही मात्रा में वह कल्पित तथा अनुभवजन्य समाज की समष्टि (totality)—भावात्मक (ideal) समष्टि—उसकी भावगत जिन्दगी भी होता है; ठीक उसी तरह जिस तरह कि वास्तविक जगत् मे भी वह सामाजिक अस्तित्व की चेतना तथा उसके वास्तविक आनन्द-भोग दोनों के रूप मे तथा जीवन की मानवीय प्रव्यंजना की समष्टि के रूप में अस्तित्व रखता है।

चिन्तन और सत्ता इस प्रकार असन्दिग्ध रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं; किन्तु, साथ ही साथ, वे एक दूसरे के साथ एकताबद्ध भी हैं।

मृत्यु व्यक्ति विशेष के ऊपर जाति-मूल की अत्यन्त निष्ठुर जीत लगती है और उनकी एकता का खण्डन करती है। परन्तु विशिष्ट व्यक्ति जाति-मूल की मात्र एक विशिष्ट सत्ता है, और इस रूप में वह मर्त्य (mortal) है।

<(४)* जिस तरह कि निजी सम्पत्ति इस बात की मात्र संलक्ष्य अभिव्यक्ति है कि मनुष्य स्वयं अपने लिए वस्तुगत बन जाता है और, साथ ही साथ, अपने लिए एक अजनबी तथा अमानवीय वस्तु भी वह बन जाता है; जिस तरह कि वह इस बात की अभिव्यक्ति होती है कि उसके जीवन की प्रव्यंजना (manifestation) उसके जीवन का परकीयकरण है, कि उसकी आत्म-सिद्धि उसकी वास्तविकता का विलोप है, (वह—अनु०) एक परकीय वास्तविकता है, उसी तरह, निजी सम्पत्ति की सच्ची परमोत्कृष्टता को—अर्थात्, मानवीय सार-तत्त्व (human essence) तथा मानवीय जीवन के, वस्तुगत मनुष्य के, मानवीय उपलब्धियों के मनुष्य के लिए और मनुष्य ही द्वारा किये गये संलक्ष्य आत्मीय-करण (perceptible appropriation) को—मात्र तात्कालिक, एक-पक्षी आनन्द-भोग के अर्थ में, केवल काबिज होने के, स्वामित्व रखने के अर्थ में ही नहीं समझा जाना चाहिए। अपने पूरे सारतत्त्व को मनुष्य पूरे तौर से ही, अर्थात्, एक पूर्ण मनुष्य के रूप में ही, आत्मसात करता है। संसार के साथ प्रत्येक प्रकार के उसके मानवीय सम्बन्ध का—देखने, सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, स्पर्श करने, सोचने, पर्यवेक्षण करने, अनुभव करने, कामना करने, काम करने, प्यार करने का सम्बन्ध—संक्षेप में उसकी वैयक्तिक सत्ता (individual being) की सभी इन्द्रियों का, उन अवयवों (organs) की ही तरह जो अपने रूप में प्रत्यक्षतः सामाजिक होते हैं, ।।७। उद्देश्य वस्तुगत रूप से, अथवा वस्तु के प्रति अपने झुकाव के रूप में—वस्तु का आत्मसात्करण करना; मानवीय वास्तविकता का आत्मसात्करण करना होता है। वस्तु के प्रति उनका झुकाव मानवीय वास्तविकता** की प्रव्यंजना करना होता है, वह मानवीय क्रियाशीलता तथा मानवीय दुःख-भोग (suffering) होता है, क्योंकि, मानवीय दृष्टि से विचार किया जाय तो, दुःख-भोग मनुष्य का एक प्रकार का आत्म-सुख (self-enjoyment) होता है।

निजी सम्पत्ति ने हमें इतना मूढ़ और एक-पक्षी बना दिया है कि कोई

---

* पाण्डुलिपि में "५" है। स०

** इसी वजह से उसमें उतनी ही अधिक विविधता होती है जितनी कि मानवीय सारतत्त्व तथा गतिविधियों के निर्धारणों में होती है।—मार्क्स की टिप्पणी।

वस्तु केवल तभी हमें अपनी लगती है जबकि उस पर हमारा कब्जा हो—जबकि वह हमारे लिए पूंजी के रूप में अस्तित्वशील हो, अथवा जबकि वह सीधे-सीधे हमारे अधिकार में हो, हम उसे खाते, पीते, पहनते हों, रहने के लिए उसका इस्तेमाल करते हों, आदि—संक्षेप में, तभी जबकि उसका हम उपयोग करते हों। यद्यपि निजी सम्पत्ति स्वयं इन तमाम प्रत्यक्ष कब्जों की प्रत्यक्ष सम्पूर्तियों को मात्र जीवन के साधनों (means of life) के रूप में देखती है, और साधनों के रूप में जिस जीवन की वे सेवा करती हैं वह निजी सम्पत्ति का जीवन होता है—श्रम और पूंजी में उसके रूपान्तरण का जीवन होता है।

अत., समस्त शारीरिक और मानसिक इन्द्रियों (senses) का स्थान इन समस्त इन्द्रियों के केवल पृथक्करण ने, अधिकार रखने की इन्द्रिय ने ले लिया है। इस घोर दरिद्रता की स्थिति में मानव प्राणी को पहुंचाना इसलिए आवश्यक था जिससे कि वह अपनी आन्तरिक सम्पदा बाह्य जगत् के हवाले कर दे। ("अधिकार रखने" की श्रेणी के सम्बन्ध में "Einundzwanzig Bogen" में हेस* को पढ़िए)

अतः निजी सम्पत्ति का परमोत्कृष्टता प्राप्त कर लेना समस्त मानवीय इन्द्रियों तथा गुणों का पूर्ण रूप से बन्धन-मुक्त हो जाना होता है; किन्तु यह बन्धन-मुक्ति ठीक इसीलिए प्राप्त होती है कि वे इन्द्रियाँ तथा विशेषताएँ, मनोगत और वस्तुगत रूप से मानवीय बन गयी हैं। आँख मानवीय आँख बन गयी है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि उसका पात्र एक सामाजिक मानवीय पात्र—मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए बनाया गया एक पात्र, बन गया है। इसलिए अपने व्यवहार में इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से सिद्धान्तकार (theoreticiars) बन गयी हैं। वस्तु के साथ अपना सम्बन्ध वे उस वस्तु के ही खातिर स्थापित करती हैं, किन्तु वस्तु स्वयं का खुद अपने साथ और मनुष्य** के साथ एक वस्तुगत मानवीय सम्बन्ध होता है, और इसके उल्टे भी (vice versa) ऐसा ही होता है। फलस्वरूप, आवश्यकता अथवा आनन्दभोग का स्वार्थी (egotistical) स्वरूप समाप्त हो गया है, तथा उपयोग के मानवीय उपयोग में बदल जाने से प्रकृति ने अपनी उपयोगिता खो दी है।

---

* मोजेज हेस की कृति, 'कर्म का दर्शन' ("Philosophie der Tat")—सं०

** व्यवहार में किसी वस्तु के साथ मानवीय ढंग से मैं तभी अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता हूं जबकि वह वस्तु खुद मानव प्राणी के साथ मानवीय ढंग से सम्बन्ध स्थापित करे।—मार्क्स की टिप्पणी

(affirmation) न केवल चिन्तन की क्रिया में, ॥८॥ बल्कि उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से भी होती है।

दूसरी ओर, इसी चीज को आइए, हम उसके भावगतवादी (मनोगतवादी–अनु०) पक्ष से जाँच-पड़ताल करें। जिस भाँति कि मनुष्य में संगीत की इन्द्रिय को केवल संगीत ही जाग्रत करता है, और जिस भाँति कि संगीत को न समझने वाले कान के लिए सुन्दरतम संगीत का भी कोई अर्थ नहीं होता—(वह–अनु०) उसके लिए कोई दिलचस्पी की चीज [नहीं] होता,—क्योंकि मेरा उद्देश्य अपनी मूलभूत शक्तियों में से किसी एक की सिर्फ़ पुष्टि करना ही हो सकता है, इसलिए ऐसा मेरे लिए केवल इसीलिए हो सकता है कि मेरी मूलभूत शक्ति एक भागवत क्षमता (subjective capacity) ही के रूप में स्वयं अपने लिए मौजूद रहती है, क्योंकि किसी वस्तु का मेरे लिए अर्थ उसी हद तक होता है जिस हद तक मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ उसे ग्रहण करती हैं (उसका केवल उस वस्तु के समरूप ज्ञानेन्द्रिय के लिए ही कोई अर्थ होता है)—इस कारण, उसी भाँति, सामाजिक मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ ग़ैर-सामाजिक मानव की ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न होती हैं। मनुष्य की सारभूत सत्ता (essential being) की समृद्धिशालिता के वस्तुगत उन्मीलन से ही भावगतवादी मानवीय सम्वेदनशीलता (sensibility) की समृद्धिशालिता का (संगीत-प्रेमी कान का, रूप के सौन्दर्य को परखने वाली आँख का—संक्षेप में, मानव की इच्छाओं की पूर्ति करने में सक्षम इन्द्रियों का, अपने को मनुष्य की मूलभूत शक्तियाँ कहने वाली इन्द्रियों का) सम्वर्द्धन अथवा जन्म होता है। क्योंकि, न केवल पाँचों इन्द्रियों की, बल्कि तथाकथित मानसिक इन्द्रियों की भी—व्यावहारिक इन्द्रियों की (इच्छा-शक्ति, प्रेम, आदि की)—एक शब्द में, मानवीय इन्द्रिय की—इन्द्रियों की मानवीय प्रकृति की—उत्पत्ति उसके प्रयोजन के ही कारण, मानवीकृत (humanised) प्रकृति के ही कारण, होती है। पाँचों इन्द्रियों की रचना संसार के आज तक के सम्पूर्ण इतिहास के श्रम का परिणाम है। असाधित (crude) व्यावहारिक आवश्यकता पूर्ति के कार्य में लगी इन्द्रिय की इन्द्रिय ग्राह्यता केवल सीमित होती है। भूखा मर रहे मनुष्य के लिए भोजन के मानवीय स्वरूप का नहीं अस्तित्व होता, बल्कि भोजन का केवल अमूर्त अस्तित्व ही होता है। उसके सामने वह अपने एकदम मोटे-सोटे और कच्चे रूप में भी हो सकता है और तब यह कहना असम्भव होगा कि उसके खाने की यह क्रिया पशुओं के खाने की क्रिया से किस प्रकार भिन्न है। चिन्ताओं में दबे, दरिद्रता के मारे मनुष्य को उत्कृष्ट से उत्कृष्ट नाटक में भी कोई मज़ा नहीं आता; धातुओं में व्यापार करने वाले व्यक्ति को उसमें केवल व्यावसायिक

मूल्य दिखलायी देता है; उसकी दृष्टि में उक्त खनिज के सौन्दर्य तथा उसके विशिष्ट स्वरूप का कोई मूल्य नही होता; उसके अन्दर खनिजीय विवेक-बुद्धि नही होती। इस प्रकार, मनुष्य के इन्द्रियबोध को मानवीय बनाने के लिए, तथा समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक मूल्य की सम्पदा के अनुरूप मानवीय इन्द्रियबोध की सृष्टि करने के लिए, आवश्यक होता है कि मानवीय मूलतत्व का, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पहलुओं से, अंगीभूतकरण हो जाय।

<जिस प्रकार कि विकसित होते हुए समाज को अपने विकास के लिए आवश्यक समस्त सामग्री निजी सम्पत्ति की, उसकी धन-सम्पत्ति तथा उसके दुख दैन्य की—उसकी भौतिक तथा आत्मिक धन-सम्पदा तथा दीनावस्था की — क्रियाशीलता के माध्यम से सुलभ हो जाती है, उसी प्रकार सुस्थापित (established) समाज उसके जीवन की सम्पूर्ण सम्पन्नता के साथ मनुष्य को उत्पन्न करता है—अपनी चिरस्थायी सच्चाई के रूप में, समस्त ज्ञानेन्द्रियों से पूर्णरूपेण गुणयुक्त वैभवशाली मानव को जन्म देता है।

हम देखते है कि आत्मगतवाद (Subjectivism) और वस्तुगतवाद (Objectivism), अध्यात्मवाद (spiritualism) और भौतिकवाद, क्रियाशीलता तथा कष्ट-सहन समाज के ढांचे के अन्दर किस प्रकार अपने विरोधपूर्ण स्वरूप को, और इस प्रकार विरोधी शक्तियों के रूप में अपने अस्तित्व को ही, खो देते हैं, हम देखते है कि सैद्धान्तिक विरोधों का समाधान किस प्रकार केवल व्यावहारिक ढंग से ही, मनुष्य की व्यावहारिक शक्ति की मदद से ही सम्भव है। अतएव, उनका समाधान मात्र समझदारी की समस्या कतई नहीं है, बल्कि जीवन की एक वास्तविक समस्या है, जिसका समाधान दर्शन ठीक इसी कारण नहीं कर पाया कि उसने इस समस्या को मात्र एक सैद्धान्तिक समस्या समझा था।

हम देखते हैं कि उद्योग धन्धों का इतिहास तथा उद्योग-धन्धों का सुस्थापित वस्तुगत अस्तित्व किस प्रकार मनुष्य की मूलभूत शक्तियों की, मनुष्य की [illegible] मानवीय मनोविज्ञान (psychology) की एक खुली किताब है। इस चीज को अभी तक मनुष्य की मूलभूत सत्ता (essential being) से इसके सम्बन्ध के परिवेश में नहीं, बल्कि उपयोगिता के केवल एक बाह्य सम्बन्ध के रूप में ही देखा-समझा गया था; क्योंकि, पृथक्करण के भीतर विचरण करते हुए लोग मनुष्य की सत्ता की केवल सामान्य स्थिति ही [illegible] कर सकते थे—मनुष्य की मूलभूत शक्तियों तथा मनुष्य की जाति-मूलक क्रियाशीलता को वास्तविकता के रूप में हमारे सामने धर्म अथवा इतिहास की—राजनीति, कला, साहित्य, आदि के उसके अमूर्त—सामान्य (abstract-general) स्वरूप में ही ग्रहण कर सकते थे।

हमारे सामने मनुष्य की अयथीभूतकृत मूलभूत शक्तियाँ इन्द्रियगत, परकीय, उपयोगी वस्तुओ के रूप मे, उस पृथककरण के रूप मे मौजूद है जो कि साधारण भौतिक उद्योग धन्धों मे दृष्टिगोचर होता है [इन भौतिक उद्योग-धन्धो की परिकल्पना या तो उस आम गति (general movement) के एक अग के रूप मे की जा सकती है, या फिर उस गति की कल्पना उद्योग-धन्धो के एक विशेष अग के रूप मे की जा सकती है, क्योंकि समस्त मानवीय क्रियाशीलता अभी तक श्रम की अर्थात्, उद्योग-धन्धों की-ऐसी क्रियाशीलता रही है जो स्वय अपने से पृथक रही है]।

ऐसी मानसिकी जिसके लिए यह, इतिहास का यह अंग जो सर्वाधिक समक्ष (perceptible) तथा सुलभ (accessible) रूप से मौजूद है, एक बन्द किताब बना हुआ है, एक सच्चा, सर्वांगीण तथा वास्तविक विज्ञान नहीं बन सकती। <एक ऐसे विज्ञान के विषय मे सचमुच ही हम क्या सोचें जो मानवीय श्रम के इस विशाल भाग से अपने को आमचौप ढंग से पृथक कर लेता है और जो स्वय अपनी अपूर्णता का अनुभव नहीं करता, और जिसकी नजर मे सामने खुली रखी हुई मानवीय उद्यम की इतनी विपुल सम्पदा का कदाचित् उससे अधिक और कोई मूल्य नहीं होता जिसे कि एक शब्द मे "आवश्यकता," "घटिया किस्म की आवश्यकता" कहा जा सकता है।

प्राकृतिक विज्ञानो (natural sciences) ने अपने कार्य-कलापो मे जबरदस्त विकास किया है तथा विशाल मात्रा मे ऐसी सामग्री इकट्ठा की है जो निरन्तर बढ़ती जा रही है। परन्तु, दर्शन उनके लिए वैसा ही परकीय बना रहा है जैसे कि वे दर्शन के लिए। उनकी क्षणिक एकता मात्र एक मिथ्या भ्रम थी। इच्छा तो थी, किन्तु शक्ति की कमी थी। स्वय इतिहास लेखन (historiography) भी प्राकृतिक विज्ञान की तरफ केवल कभी-कभी ही, ज्ञानोदीप्ति, उपयोगिता, तथा किन्ही विशेष रूप से बड़ी खोजों के एक साधन के ही रूप मे ध्यान देता है। किन्तु प्राकृतिक विज्ञान ने उद्योग-धन्धो के माध्यम से और भी अधिक व्यावहारिक रूप में मानव जीवन पर धावा बोल दिया है और उसे बदल दिया है; और, मानव-मुक्ति के लिए उसने जमीन तैयार कर दी है, यद्यपि उसका तात्कालिक प्रभाव अनिवार्य रूप से यह हुआ है कि मनुष्य का अमानवीयकरण (dehumanisation) बढ़ गया है। उद्योग-धन्धे मनुष्य के साथ प्रकृति का, और इसीलिए प्राकृतिक विज्ञान का, वास्तविक, ऐतिहासिक सम्बन्ध है। अतएव, उद्योग-धंधे की यदि मनुष्य की मूलभूत शक्तियों की सार्वजनिक (या बाह्य-अनु०) अभिव्यक्ति के रूप मे कल्पना की जाती है तो इससे हमे प्रकृति की मानवीय अन्तर्वस्तु की

अथवा मनुष्य की प्राकृतिक अन्तर्वस्तु (essence) की समझदारी भी प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप, प्राकृतिक विज्ञान अपनी अमूर्त भौतिक (abstractly material)—अथवा, कहना चाहिए कि, अपनी भाववादी—प्रवृत्ति से मुक्ति पा जायगा, और मानवीय विज्ञान का आधार बन जायगा—जैसा कि वास्तव में वह बन भी गया है, यद्यपि एक पृथक्कृत रूप में वह वास्तविक मानव जीवन का आधार बन जायगा। और, जीवन के लिए एक आधार स्वीकार करना तथा विज्ञान के लिए एक दूसरा आधार-मात्र प्रवंचना है। < वह प्रकृति जो मानव इतिहास में विकसित होती है—मानव समाज की उत्पत्ति के इतिहास में—वही मनुष्य की वास्तविक प्रकृति होती है। इसलिए उद्योग-धन्धे के माध्यम से, वह चाहे एक पृथक्कृत रूप में ही क्यों न हो, जो प्रकृति विकसित होती है, वही असली नृशास्त्रीय (anthropological) प्रकृति है। >

इंद्रिय-बोध (sense-perception) (देखिये फायरबाख) ही समस्त विज्ञान का आधार होना चाहिए। विज्ञान तभी सच्चा विज्ञान होता है जब कि वह इंद्रियगत चेतना (sensuous consciousness) तथा इंद्रियगत आवश्यकता के दोहरे रूप में इन्द्रियबोध के आधार पर कार्य करता है—अर्थात् जब वह विज्ञान प्रकृति के आधार पर कार्य करता है। समस्त इतिहास "मनुष्य" को इंद्रियगत चेतना का पात्र बनाने के लिए तैयार करने और उसका विकास करने का, तथा "मनुष्य के रूप में मनुष्य" की आवश्यकताओं को उसकी जरूरतों में बदल देने का इतिहास है। इतिहास स्वयं प्राकृतिक इतिहास का, प्रकृति के मनुष्य में विकसित होने की प्रक्रिया का वास्तविक भाग (part) है। कालान्तर में, प्राकृतिक विज्ञान अपने में मानवी विज्ञान (science of man) का भी समावेश कर लेगा, उसी तरह जिस तरह कि मनुष्य का विज्ञान अपने में प्राकृतिक विज्ञान का समावेश कर लेगा : तब केवल एक ही विज्ञान होगा।

॥१०॥ प्राकृतिक विज्ञान का तात्कालिक विषय मनुष्य ही है; क्योंकि मनुष्य के लिए तात्कालिक इन्द्रियगत प्रकृति अव्यवहित (immediate) रूप में, ऐसी मानवीय चेतना होती है (शब्दावली एक ही जैसी है)—जिसे तुरत उसके लिए इन्द्रियगत रूप से उपस्थित दूसरे मनुष्य की शक्ल में प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में, स्वयं उसकी ऐन्द्रिकता सर्वप्रथम दूसरे मनुष्य के माध्यम से ही उसके लिए मानवीय ऐन्द्रिकता के रूप में अस्तित्व रखती है। किन्तु मनुष्य के विज्ञान का तात्कालिक विषय प्रकृति होती है : मनुष्य का प्रथम विषय—मनुष्य—प्रकृति, ऐन्द्रिकता होता है, और विशिष्ट मानवीय ऐन्द्रिक मूलभूत शक्तियाँ आम प्राकृतिक जगत् के विज्ञान में ही अपना आत्मबोध प्राप्त कर सकती हैं, उसी तरह

स तरह कि अपनी वस्तुपरक आत्मसिद्धि (objective realisation) वे केवल कृतिक वस्तुओं में ही प्राप्त कर सकती हैं। स्वयं चिन्तन की मूलवस्तु- चिन्तन ी जीवित अभिव्यक्ति की मूलवस्तु—भाषा—की प्रकृति ऐन्द्रिक (sensuous) ाती है। प्रकृति की सामाजिक वास्तविकता तथा मानवीय प्राकृतिक विज्ञान, थवा मनुष्य से सम्बन्धित प्राकृतिक विज्ञान एक ही जैसे शब्द हैं। < यह चीज ष्ट हो जायगी कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की धन-सम्पदा और उसकी दरिद्रता स्थान में किस प्रकार समृद्ध मानव प्राणी तथा समृद्ध मानवीय आवश्यकता ी प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है। समृद्ध मानव प्राणी के साथ ही साथ एक ऐसा ानव प्राणी भी होता है जिसे जीवन की मानवीय अभिव्यञ्जनाओं की समष्टि ी आवश्यकता होती है वह ऐसा मनुष्य होता है जिसके अन्दर उसकी अपनी ात्मसिद्धि एक आन्तरिक अनिवार्यता (inner necessity) के रूप में, आवश्यकता के रूप में, मौजूद रहती है। मनुष्य की न केवल धन-सम्पदा को, बल्कि उसी प्रकार उसकी दरिद्रता को भी—समाजवाद'' की धारणा के अन्तर्गत समान मात्रा में मानवीय और, इसलिए, सामाजिक महत्व प्राप्त होता है। दरिद्रता वह निष्क्रिय बन्धन (passive bond) होता है जो मानव प्राणी को उत्कृष्टतम सम्पदा की—दूसरे मानव प्राणी की—आवश्यकता अनुभव कराता है। मेरे अन्दर के वस्तुगत प्राणी का आधिपत्य, मेरे जीवन की क्रियाशीलता का ऐन्द्रिक भावावेग (sensuous outburst) ही प्रणयोन्माद (passion) होता है जो कि, इस प्रकार, मेरी जीवन सत्ता की क्रियाशीलता बन जाता है। >

(५) कोई भी प्राणी अपने को केवल तभी स्वतन्त्र समझता है जबकि वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, और स्वयं अपने पैरों पर केवल तभी वह खड़ा होता है जबकि वह स्वयं अपने अस्तित्व का कारण होता है। वह मनुष्य जो दूसरे की दया पर जिन्दा रहता है अपने को पराधीन समझता है। किन्तु यदि दूसरे व्यक्ति के ऊपर न केवल मैं अपने जीवन के रख-रखाव के लिए निर्भर रहता हूं, बल्कि, इसके अलावा, यदि मेरे जीवन की सृष्टि भी उसी ने की है—यदि मेरे जीवन का स्रोत भी वही है, तब तो पूर्णतया मैं उसी की ही दया पर जिन्दा रहता हूं। मेरा जीवन जब स्वयं मेरी अपनी सृष्टि नहीं है, तब अनिवार्यतः उसका स्रोत उससे कहीं बाहर है। सृष्टि (creation) का विचार इसलिए एक ऐसा विचार है जिसे आम लोगों की चेतना से निकाल बाहर करना बहुत ही कठिन कार्य है। यह बात आम लोगों की समझ से परे है कि प्रकृति और मनुष्य अपने-आप अपना अस्तित्व रखते हैं क्योंकि यह चीज व्यावहारिक जीवन की प्रत्येक ठोस (tangible) वस्तु का खण्डन करती है।

पृथ्वी की सृष्टि सम्बन्धी धारणा को रचना भौमिकी (भू-रचना-शास्त्र : geognosy) से—अर्थात् उस विज्ञान से जबरदस्त धक्का पहुंचा है जो पृथ्वी के विकास-क्रम को एक प्रक्रिया के रूप में, स्वजनन (self-generation) की प्रक्रिया के रूप में, प्रस्तुत करता है। सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त[11] का (theory of creation) एकमात्र व्यावहारिक खण्डन (Generatio aequivoca) स्व-जनन की प्रक्रिया से होता है।

अब, निस्सन्देह, किसी भी अकेले व्यक्ति से यह कहना आसान हो गया है कि—जैसा कि अरस्तू ने पहले ही कहा था : तुम्हें तुम्हारे पिता और तुम्हारी मां ने जन्म दिया है; इसलिए दो मानव प्राणियों के सहयोग (mating) ने—मानव प्राणियों के एक जाति-मूल कर्म (a species-act of human beings) ने—तुम्हारे रूप में एक मानव प्राणी को पैदा कर दिया है। अतः, आप देखते हैं कि, शारीरिक रूप से भी, मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य का ही ऋणी होता है। अतएव, आवश्यक है कि आप केवल एक ही पहलू पर—प्रगति की उस अन्तहीन प्रक्रिया (infinite progression) पर ही नजर न रखें जो आपको और आगे यह पूछने के लिए प्रेरित करती है कि : मेरे पिता को किसने पैदा किया था ? किसने उनके बाबा को पैदा किया था ? आदि। आवश्यक है कि प्रगति की उस प्रक्रिया मे इन्द्रियगत रूप से बोध-गम्य (sensuously perceptible) वृत्तीय गति (circular movement) पर भी आप दृष्टि लगाये रहें जिसके माध्यम से प्रजनन क्रिया द्वारा मनुष्य अपनी पुनरावृत्ति करता है; मनुष्य इस प्रकार सदैव कर्त्ता (subject) बना रहता है। किन्तु आप उत्तर देंगे : इस वृत्तीय गति की आपकी बात को मैं माने लेता हूं; पर अब प्रगति की उस प्रक्रिया के सम्बन्ध में आप मुझे बतला दीजिए जो मुझे निरन्तर आगे बढ़ते जाने के लिए उस वक्त तक विवश करती है जिस वक्त तक कि मैं यह नहीं पूछता कि : प्रथम मानव को, और सारी प्रकृति को, किसने पैदा किया था ? मैं आपको केवल यही उत्तर दे सकता हूं कि : आपका प्रश्न स्वयं पृथक्करण (अमूर्तीकरण-अनु०) की उत्पत्ति है। आप अपने से पूछिए कि इस प्रश्न तक आप कैसे पहुंचे हैं। आप अपने से पूछिए कि आपका प्रश्न कहीं ऐसे दृष्टिकोण से तो नहीं पूछा गया है जिसका उत्तर मैं इसलिए नहीं दे सकता कि उसे गलत ढंग से पूछा गया है। आप अपने से पूछिए कि प्रगति की वैसी धारणा क्या किसी विवेकपूर्ण मस्तिष्क में भी मौजूद हो सकती है। जब आप प्रकृति और मनुष्य की सृष्टि के विषय में पूछते हैं तब, ऐसा करते समय, मनुष्य और प्रकृति के विचार को आप जुदा (abstract) कर लेते हैं। आप तो अस्तित्व-हीन रूप में उनकी परिकल्पना

करते हैं, और फिर यह चाहते हैं कि मैं आपके लिए यह सिद्ध कर दूं कि वे अस्तित्व-शील हैं अब आप से मैं कहता हूं : पृथक्करण (अमूर्तीकरण—अनु०) के अपने विचार को आप तिलांजलि दे दीजिए और तब आप अपने प्रश्न का भी परित्याग कर देंगे। अथवा, यदि पृथक्करण के अपने विचार से आप चिपके ही रहना चाहते हैं, तो सुसंगत बनिए, और यदि मनुष्य और प्रकृति को आप अस्तित्व-विहीन समझते हैं, ॥११॥ तो अपने को भी अस्तित्व-विहीन मान लीजिए—क्योंकि निर्विवाद रूप से आप भी प्रकृति और मानव ही हैं। सोचिए मत, मुझसे पूछिए मत, क्योंकि ज्योंही आप सोचने और पूछने लगते हैं त्योंही प्रकृति और मानव के अस्तित्व के सम्बन्ध मे आप द्वारा किया जाने वाला पृथक्करण (अमूर्त्तीकरण) निरर्थक हो जाता है। अथवा क्या आप इतने बड़े अहंवादी हैं कि हर चीज को तो आप शून्य मानते-समझते हैं, और फिर भी स्वय अपने को अस्तित्वशील बनाये रखना चाहते हैं ?

आप उत्तर दे सकते हैं : मैं प्रकृति की शून्यता (nothingness), आदि की परिकल्पना नहीं करना चाहता। मैं तो आप से उसकी उत्पत्ति के विषय में पूछता हूं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी शल्य-शास्त्री (anatomist) से मैं हड्डियों की सरचना की प्रक्रिया, आदि के सम्बन्ध मे पूछ-ताछ करता हूं।

किन्तु चूंकि समाजवादी मनुष्य की दृष्टि मे संसार का समस्त तथाकथित इतिहास मानवीय श्रम के द्वारा हुई मनुष्य की सृष्टि के इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नही है, मनुष्य के लिए हुए प्रकृति के आविर्भाव के अतिरिक्त और कुछ नही है, इसलिए इस बात का उसके पास प्रत्यक्ष, अखण्डनीय प्रमाण मौजूद है कि उसका जन्म, उसकी उत्पत्ति (genesis) स्वय उसी के माध्यम से हुई है।

चूंकि मनुष्य और प्रकृति का वास्तविक अस्तित्व—क्योंकि मनुष्य की दृष्टि में मनुष्य प्रकृति की सत्ता बन गया है, और प्रकृति मनुष्य की दृष्टि मे मनुष्य की सत्ता के रूप में व्यावहारिक, इन्द्रियगत, सुस्पष्ट हो गयी है—इसलिए एक परकीय सत्ता के विषय मे, प्रकृति और मनुष्य से ऊपर किसी सत्ता के विषय मे प्रश्न करना—ऐसा प्रश्न करना व्यवहार मे असम्भव बन गया है जो इस बात को मान लेता है कि प्रकृति और मनुष्य अवास्तविक हैं। इस अवास्तविकता की अस्वीकृति के रूप से अनीश्वरवाद का अब कोई अर्थ नही रह गया है, क्योंकि अनीश्वरवाद का अर्थ है ईश्वर को अस्वीकार करना (निषेध करना—अनु०) और इस बात की परिकल्पना करना कि मनुष्य का अस्तित्व इस अस्वीकृति (निषेध—अनु०) के ही माध्यम से हुआ है; परन्तु, समाजवाद के रूप में समाजवाद को इस तरह की किसी मध्यस्थता की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

वह मनुष्य और प्रकृति को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूप से इन्द्रियगत चेतना को ही मूलतत्व (essence) मानकर चलता है। समाजवाद मनुष्य की असली (positive) आत्म-चेतना है—उसके लिए धर्म के उन्मूलन की मध्यस्थता की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि वास्तविक जीवन ही मनुष्य की ऐसी असली (positive) वास्तविकता है जिसे निजी सम्पत्ति के उन्मूलन की, कम्युनिज्म की मध्यस्थता की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। निषेध के निषेध के रूप में, कम्युनिज्म ही वास्तविक विधा (positive mode) है और, इसलिए, मानवीय मुक्ति तथा उसके पुनर्वासन की प्रक्रिया के ऐतिहासिक विकास की अगली मंजिल के लिए यह आवश्यक वास्तविक अवस्था है। कम्युनिज्म तात्कालिक भविष्य का आवश्यक स्वरूप तथा उसका गतिशील सिद्धान्त है, किन्तु कम्युनिज्म स्वयं मानवीय विकास का लक्ष्य, मानवीय समाज का स्वरूप नहीं है। ।११।।[१६]

[मानवीय आवश्यकताएँ : निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत तथा समाजवाद के अन्तर्गत। पूंजीवादी समाज में श्रम-विभाजन]

॥१४॥[1] (७) हम देख चुके हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की सम्पदा कितना-कैसा महत्व ग्रहण कर लेती है, तथा, इसीलिए, उत्पादन की नयी पद्धति और उत्पादन का नया लक्ष्य—ये दोनो भी कैसा महत्व प्राप्त कर लेते हैं : मानवीय प्रकृति की शक्तियों की एक नयी अभिव्यक्ति (के—अनु०) तथा मानवीय प्रकृति की एक नयी समृद्धि (के दर्शन होते हैं—अनु०)। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था मे इनका महत्व उलट जाता है प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अन्दर एक नयी आवश्यकता पैदा करने की फिराक मे रहता है जिससे कि उसे नयी एक कुर्बानी करने के लिए, उसे निर्भरता की एक नयी स्थिति मे पहुच जाने के लिए तथा उपभोग की एक नयी विधि स्वीकार करने की दृष्टि से फुसलाने के लिए और, इस प्रकार, आर्थिक तबाही का रास्ता पकडने के लिए वह विवश कर दे। प्रत्येक इस बात की चेष्टा करता है कि दूसरे के ऊपर एक परकीय (alien) सत्ता की स्थापना कर दे जिससे कि वह स्वय अपनी स्वार्थपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति कर सके। अतएव वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि के साथ-साथ उन परकीय शक्तियों का प्रभाव-क्षेत्र भी बढ़ता जाता है जिनके अधीन मनुष्य को काम करना पड़ता है, तथा प्रत्येक नयी उत्पत्ति एक दूसरे को छलने तथा एक दूसरे को लूटने की एक नयी सम्भावना की प्रतीक होती है। मनुष्य के रूप में मनुष्य निरतर अधिकाधिक गरीब होता जाता है. शत्रुतापूर्ण सत्ता को वह यदि काबू मे करना चाहता है तो मुद्रा (money) के लिए उसकी आवश्यकता बराबर बढ़ती जाती है। उसकी मुद्रा की शक्ति उत्पादन के परिमाण की वृद्धि के उल्टे अनुपात मे घटती जाती है : अर्थात् जैसे-जैसे मुद्रा की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसकी (मनुष्य की—अनु०) तगी बढ़ती जाती है।

अतएव, मुद्रा की आवश्यकता ही इस आर्थिक व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी वास्तविक आवश्यकता होती है, तथा यही एकमात्र आवश्यकता है जिसे यह आर्थिक व्यवस्था पैदा करती है। मुद्रा की मात्रा (उसका परिमाण—अनु०) ही

अधिकाधिक मात्रा में उसका एकमात्र प्रभावी गुण (quality) बनती जाती है। जिस तरह प्रत्येक वस्तु को वह (आर्थिक व्यवस्था—अनु०) उसके अमूर्त (abstract) रूप में बदल देती है, ठीक उसी तरह स्वयं अपनी गति के क्रम में अपने को भी वह परिमाणात्मक (quantitative entity) सत्ता में बदल देती है। अति (excess) तथा असंयम ही उसके वास्तविक प्रतिमान (norms) बन जाते हैं।

मनोगत रूप मे, इस चीज की अभिव्यक्ति आंशिक रूप मे इस बात में होती है कि उत्पत्तियों तथा आवश्यकताओं का विस्तार अमानवीय, सुघड़ (refined), अप्राकृतिक तथा कल्पित अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए जोड़-तोड़ करने तथा निरंतर हिसाब बैठाने का साधन बन जाता है। निजी सम्पत्ति यह नहीं जानती कि अपरिष्कृत (crude) आवश्यकता को मानवीय (human) आवश्यकता मे कैसे बदल दिया जाय। उसका आदर्शवाद मात्र हवाई कल्पना (fantasy), सनक (caprice) तथा मन की मौज (whim) होता है; अपने स्वेच्छाचारी मालिक से कुछ लाभ उठा लेने के लिए कोई हिजड़ा भी इतने पतित ढंग से उसकी चाटुकारी नहीं करता और न भोग-विलास की उसकी कुंठित हो गयी क्षमता को उत्तेजित करने के लिए ही इतने अधिक घृणित उपायों का इस्तेमाल करता है जितना कि यह औद्योगिक हिजड़ा—उत्पादक—चांदी के कुछ टुकड़ों को चोरी से हासिल कर लेने के लिए, अपने अत्यन्त प्रिय पड़ोसियों को, स्वधर्मी ईसाइयों की जेबों से सोने की चिड़ियों (golden birds) को फुसला करके हथिया लेने के लिए करता है। दूसरे आदमी की अधिक से अधिक दुरा-चारी (पतित—अनु०) इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अपने को उसकी सेवा में अर्पित कर देता है, उसके और उसकी आवश्यकता के बीच एक दलाल (भँड़वे—अनु०) का काम करता है, उसकी विकृत अस्वस्थ इच्छाओं—अभिलाषाओं को उत्तेजित करता है, उसकी हर कमजोरी का लाभ उठाने की जुगत मे इन्तज़ार करता रहता है—यह सब इसलिए जिससे कि प्रेम की अपनी इस सेवा के बदले मे वह उससे नकद रुपया प्राप्त कर सके। [प्रत्येक उत्पत्ति दूसरे व्यक्ति की सत्ता (being) को ही, उसकी मुद्रा (money) को फुसला-बहला कर लूट लेने का एक लोभी साधन होती है; उसकी प्रत्येक वास्तविक और सम्भावित आवश्यकता ऐसी कमजोरी होती है जो कि शिकार को उसके जाले में पहुंचा देती है। सानु-दायिक मानवीय प्रकृति का आम शोषण, मनुष्य की हर अपूर्णता (अवगुण—अनु०) ... तरह, उसे स्वर्ग से जोड़ने वाली एक कड़ी होता है—ऐसा प्रवेश मार्ग होता है ... को उसके दिल तक पहुंचा देता है; प्रत्येक आवश्यकता एक ऐसा अवसर

होती है जिसके माध्यम से अधिकतम मैत्री-भाव की आड़ में आदमी को अपने पड़ोसी के पास तक पहुंचने और उससे यह कहने का रास्ता मिल जाता है कि : प्यारे दोस्त, जिस चीज़ की तुम्हें ज़रूरत है वह मैं तुम्हें देता हूं, किन्तु इसकी अनिवार्य शर्त (conditio sine qua non) को तुम जानते हो; तुम उस स्याही से परिचित हो जिससे दस्तख़त करके अपने को तुम्हें मुझे सौंप देना है; तुम्हारे सुख-भोग की व्यवस्था करने के बदले में मैं तुम्हें मूंड लेता हूं।]

पृथक्करण की यह प्रक्रिया एक ओर तो आंशिक रूप से अपने को आवश्यकताओं और [उनकी संतुष्टि] के साधनों के संस्कारीकरण (sophistication) के रूप में अभिव्यक्त करती है; (और—अनु०) दूसरी ओर, वह एक पाशविक बर्बरीकरण (bestial barbarisation) को, आवश्यकता के पूर्णतया, फूहड़, अमूर्त सरलीकरण को जन्म देती है, अथवा, कहना चाहिए कि, उसके माध्यम से अपने को वह मात्र अपने विरोधी तत्व में पुनर्उत्पादित कर लेती है। स्वच्छ हवा तक की आवश्यकता मज़दूर के लिए कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य गुफाओं वाले घर में रहने के लिए लौट आता है, किन्तु अब उसका यह आवास-स्थान सभ्यता की सड़ाँधभरी घातक श्वास से दूषित हो चुका है, और इसमें वह अब केवल संकटपूर्ण स्थिति में ही रहना जारी रखता है, क्योंकि वह उसके लिए एक ऐसा पराया रैन-बसेरा है जिसे कि किसी भी दिन उससे छीन लिया जा सकता है— वह उसका एक ऐसा वास है जिससे कि अगर वह पैसा नहीं देता ॥१५॥ उसे किसी भी दिन निकाल बाहर कर दिया जा सकता है। इस मुर्दा-घर के लिए उसे पैसा देना पड़ता है। प्रकाश से आलोकित एक ऐसे घर का—जिसे कि "एस्किलस" (Aeschylus) में प्रोमीथियस (Prometheus) ने एक ऐसे महानतम वरदान की संज्ञा दी थी जिसकी सहायता से बर्बर मनुष्य को उसने एक इन्सान (human being) बना दिया था,*—मज़दूर के लिए कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। रोशनी, हवा, आदि—साधारण से साधारण पशु-जैसी सफ़ाई भी—अब मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं रह जाते। गन्दगी, मनुष्य का यह टहराव और उसकी सड़ाँध—(एकदम शब्दश. कहा जाय तो) सभ्यता की यह नाली (sewage)—उसके जीवन का तत्व बन गयी है। चरम, अप्राकृतिक नैतिक पतन, सड़ाँध-भरी प्रकृति, उसका जीवन-तत्व बन गये हैं। उसकी किसी भी ज्ञानेन्द्रिय का उसके लिए अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया, और न केवल मानवीय रूप में बल्कि अमानवीय रूप में भी और, इसीलिए, पशु जैसे रूप में भी उसके लिए उसका (ज्ञानेन्द्रिय का—अनु०) कोई अस्तित्व नहीं रह गया। मानवीय श्रम के

---

* यूनानी नाटककार एस्किलस की अमर कृति, "बन्दी प्रोमीथियस"। —स०

सबसे भोंड़े (अपरिष्कृत) तौर-तरीक़े (methods) (तथा औजार : instruments) वापस लौट रहे है : उदाहरण के लिए, रोम के दासों का दांतेदार चक्कर (treadmill) अनेक अंग्रेज मजदूरों के उत्पादन का साधन, उनके अस्तित्व का साधन बना हुआ है। बात केवल इतनी ही नहीं है कि मनुष्य की कोई मानवीय आवश्यकताए नही रह गयी हैं—उसकी पशु जैसी आवश्यकताएँ भी समाप्त हो गयी हैं। आयरिशमैन (आयरलैण्ड के निवासी-अनु०) को खाने की आवश्यकता के अतिरिक्त अब और किसी आवश्यकता की जानकारी नही रह गयी; और वह भी, वस्तुतः में, केवल आलू खाने की, और वह भी सड़े हुए आलू, सबसे खराब किस्म के आलू खाने की, आवश्यकता को ही अब वह जानता है। किन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस के प्रत्येक औद्योगिक नगर में अब एक छोटा आयरलैण्ड पैदा हो गया है। जंगली आदमी और जानवर को कम से कम शिकार करने, घूमने-फिरने, आदि की आवश्यकता—मग्न रहने की आवश्यकता होती है। (लेकिन—अनु०) मशीन के, श्रम के सरलीकरण की क्रिया का इस्तेमाल बनने की प्रक्रिया में रत मानव प्राणी को, सर्वथा अपरिपक्व मानव प्राणी को, बच्चे को—एक मजदूर बनाने के काम के लिए किया जाता है—हालांकि मजदूर खुद एक अपेक्षित बच्चा बन गया है। मशीन अपने को मानव प्राणी की कमजोरी के अनुरूप इसलिए ढाल लेती है जिससे कि कमजोर मानव प्राणी को वह एक मशीन में परिवर्तित कर दे।

< आवश्यकताओं तथा |उनकी सम्पूर्ति के| साधनों की वृद्धि किस प्रकार आवश्यकताओं तथा साधनों के अभाव की सृष्टि कर देती है इसे राजनीतिक अर्थशास्त्री (तथा पूंजीपति) स्पष्ट करते हैं; (आम तौर से हम जब राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की बात करते हैं तब हम हमेशा अनुभव सिद्ध व्यवसायियों की ही बात करते हैं—ये राजनीतिक अर्थशास्त्री इन व्यवसायियों का वैज्ञानिक पापस्वीकरण (confession) और पहलू (aspect) होते हैं)। इस चीज को वह स्पष्ट करता है :

(१) मजदूर की आवश्यकता को कम करके शारीरिक अस्तित्व के लिए न्यूनतम सर्वाधिक दयनीय स्तर तक पहुंचा कर, तथा उसकी क्रियाशीलता को सर्वथा पृथक यांत्रिक गति में बदल कर; इस तरह से वह (राजनीतिक अर्थशास्त्री और पूंजीपति—अनु०) कहता है : मनुष्य के लिए न क्रियाशीलता की आवश्यकता है, न सुखभोग की। क्योंकि इस जीवन को भी, वह मानवीय जीवन और अस्तित्व कहता है।

(२) जीवन (अस्तित्व) के सर्वाधिक दयनीय (most meagre) स्वरूप को [illegible] (standard), वास्तव में, आमतौर से मानक जीवन [illegible]—

से इसलिए कि वही जन समुदायों पर लागू होता है। मजदूर को वह एक संज्ञाहीन (insensible) ऐसे प्राणी में बदल देता है जिसकी कोई आवश्यकताएँ नहीं होतीं—ठीक उसी तरह जिस तरह कि उसकी क्रियाशीलता को वह समस्त कार्यशीलता से पूर्णतया पृथक करके उसका अमूर्तीकरण कर देता है। इसलिए, मजदूर का हर तरह का सुखोपभोग (luxury) उसे भर्त्सनायोग्य लगता है, और हर वह चीज जो सूक्ष्मतम आवश्यकता से अधिक होती है—वह चाहे निष्क्रिय सुख-भोग के क्षेत्र में हो, चाहे उसकी क्रियाशीलता को अभिव्यक्त करती हो—उसे ऐय्याशी जैसी लगती है। अतः, राजनीतिक अर्थशास्त्र, धन-सम्पदा (wealth) का यह विज्ञान, साथ ही साथ, वैराग्य का अभाव का, बचत (saving) का भी विज्ञान है—और दरअसल वह मनुष्य को उस हद तक पहुंचा देता है जहां उसे स्वच्छ हवा अथवा शारीरिक व्यायाम की भी आवश्यकता से मुक्ति मिल जाती है। चमत्कारिक उद्योग का यह विज्ञान साथ ही साथ वैराग्य (asceticism) का भी विज्ञान है, और उसका वास्तविक आदर्श वैरागी किन्तु सुदेरा लोभी, और वैरागी किन्तु उत्पादक दास है। नैतिक रूप से उसका आदर्श वह मजदूर है जो अपनी मजदूरी के एक भाग को ले जाकर सेविंग-बैंक में जमा कर देता है, और उसे तैयार-शुदा दास-वृत्ति वाली एक ऐसी कला भी मिल गयी है जो उसके इस प्रिय विचार को मूर्तिमान करती है; गहरी भावुकता के रंग में रंगकर उसे रंगमंच पर भी उपस्थित किया जा चुका है। इस प्रकार, राजनीतिक अर्थशास्त्र—उसके लौकिक (worldly) तथा विषयासक्त (voluptuous) स्वरूप के बावजूद—एक सच्चा नैतिक विज्ञान, समस्त विज्ञानों में सर्वाधिक नैतिक विज्ञान है। उसका प्रमुख सिद्धान्त है आत्म-त्याग, जीवन तथा समस्त मानवीय आवश्यकताओं का त्याग। आप जितना ही कम खाओ, पियो, पुस्तकें खरीदो; जितना ही कम थियेटर, नृत्यगृह, मधुशाला जाओ; जितना ही कम आप सोचो, प्रेम करो, सिद्धान्त निरूपित करो, गाओ, चित्रकारी करो, पटेबाजी (बनेठी—अनु०) करो, आदि, उतना ही अधिक आप बचाओगे— उतना ही बड़ा आपका कोषागार बन जायगा—आपकी ऐसी पूंजी बन जायगी जिसे न कीड़े खा सकेंगे, न जंग नष्ट कर सकेगी। आप जितने ही कम हों, अपने जीवन को जितना ही कम अभिव्यक्त करो, उतना ही अधिक आपके पास जमा रहेगा, अर्थात् आपका जीवन जितना ही अधिक परकीयकृत होगा, आपकी पृथक्कृत सत्ता (अस्तित्व—अनु०) का उतना ही अधिक बड़ा भण्डार होगा। जीवन तथा मानवता के रूप में हर चीज ॥१६॥ जो राजनीतिक अर्थशास्त्री आपसे लेता है, उसे वह मुद्रा (money) और धन (wealth) के रूप में आपके लिये पुनः स्थापित कर देता है; और वे तमाम चीजें जो आप नहीं कर सकते, आपका

दिखावा कर सकता है ! वह खा और पी सकता है, नृत्यगृह तथा थियेटर जा सकता है; वह यात्रा कर सकता है; वह कला, ज्ञान, अतीत की निधियों, राजनीतिक सत्ता का अधिकरण कर सकता है—आपके लिए वह इन सब का आत्मसात्करण कर सकता है—वह इन सबको खरीद सकता है; वह असली स्थायी निधि है। यह सब होने के बावजूद, वह स्वयं अपनी सृष्टि करने, स्वयं अपने को खरीदने के सिवा और कुछ नहीं करना चाहता; क्योंकि, आखिरकार, अन्य प्रत्येक वस्तु तो उसकी सेविका ही है, और जब मेरे पास मालिक है तो नौकर भी है और उसके नौकर को मुझे कोई जरूरत नहीं है। अतएव, आवश्यक है कि सभी मनोवेगों तथा सभी क्रियाशीलता को अर्थ-लोभ के सागर में गर्क कर दिया जाय। मजदूर को केवल उतना ही मिलना चाहिए जितना कि जीवित रहने की उसकी लालसा को बनाये रखने के लिए—पर्याप्त हो, और जीवित रहने की लालसा उसके अन्दर केवल इसलिए होनी चाहिए जिससे कि वह केवल उतने को प्राप्त कर सके। >

यह सच है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अब एक विवाद पैदा हो गया है। एक पक्ष (लाउडरडेल, माल्थस, आदि) सुख-भोग की सिफ़ारिश करता है और मितव्ययता से तीव्र घृणा करता है। दूसरा (से, रिकार्डो, आदि) मितव्ययता की अनुशंसा (सिफारिश–अनु०) करता है और ऐयाशी (luxury) को कोसता-सरापता है। परन्तु पहला पक्ष स्वीकार करता है कि वह सुख-भोग (या ऐयाशी–अनु०) इसलिए चाहता है जिससे कि वह श्रम को (अर्थात्, पूर्ण मितव्ययता को) पैदा कर सके; और दूसरा स्वीकार करता है कि वह मितव्ययता की इसलिए सिफारिश करता है जिससे कि वह धन (अर्थात्, सुख-भोग) को पैदा कर सके। लाउडरडेल–माल्थस पंथ की भावुक (रोमांसपूर्ण–अनु०) धारणा यह है कि धनी लोगों के उपभोग का आधार केवल अर्थलोभ ही नहीं होना चाहिए, और धनाढ्य बनने के प्रत्यक्ष साधन के रूप में अतिव्ययिता (फ़िज़ूलखर्ची—अनु०) की वकालत करके वह स्वयं अपने ही नियमों का खण्डन करता है। अतः, इसके विपरीत, दूसरा पक्ष अत्यन्त तत्परता से तथा परिस्थितियों का उल्लेख करके यह सिद्ध करता है कि अपव्ययी बन कर अपनी सम्पत्ति में मैं वृद्धि नहीं करता, बल्कि उसे कम करता हूं। से और रिकार्डो का दल (स्कूल—अनु०) इस बात को न स्वीकार करके कि उत्पादन का निर्धारण वास्तव में सनक और मनक के आधार पर होता है—दम्भ-पाखण्ड का सहारा लेता है। "परिष्कृत आवश्यकताओं" को वह भूल जाता है; वह भूल जाता है कि उपभोग के अभाव में उत्पादन नहीं होगा; वह भूल जाता है कि अनिवार्य है कि [illegible] के फलस्वरूप उत्पादन और अधिक विस्तृत तथा सुख-भोगी

(luxurious) हो जाय । वह भूल जाता है कि, उसके ही विचारों के अनुसार, किसी वस्तु का मूल्य उसके उपयोग से निर्धारित होता है, और उसके उपयोग को निर्धारित करता है फैशन । वह चाहता है कि केवल "उपयोगी वस्तुओं" का ही उत्पादन किया जाय, किन्तु इस चीज को वह भूल जाता है कि उपयोगी वस्तुओं का बहुत अधिक उत्पादन एक बहुत बड़ी अनुपयोगी जनसंख्या उत्पन्न कर देता है । इस चीज को दोनों ही पक्ष भूल जाते हैं कि अतिव्ययिता और मितव्ययिता, विलासिता और कंगाली, धन तथा गरीबी बराबर हैं ।

और, यदि आप किफायतशारी करना चाहते हैं, यदि आप भ्रमों के चक्कर में पड़कर अपने को तबाह नहीं कर लेना चाहते हैं, तो आपको चाहिए कि अपने भोजन, आदि को परिसीमित करके न केवल अपनी अपरोक्ष इन्द्रियों की परितुष्टि को ही कम करें, बल्कि आम दिलचस्पियों, हर तरह की हमदर्दी, हर तरह के आशा-विश्वास से भी अपने को एकदम दूर रखें । < आपके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक उस वस्तु को जो आपकी है आप बिकाऊ, अर्थात् उपयोगी बना दें । राजनीतिक अर्थशास्त्री से यदि मैं यह पूछता हू कि · बिक्री के लिए अपने शरीर को पेश करके, दूसरे की काम-वासना के लिए उसे समर्पित करके यदि मैं रुपया वसूलता हू तो क्या मैं आर्थिक नियमों के अनुसार काम करता हू ? (फ्रांस के फैक्टरी मजदूर अपनी पत्नियों और बेटियों की वेश्यावृत्ति को काम करने का अज्ञात घण्टा कहते हैं—जो कि शब्दशः सच है ।)—अथवा, अपने मित्र को मैं यदि मोरक्कोवासियों के हाथ बेच दू तो मेरा यह काम क्या राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होगा ? (और, जबरिया भर्ती किये जाने वाले रंगरूटों, आदि के व्यापार के रूप में मनुष्यों की प्रत्यक्ष बिक्री सभी सभ्य देशों में चलती है ।)—तब राजनीतिक अर्थशास्त्री मुझे उत्तर देता है तुम मेरे नियमों का अतिक्रमण नहीं करते; किन्तु यह देखो कि चचेरी बहिन नैतिकता (ethics) तथा चचेरे भाई धर्म का इस विषय में क्या कहना है । मेरी राजनीतिक आर्थिक नैतिकता तथा धर्म को तुमसे कोई शिकायत नहीं है; किन्तु—फिर मैं किसका विश्वास करूँ, राजनीतिक अर्थशास्त्र का या नैतिकता का ? –राजनीतिक अर्थशास्त्र की नैतिकता तो यह है कि अभिग्रहण करो, काम करो, किफायतशारी करो, संयम से रहो—किन्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र वादा करता है, कि वह मेरी आवश्यकताओं की सम्पूर्ति करेगा । नैतिकता का राजनीतिक अर्थशास्त्र एक शुभकामी अंतःकरण का, सद्गुण, आदि का वैभव है; किन्तु यदि मैं जीवित ही नहीं रहता तो ईमानदारी से कैसे मैं जिन्दा रह सकता हूं ? और, यदि मैं कुछ भी जानता नहीं तो मेरा अंतःकरण सदाचारी कैसे हो सकता है ? यह चीज पृथक्करण की

प्रकृति में ही निहित है कि प्रत्येक क्षेत्र मुझे नापने के लिए एक भिन्न तथा विरोधी गज का इस्तेमाल करता है—नैतिकता एक गज का और राजनीतिक अर्थशास्त्र दूसरे गज का; क्योंकि (उनमें से - अनु॰) प्रत्येक मनुष्य के पृथक्करण का एक विशिष्ट रूप है तथा > ।।१७। वह पृथक्कृत मूलभूत क्रियाशीलता के एक विशेष क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित करता है, और प्रत्येक का दूसरे के साथ एक पृथक्कृत सम्बन्ध होता है। अस्तु, सी॰ मिचेल शेवालियर रिकार्डो पर यह दोष लगाते हैं कि नैतिकता की उन्होंने उपेक्षा की है*। परन्तु रिकार्डो ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को स्वयं अपनी भाषा बोलने की छूट दे दी है, और यदि वह नैतिकतापूर्ण ढंग से नहीं बोलता तो इसमें रिकार्डो का कोई दोष नहीं है। जब वह नैतिक उपदेश देते हैं तब सी॰ शेवालियर राजनीतिक अर्थशास्त्र से उसे पृथक कर लेते हैं; किन्तु जब वह राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अमल करते हैं तब वह, वास्तव में और अनिवार्य रूप से, उसे नैतिकता से जुदा कर लेते हैं। नैतिकता के साथ राजनीतिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध यदि वह मनमाना, नैमित्तिक (आकस्मिक—अनु॰) और, इसलिए, आधार-विहीन एवम् अवैज्ञानिक सम्बन्ध के सिवा किसी और प्रकार का होता है, यदि उसे केवल दिखावे (appearance) के लिए नहीं पेश किया जा रहा है, बल्कि उसे मूलभूत माना जा रहा है, तब वह नैतिकता के साथ राजनीतिक अर्थशास्त्र के नियमों का ही एकमात्र सम्बन्ध हो सकता है। यदि ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है, अथवा बात यदि इसकी उल्टी है, तो रिकार्डो उसमें क्या कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा नैतिकता के बीच का विरोध मात्र एक ऊपर से दिखने वाला विरोध है और वह उतनी ही मात्रा में विरोध नहीं है जितनी मात्रा में विरोध है। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र नैतिक नियमों को स्वयं अपने ढंग से व्यक्त करता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के रूप में मितव्ययिता की नैतिकता अत्यन्त शानदार ढंग से जनसंख्या के सिद्धान्त में सिद्ध किया गया है। लोगों की संख्या बहुत ज्यादा है। मनुष्य का अस्तित्व भी शुद्ध विलासिता (luxury) है और मजदूर यदि "नैतिक" (ethical) है तो, सन्तान पैदा करने में वह मितव्ययिता से काम लेगा। (मिल ने सुझाव दिया है कि उन लोगों का जो अपने यौनिक सम्बन्धों (sexual relations) में संयम की दृष्टि से सिद्ध करते हैं सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाए, और जो लोग शादी के इस सिद्धान्त के

---

* देखिए : मिशेल शेवालियर, Des interets materiels en France पृ॰ ८०

विरुद्ध पाप करते हैं उनकी सार्वजनिक रूप से भर्त्सना की जाय ..* वैराग्य की यह शिक्षा—क्या यह नैतिकता नहीं है ?) लोगों का पैदा किया जाना एक सार्वजनिक विपत्ति प्रतीत होता है। >

धनाढ्यों के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भ में उत्पादन का जो अर्थ होता है उसकी असलियत उस अर्थ में ज़ाहिर होती है जो ग़रीब के लिए उसका होता है। ऊपर की ओर देखने पर उसकी अभिव्यक्ति हमेशा परिष्कृत, प्रच्छन्न, द्वयर्थक होती है—यह बाह्य दिखावा होता है; नीचे जाने पर वह अपरिष्कृत, कठोर, सीधी, खुली होती है—यही असली चीज़ होती है। मज़दूर की भोंडी (crude) आवश्यकता धनियों की परिष्कृत (refined) आवश्यकता की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा स्रोत लाभ का होती है। लन्दन में ज़मीन के नीचे की (तहख़ानों की) कोठरियों से उन लोगों को जो उन्हें किराये पर उठाते हैं महलों की अपेक्षा कहीं अधिक मुनाफ़ा प्राप्त होता है; इसका यह अर्थ हुआ कि, मकान मालिक के लिए वे अपेक्षाकृत अधिक बड़ा धन होती हैं, और, इस प्रकार, (राजनीतिक अर्थशास्त्र की भाषा में कहा जाय तो) अपेक्षाकृत कहीं अधिक सामाजिक धन (social wealth) का साधन होती हैं।

लाभ की आशा से उद्योग आवश्यकताओं के परिष्कार (refinement) पर रुपया लगाता है, किन्तु उतना ही रुपया उनके अपरिष्कृत (crudeness) रूप पर, कृत्रिम रूप से पैदा किये गये उनके अपरिष्कृत रूप पर वह लगाता है। अतः, उनका वास्तविक सुख-भोग स्वयं अपने को मूढ़ बनाना (self-stupefaction) होता है—यह आवश्यकता की मिथ्या सन्तृप्ति है—बर्बरता के अन्दर छिपी यह आवश्यकता की भोंडी (crude) सभ्यता है। इसलिए इंगलैंड की जिन (एक प्रकार की शराब—अनु०) की-दूकानें निजी सम्पत्ति की प्रतीकात्मक प्रतिनिधि होती हैं। उनकी विलासिता (luxury) मनुष्य के साथ औद्योगिक विलासिता तथा धन के असली सम्बन्ध को प्रकट करती है। इसलिए, वास्तव में, वही जनता के रविवारीय आमोद-प्रमोद के अकेले ऐसे साधन हैं जिनकी तरफ़ इंगलैंड की पुलिस का रवैया कम से कम कुछ नरमी का होता है। ॥१७॥

॥१८॥" इस चीज़ को हम पहले ही देख चुके हैं कि श्रम और पूँजी की

---

* जेम्स मिल, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलतत्व,' लन्दन, १८२१, पृष्ठ ४४। [मार्क्स ने यह उद्धरण पुस्तक के फ्रांसीसी संस्करण, Elements d' economie Politique, पेरिस, १८२३, के पृष्ठ ५९ से दिया है। —सं०

एकता की स्थापना राजनीतिक अर्थशास्त्री कितने विविध तरीकों से करता है, यथा: (१) पूंजी संचित श्रम (accumulated labour) है। (२) उत्पादन के अन्तर्गत पूंजी का लक्ष्य—आंशिक रूप से, मय मुनाफ़े के पूंजी का पुनर्उत्पादन करके, आंशिक रूप से, कच्चे माल (श्रम की सामग्री) के रूप में पूंजी का (उपयोग करके—अनु०); और आंशिक रूप से, अपने-आप (automatically) काम करने वाले उपकरण (instrument) के रूप में पूंजी का। मशीन पूंजी है जो कि प्रत्यक्षतया श्रम के बराबर होती है) उपयोग करके उत्पादक श्रम (को प्राप्त करना—अनु०) है। (३) मजदूर पूँजी है। (४) मजदूरी पूंजी की लागत के अन्तर्गत आती है। (५) मजदूर के सन्दर्भ में, श्रम उसकी जीवन-पूंजी (life-capital) का ही पुनर्उत्पादन होता है। (६) पूंजीपति के सन्दर्भ में श्रम उसकी पूंजी की क्रियाशीलता का एक पहलू (aspect) होता है।

अन्त में, (७) राजनीतिक अर्थशास्त्री पूंजी और श्रम की मौलिक एकता को पूंजीपति और मजदूर की एकता के रूप में देखता है; स्वर्ग की यही आदर्श अवस्था (original state) है। ये दोनों पक्ष, ॥१६॥ दो व्यक्तियों के रूप में, जिस प्रकार एक दूसरे का मुकाबला करते हैं वह राजनीतिक अर्थशास्त्री के लिए एक आकस्मिक (accidental) घटना है, और इसलिए उसको सफ़ाई केवल बाहरी कारणों का हवाला देकर ही की जानी चाहिए। (देखिए मिल)*

वे राष्ट्र जो मूल्यवान धातुओं की इन्द्रियगोचर चमक-दमक से अभी तक चौंधियाये हुए हैं, और इसलिए अब भी धातु की मुद्रा के अंध-पूजक हैं, अभी तक मुद्रा-राष्ट्रों (money-nations) के रूप में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुए हैं। फ़ान्स और इंगलैण्ड का फ़र्क।

सैद्धान्तिक पहेलियों का उत्तर देना किस हद तक व्यवहार का काम है और व्यवहार के ही द्वारा दिया जाता है किस हद तक वास्तविक व्यवहार वास्तविक और असली सिद्धांत की कसौटी है—यह चीज़, उदाहरण के लिए, जड़-पूजावाद (fetishism) से स्पष्ट हो जाती है। जड़-पूजक (fetish worshipper) की इन्द्रियगत चेतना किसी यूनानी की चेतना से भिन्न होती है, क्योंकि उसका ऐन्द्रिक (sensuous) जीवन भिन्न होता है। जब तक कि प्रकृति के प्रति मानवीय संवेदनशीलता, प्रकृति की मानवीय प्रज्ञा (human sense), और इसलिए मानव की प्राकृतिक प्रज्ञा को भी मनुष्य स्वयं अपने श्रम द्वारा नहीं पैदा करते अथवा

* जेम्स मिल, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूल तत्व।'—सं०

तब तक प्रज्ञा (विवेक-बुद्धि—अनु०) और आत्मा (sense and spirit) के बीच सूक्ष्म शत्रुता का बना रहना लाजमी है।

समानता—फ्रान्सीसी भाषा मे, अर्थात् राजनीतिक रूप में किया गया जर्मन "Ich Ich"* का अनुवाद होने के सिवा और कुछ नहीं है। कम्युनिज्म के मूल सिद्धांत के रूप में समानता उसका राजनीतिक औचित्य-समर्थन होती है, और जब सार्वलौकिक आत्म-चेतना (universal self-consciousness) के रूप मे मानव की कल्पना करके जर्मन उसको न्यायोचित ठहराता है तब भी यही बात होती है। स्वभावतः ही, पृथक्करण की अनुभवातीतता (transcendence) सदैव पृथक्करण के उस स्वरूप से निःसृत होती है जो प्रभुताशाली सत्ता के स्थान में होती है: जर्मनी मे, वह आत्म-चेतना होती है, फ्रांस मे, समानता, क्योंकि यह राजनीति है; इंगलैण्ड मे वास्तविक, भौतिक, व्यावहारिक ऐसी आवश्यकता जो केवल अपने को ही अपना मापदण्ड मानती है। प्रूधो की आलोचना तथा उनकी सराहना इसी दृष्टिकोण से की जानी चाहिए।

यदि स्वयं कम्युनिज्म को उसके निषेध के निषेध वाले चरित्र के कारण हम निजी सम्पत्ति के निषेध के माध्यम से मानवीय सार-तत्व के आत्मसात्करण के रूप मे चित्रित करें—ऐसे रूप में जो अभी तक वास्तविक, आत्म-जनन की स्थिति (self-originating position) मे नहीं पहुंचा है, बल्कि निजी सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली स्थिति में [.]** पुराने जर्मन ढंग से—हीगेल के घटना-क्रिया-विज्ञान (phenomenology) के ढंग से—[..] एक विजित क्षण (conquered moment) के रूप मे समापित है, और [.] उससे आदमी मानव-प्राणी के सम्बन्ध में अपनी चेतना [ ] के अन्दर अपने विचार मे पहले ही की तरह अब भी वास्तव में [. .] सर्वोत्कृष्ट बन जाने से, सन्तुष्ट हो सकता है—क्योंकि उसके साथ मनुष्य के जीवन का वास्तविक पृथक्करण जुड़ा रहता है और, जितना ही अधिक आदमी उसके विषय मे सचेत होता है, उतना ही अधिक वह और जुड़ा रहता है—अत., इस कार्य को [पृथक्करण का निषेध करने के इस कार्य को] केवल कम्युनिज्म की स्थापना करके ही पूरा किया जा सकता है।

निजी सम्पत्ति के विचार (idea) का उन्मूलन करने के लिए, कम्युनिज्म का विचार सर्वथा पर्याप्त है। वास्तविक निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करने के

---

* Ich का हिन्दी पर्याय "मैं" है।—स०

** पाण्डुलिपि के इस भाग का एक अंश फट गया है।—स०

लिए वास्तविक कम्युनिस्ट कार्य की आवश्यकता होती है। इतिहास उसकी तरफ से जायेगा, और यह आन्दोलन, जिसे सिद्धान्त रूप में पहले ही हम एक स्वयं-उत्कृष्टता की ओर बढ़ने वाले आन्दोलन (self-transcending movement) के रूप में जानते हैं, वास्तविक जीवन में एक अत्यन्त विषम एवम् दीर्घ-कालीन प्रक्रम सिद्ध होगा। किन्तु, इस ऐतिहासिक आन्दोलन के सीमित स्वरूप तथा लक्ष्य के सम्बन्ध में आरम्भ में ही चेतना प्राप्त कर लेने की बात को हमें वास्तविक प्रगति मानना चाहिए—और यह चेतना ऐसी है जो उससे भी बहुत आगे तक जाती है।

कम्युनिस्ट कारीगर जब एक दूसरे के साथ मिलते हैं (संघबद्ध होते हैं—अनु०) तो उनका प्रथम लक्ष्य सिद्धान्त, प्रचार, आदि होता है। परन्तु, इसी के साथ-साथ, इस मेल-मिलाप के फलस्वरूप, उनके अन्दर एक नयी आवश्यकता भी पैदा हो जाती है—समाज की आवश्यकता—और जो चीज एक साधन के रूप में सामने आती है वह एक लक्ष्य बन जाती है। इस व्यावहारिक प्रक्रिया के क्रम में सर्वाधिक सुन्दर परिणाम उस समय देखने को मिलते हैं जिस समय कि फ्रान्सीसी समाजवादी मजदूर एक साथ इकट्ठा हो जाते हैं। उनके बीच पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए या उन्हें एक स्थान पर जमा करने के लिए अब बीड़ी-सिगरेट पीने, मदिरा पान करने, खाना खाने, आदि जैसे उपकरणों की आवश्यकता नही रह जाती। संगीत, साहचर्य तथा आपसी बातचीत, जिसका लक्ष्य फिर समाज ही होता है, इस कार्य के लिए पर्याप्त होते हैं; मनुष्य का बन्धुत्व-भाव उनके लिए मात्र एक अलंकारिक शब्दावली नही होता, बल्कि उनके जीवन की एक वास्तविकता बन जाता है, और काम के कारण रुक्ष हो गये उनके शरीरों से मानवीय गरिमा हमारे ऊपर दमकती दिखलायी देती है।

।।२०। < राजनीतिक अर्थशास्त्र जब यह दावा करता है कि माँग और पूर्ति हमेशा एक दूसरे के साथ संतुलन बनाये रखते हैं, तो इस बात को वह तत्काल भूल जाता है कि स्वयं उसके अपने ही दावे (जनसंख्या के सिद्धान्त) के अनुसार, लोगों (people) की आपूर्ति (supply) माँग (demand) से हमेशा अधिक होती है और, इसलिए, उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के मूलभूत परिणाम के रूप में—मनुष्य का अस्तित्व—माँग और पूर्ति के बीच का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है।

मुद्रा (money) जो कि, एक साधन के रूप में सामने आती है, किस हद तक वास्तविक शक्ति तथा एकमात्र लक्ष्य बन जाती है; किस हद तक आम तौर से वे साधन—जो मुझे एक जीवित-प्राणी (being) में रूपान्तरित कर देते हैं,

जो परकीय वस्तुगत सत्ता (being) से ऊपर मेरा क़ब्ज़ा करवा देते हैं—स्वयं एक लक्ष्य होते हैं इस चीज को इस बात से देखा जा सकता है कि भू-सम्पत्ति को, जहाँ भूमि ही जीवन का स्रोत होती है, तथा घोड़े और तलवार को भी—जहाँ वही जीवन के वास्तविक साधन होते है, असली राजनीतिक शक्तियों के रूप में जीवन में स्वीकार किया जाता है। मध्य युगों में सामाजिक सम्पत्ति को ज्योंही तलवार रखने का अधिकार प्राप्त हो जाता है त्योंही वह दासत्व से मुक्ति पा जाती है। खानाबदोश क़बीलों के बीच जो वस्तु मुझे एक स्वतन्त्र मनुष्य की हैसियत प्रदान करती है तथा समुदाय (community) के जीवन में भागीदार बनाती है—वह घोड़ा है।

हमने ऊपर कहा है कि मनुष्य वापस गुफाओं के घरों, आदि की तरफ वापस लौट रहा है—किन्तु इस उल्टी दिशा में वह एक पृथक्कृत, बुरी तरह से बीमार आदमी के रूप में वापस जा रहा है। अपनी गुफा में—उस प्राकृतिक तत्त्व स्थान में, जो उसके उपयोग और उसकी रक्षा के लिए मुक्त रूप से सुलभ है—जंगली मानव अब अपने को अजनबी' नहीं महसूस करता, बल्कि उसमें उसी तरह सुख-चैन अनुभव करता है जिस तरह कि मछली पानी के अन्दर अपने को अपने घर में अनुभव करती है। परन्तु ग़रीब आदमी की तहखाने की कोठरी उसके लिए एक दुश्मन तत्त्व होती है, "रहने की ऐसी जगह होती है जो एक परकीय शक्ति ही बनी रहती है और अपने को उसके लिए उसी हद तक सुलभ बनाती है जिस हद तक कि वह स्वयं उसे अपना ख़ून और पसीना देता है"—वह रहने की ऐसी जगह बनी रहती है जिसे वह स्वयं अपना ऐसा घर नहीं समझ सकता जहाँ पहुँच कर सन्तोष की सांस लेता हुआ वह कह सके : "लो, मैं अपने घर आ गया!" इसके विपरीत, वह ऐसी जगह होती है जहाँ अपने को वह किसी दूसरे के घर में रहता हुआ महसूस करता है, एक ऐसे अजनबी के घर में रहता हुआ महसूस करता है जो सदा उस पर नज़र रखता है और जो किराया न देने पर उसे उसमें से निकाल बाहर कर देता है। अपने रहने की जगह और इन्सानों के रहने की उस जगह (human dwelling) के बीच के उस गुणात्मक अन्तर को भी वह जानता है जो दूसरी दुनिया में, धन के स्वर्ग-लोक में स्थित है।

पृथक्करण केवल इस वास्तविकता के रूप में नहीं अभिव्यक्त होता कि जीवन के मेरे साधन किसी और की सम्पत्ति हैं, कि मेरी इच्छा किसी दूसरे के अलंघ्य (inaccessible) क़ब्ज़े में है, बल्कि इस तथ्य में भी अभिव्यक्त होता है कि प्रत्येक चीज़ स्वयं अपने से कुछ भिन्न है—कि मेरी क्रियाशीलता कोई और

ही चीज है और, अन्ततः (और यह बात पूँजीपति पर भी लागू होती है), सब-कुछ एक अमानवीय शक्ति के [वश में]* है।

निष्क्रिय, उड़ाऊ-खाऊ ऐसे धन की भी एक क़िस्म है जो पूरे तौर से सुख-भोग मे ही लिप्त रहता है; उसका उपभोक्ता एक ओर तो एक ऐसे मात्र क्षण-भंगुर व्यक्ति के रूप मे आचरण करता है जो निरुद्देश्य रूप से पागलों की तरह अपने को समाप्त करता रहता है, और (दूसरी ओर–अनु०) दूसरों के दास-श्रम (slave-labour) को (मनुष्य के पसीने और खून को) भी अपनी ही धन-लिप्सा का भक्ष्य मानता है। अतः, स्वयं मनुष्य को और इसीलिए, स्वयं अपने को भी, वह एक बलि चढ़ा दिये गये तथा निस्सार जीव के रूप में जानता है। इस तरह के धन के साथ ही मनुष्य के प्रति तिरस्कार की भी भावना का जन्म होता है, आंशिक रूप से हेकड़ी के तथा उस चीज को उड़ा कर फूँक देने के रूप में जो सैकड़ों मानव जीवनों को उपजीविका प्रदान कर सकती है, और आंशिक रूप से उस कुख्यात व्यामोह के चक्कर मे कि उसके द्वारा की जाने वाली बेलगाम फ़िज़ूलखर्ची तथा निरन्तर अनुत्पादक उपभोग किसी दूसरे व्यक्ति के श्रम और, इसलिए, जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य की मूलभूत शक्तियों द्वारा आत्मबोध प्राप्त करने की क्रिया को वह स्वयं अपनी मनिवादी हरकतों की, स्वयं अपनी सनकों तथा खब्ती, बेतुकी धारणाओं की आत्मबोध-प्राप्ति की ही क्रिया मानता है। दूसरी ओर, यह धन (wealth) जो धन को फिर मात्र एक साधन के रूप मे, एक ऐसी चीज के ही रूप मे जानता है जो सिवा इसके और किसी काम की नहीं है कि उसे नष्ट कर दिया जाय और जो, इसीलिए, एक साथ ही दास और मालिक होता है, एक साथ ही, उदार और कमीना, सनकी, प्रगल्भ, अहंकारी, परिष्कृत, सुसंस्कृत तथा परिहास-पटु होता है—इस धन ने अभी तक एक सर्वथा परकीय शक्ति के रूप में धन के आधिपत्य का अपने ऊपर अनुभव नहीं किया है; इसके विपरीत, उसके अन्दर उसे अपनी ही शक्ति दिखलायी देती है, और [उसका अंतिम]* लक्ष्य धन [नहीं]*, बल्कि मौज-मज़ा करना [है]।**

इसके [...]*** ।।२१। तथा धन के स्वरूप के सम्बन्ध में अथवे

---

* पाण्डुलिपि यहाँ क्षतिग्रस्त दशा में है।—सं०

** पाण्डुलिपि यहाँ पर क्षतिग्रस्त हो गयी है।—सं०

*** पाण्डुलिपि के इस पृष्ठ का एक अंश फट गया है, लगभग तीन पंक्तियाँ गायब हो गयी है।—सं०

दमकते उस भ्रम के मुकाबले में, जो ऐन्द्रिक दिखावों के कारण अन्धा हो गया है, कर्मठ, संजीदा, काम-काजी, मितव्ययी, ऐसा उद्योगपति आता है जो धन के स्वरूप के विषय में पूरे तौर से जानकार है और जो, दूसरे व्यक्ति के शौकों (self-indulgence) को पूरा करने के लिए और भी व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करते तथा, अपनी पैदावारों के रूप में (क्योंकि उसकी पैदावारें खाऊ-उड़ाऊ व्यक्ति की इच्छा-आकांक्षाओं की पूर्ति के ही अधम साधन हैं), अत्यन्त घिनौने ढंग से उसकी खुशामदें करते हुए भी, इस बात को जानता है कि दूसरे व्यक्ति की क्षीण होती हुई शक्ति को कैसे एकमात्र उपयोगी ढंग से वह स्वयं अपने लिए हस्तगत कर ले सकता है। अत:, औद्योगिक धन-सम्पदा आरम्भ में चाहे एकदम उड़ाऊ मनमौजी आदमी की धन-सम्पदा का ही फल प्रतीत होती हो, किन्तु उसकी गति (motion), उसके अन्दर की गति, इस अतिव्ययी शक्की धन-सम्पदा को भी सक्रिय रूप से बेदखल कर देती है। क्योंकि ब्याज की दर (rate of interest) का नीचे गिरना औद्योगिक विकास का अनिवार्य परिणाम तथा फल होता है। अत:, खाऊ-उड़ाऊ लगान-जीवी (rentier) के साधन भोग-विलास की बढ़ती हुई सम्भावनाओं तथा खतरों के उल्टे अनुपात में दैनन्दिन घटते जाते हैं। अतएव, उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि या तो अपनी पूंजी को वह खा डाले, और इस तरह अपने को तबाह कर ले, या फिर एक औद्योगिक पूंजीपति बन जाय। ... दूसरी ओर, औद्योगिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप, जमीन के लगान में सीधे-सीधे निरन्तर वृद्धि होती जाती है; इसके बावजूद, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, एक ऐसे समय का आ जाना अनिवार्य है जबकि, अन्य हर प्रकार की सम्पत्ति की ही तरह, भू-सम्पत्ति भी आवश्यक रूप से लाभदायी ढंग से स्वयं अपना पुनरुत्पादन करने वाली पूंजी* की श्रेणी में आ जाय—और, वास्तव में, ऐसा उसी औद्योगिक विकास के ही फलस्वरूप होता है। इस प्रकार, खाने-उड़ाने वाले भू-स्वामी के लिए भी आवश्यक है कि या तो अपनी पूंजी को वह खा डाले, और इस तरह बर्बाद हो जाय, या स्वयं अपनी जागीर का काश्तकार (farmer)—एक खेतिहर उद्योगपति (agricultural industrialist) बन जाय।

अत: रुपये के ब्याज में होने वाली कमी—जिसे कि प्रूधों पूंजी के उन्मूलन तथा उसके समाजवादीकरण की प्रवृत्ति मानते हैं—वास्तव में, उड़ाये जाने वाले धन के ऊपर कार्यरत पूंजी (working capital) की पूर्ण विजय का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अर्थात्, वह इस बात का प्रमाण है कि समस्त निजी सम्पत्ति औद्योगिक

* इस पुस्तक के पृष्ठ ८१ से ८७ तक देखिए।—स०

पूंजी में रूपान्तरित हो गयी है। यह निजी सम्पत्ति की अपने उन तमाम गुणों के ऊपर पूर्ण विजय का परिचायक है जो अब भी देखने में मानवीय प्रतीत होते हैं, और इस बात का परिचायक है कि निजी सम्पत्ति का स्वामी पूरे तौर से निजी सम्पत्ति के मूल तत्व के—श्रम के, अधीन हो गया है। बेशक, औद्योगिक पूंजीपति भी मौज-मज़ा करता है। वह किसी भी रूप में आवश्यकता की अप्राकृतिक सरलता (unnatural simplicity) की दुनिया में पुनः वापस नहीं लौट जाता; किन्तु उसका आमोद-प्रमोद केवल एक गौण चीज़—मनोरंजन—होता है, एक ऐसी चीज होता है जो उत्पादन के अधीन होती है। साथ ही साथ, उसका यह आमोद-प्रमोद एक सोचा-समझा, परिकलित (calculated) और, इसलिए, स्वयं एक व्यय-पूरक (economical) कदम होता है। क्योंकि उसके खर्च को वह अपनी पूंजी के खर्च के लेखे (expense account) में डाल देता है और, इसलिए, उसके भोग-विलास पर जो रुपया फूंका जाता है वह उससे अधिक नहीं हो सकता जो पूंजी के पुनरुत्पादन के माध्यम से उसे मुनाफ़ा सहित वापस मिल जायगा। अतएव, भोग-विलास को पूंजी के अन्तर्गत, और मौज-मज़ा-उड़ाने वाले व्यक्ति को पूंजी-संचित करने वाले व्यक्ति के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाता है। पहले स्थिति इसकी बिल्कुल उल्टी थी। अतः ब्याज की दर में होने वाली कमी केवल उसी हद तक पूंजी के उन्मूलन का प्रमाण होती है जिस हद तक कि वह पूंजी के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शासन का—उस पृथक्करण का प्रमाण होती है जो कि बढ़ता जाता है और इसलिए उसके उन्मूलन की अवस्था को अधिकाधिक नज़दीक लाता जाता है। वास्तव में, यही एकमात्र वह तरीक़ा है जिससे कि जो चीज़ मौजूद है वह अपनी विरोधी चीज़ की अभिपुष्टि करती है। >

इस प्रकार, राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के बीच ऐयाशी और किफ़ायतशारी (विलासिता तथा मितव्ययिता) को लेकर जो विवाद है वह केवल उस राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के—जिसने धन की प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्ट समझ प्राप्त कर ली है, तथा उस राजनीतिक अर्थशास्त्र के बीच का विवाद है—जो अब भी अपनी भावुकतापूर्ण, उद्योग-विरोधी स्मृतियों से ग्रस्त है। किन्तु, उनमें से कोई भी इस चीज को नहीं जानता कि विवाद के विषय को कैसे उसके सरल रूप में परिवर्तित कर दिया जाय और, इसलिए, उनमें से कोई भी दूसरे का अन्त नहीं कर सकता। ।२१।।

।।३४।।[14] इसके अलावा, भूमि के किराये की हैसियत से भूमि के लगान को

समाप्त कर दिया गया है, क्योंकि फ़िज़ियोक्रैटों (भू-अर्थशास्त्रियों)* के उस तर्क के विपरीत जो कहता है कि भू-स्वामी ही एकमात्र असली उत्पादक होता है—आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि भू-स्वामी के रूप में भू-स्वामी ही एकमात्र लगान खाने वाला ऐसा प्राणी है जो पूरे तौर से अनुत्पादक है। इस सिद्धान्त के अनुसार, कृषि करना पूँजीपति का काम है, उसमें वह तभी पूँजी लगाता है जबकि उसे यह आशा होती है कि उससे वह प्रचलित मुनाफ़ा कमाने में सफल होगा। फ़िज़ियोक्रैट का यह दावा कि - एकमात्र उत्पादक सम्पत्ति के रूप में अकेले भू-सम्पत्ति को ही राजकीय कर भरने चाहिये और इसलिए उनको पास करने तथा राज्य के कार्य-सञ्चालन में भाग लेने का भी अधिकार केवल उसी को होना चाहिए—पूरे तौर से उलट कर अपने इस विरोधी रूप में बदल जाता है कि भूमि पर लगाया जाने वाला कर ही एकमात्र ऐसा कर है जो अनुत्पादक आय (unproductive income) पर लगता है और, इसलिए, वही एकमात्र ऐसा कर है जो राष्ट्रीय उत्पादन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डालता। यह बात तो बिना कहे ही साफ़ है कि इस दृष्टि से देखा जाय तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रमुख करदाताओं की हैसियत से भू-स्वामियों को राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त होने चाहिए।

हर वह चीज जिसकी प्रूधों पूँजी के विरुद्ध श्रम के आन्दोलन के रूप में कल्पना करते हैं केवल पूँजी के, औद्योगिक पूँजी के, निर्धारण के लिए श्रम का आन्दोलन है, वह जिस पूँजी का पूँजी के रूप में उपभोग नहीं किया जाता, अर्थात्, औद्योगिक रूप से जिसका उपभोग नहीं किया जाता उसके विरुद्ध आन्दोलन है। और यह आन्दोलन अपने विजयी मार्ग पर—औद्योगिक पूँजी की विजय के राज-मार्ग पर बढ़ता चला जा रहा है। अतएव, यह बात स्पष्ट है कि वास्तविक आर्थिक प्रक्रिया का यथार्थ रूप से केवल तभी विश्लेषण किया जा सकता है जबकि श्रम को निजी सम्पत्ति के मूलतत्व के रूप में स्वीकार किया जाय।

राजनीतिक अर्थशास्त्री को समाज एक ऐसे नागरिक समाज (Civil Society) के रूप में दिखलायी देता है जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकताओं का कुल योग (समष्टि—अनु०) होता है और उसका अस्तित्व केवल ।।२५। दूसरे व्यक्ति के लिए ही होता है—उसी तरह जिस तरह कि दूसरा व्यक्ति उसके लिए अस्तित्व रखता है—यहाँ तक कि उनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए एक साधन

---

* १८वीं शताब्दी के भू-अर्थशास्त्री जिनका सिद्धान्त था कि केवल भूमि और कृषि ही धन के स्रोत होते हैं।—स०

का कार्य करता है। राजनीतिक अर्थशास्त्री प्रत्येक वस्तु को काट-छांट कर (उसी तरह जिस तरह कि मानव के अधिकारों के साथ राजनीति करती है) मनुष्य बना देता है, अर्थात्, ऐसा व्यक्ति बना देता है जिसमें कि उसकी सारी पहचान मिटा दी गयी है ताकि उसे वह पूंजीपति या मजदूर की श्रेणी में वर्गीकृत कर सके।

श्रम-विभाजन पृथक्करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत श्रम के सामाजिक स्वरूप की आर्थिक अभिव्यञ्जना होता है। अथवा, चूंकि श्रम परकीयकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत मानवीय क्रियाशीलता का, जीवन के परकीयकरण की अभिव्यञ्जना का ही मात्र प्रत्यक्षीकरण होता है, इसलिए श्रम विभाजन भी, जाति-मूल की वास्तविक क्रियाशीलता के रूप मे, अथवा जाति-मूल के एक प्राणी की हैसियत से मनुष्य की क्रियाशीलता के रूप मे, मानवीय क्रियाशीलता को पृथक्कृत, परकीयकृत स्थिति मे आसीन कर देने के सिवा और कुछ नही होता।

जहां तक कि श्रम विभाजन के मूलतत्व का सम्बन्ध है—और, निस्सदेह, ज्योंही श्रम को निजी सम्पत्ति के मूलतत्व के रूप में स्वीकार कर लिया गया त्योंही यह आवश्यक हो गया कि धन के उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम विभाजन को एक प्रमुख चालक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाय—अर्थात्, जहाँ तक कि जाति-मूल (species) की क्रियाशीलता के रूप में मानवीय क्रियाशीलता के पृथक्कृत तथा परकीयकृत स्वरूप का सम्बन्ध है—राजनीतिक अर्थशास्त्री उनके विषय मे अत्यन्त गोल-मोल तथा परस्पर-विरोधी बातें करते हैं।

एडम स्मिथ : "श्रम का यह विभाजन [..] मूल रूप से किसी मानवीय बुद्धिमत्ता का परिणाम नही है [...]। वह एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ अदल-बदल करने, वस्तु-विनिमय (barter) करने, तथा विनिमय (exchange) करने की प्रवृत्ति का आवश्यक, [...] मन्दगामी तथा क्रमिक परिणाम [...] है।" [...] व्यापार करने की "यह प्रवृत्ति" सम्भवत: "विवेक और वाणी [...] के उपयोग का अवश्यभावी परिणाम है। यह चीज सभी मानवों में पायी जाती है, और पशुओ की दूसरी किसी नस्ल में नही पायी जाती।" पशु, जब वह बड़ा हो जाता है, पूरे तौर से स्वतन्त्र होता है। "मनुष्य को लगभग सदा ही दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है, और उसके लिए यह आशा करना कि वह उसे केवल उनकी दया-भावना से प्राप्त हो जायगी निरर्थक है। कि यदि वह उनके निजी हित के नाम पर अपील करे, और उनके सामने यह सिद्ध कर दे कि जो कुछ वह उनसे अपने लिए करवाना चाहता है उसका करना स्वयं

उनके ही हित में है—तो इस बात की अधिक सम्भावना है कि वह कामयाब हो जायगा। [...] हम उनकी मानवता के नाम पर नहीं, बल्कि उनके आत्म-प्रेम (self-love) के नाम पर अपील करते हैं, और स्वयं अपनी आवश्यकताओं की बात उनसे कभी नहीं करते, बल्कि उनके फ़ायदों की ही बात करते हैं। [...]

"जिस पारस्परिक सहायता की हमें आवश्यकता होती है उसके अधिकांश को हम चूंकि एक दूसरे के साथ सन्धि करके, वस्तु-विनिमय करके, तथा खरीद कर प्राप्त करते हैं, इसलिए अदला-बदली करने (trucking) की यह प्रवृत्ति ही वह चीज़ है जो आरम्भ में श्रम विभाजन को जन्म देती है। उदाहरण के लिए, शिकारियों तथा गडरियों के क़बीले में एक विशेष व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक तत्परता तथा निपुणता से तीर-कमान तैयार करता है। बहुधा अपने साथी-संगियों से चौपायों अथवा मृग-मांस के बदले में वह उनका विनिमय कर लेता है; और अन्त में उसे यह पता चलता है कि खुद मैदान में जाकर उन्हें पकड़ने के बजाय इस ढंग से काम करके वह अधिक चौपाये और मृग-मांस प्राप्त कर ले सकता है। अतः स्वयं उसके अपने ही लाभ की दृष्टि से तीर-कमान आदि, बनाना उसका मुख्य धन्धा बन जाता है।]

"विभिन्न मनुष्यों में [...] प्राकृतिक प्रवणता (Natural talents) का अन्तर श्रम विभाजन का कारण इतना नहीं होता [...] जितना कि उसका परिणाम . अदला-बदली करने [...] तथा विनिमय करने की प्रवृत्ति न होती, तो हर मनुष्य के लिए आवश्यक होता कि अपने लिए जीवन की प्रत्येक आवश्यकता तथा सुविधा को वह स्वयं मुहैया करे [.] तब सबके लिए आवश्यक होता [..] कि वे एक ही तरह का काम करें, और तब काम में ऐसा कोई फर्क न होता जो प्रवणताओं [विशेष क्षमताओं—अनु॰) में कोई बड़ा अन्तर उत्पन्न कर सकता।

"किन्तु, जिस तरह यह प्रवृत्ति वास्तव में मौजूद है जो मनुष्यों के बीच [..] प्रवणताओं का अन्तर पैदा करती है [...। उसी तरह यही प्रवृत्ति उस अन्तर को उपयोगी भी बनाती है। एक ही जाति-मूल के पशुओं की अनेक ऐसी क़िस्में हैं जो प्रकृति से प्रतिभा के ऐसे विभेद-गुण प्राप्त कर लेती हैं जो उन विभेद-गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक विलक्षण हैं जिन्हें—ऐसा प्रतीत होता है—रीति-रिवाज और शिक्षा से पहले मनुष्य प्राप्त कर सकते थे। प्राकृतिक रूप से, प्रतिभा और बुद्धि की दृष्टि से

किसी दार्शनिक और सड़क के किसी कुली के बीच उसका आधा भी अन्तर नहीं होता जो कुत्तों की दो किस्मों के बीच—मास्टिफ़ और ग्रेहाउण्ड के बीच, अथवा ग्रेहाउण्ड और स्पेनियल के बीच, अथवा स्पेनियल तथा गड़रिए के कुत्ते के बीच होता है। परन्तु पशुओं की ये अलग-अलग जातियाँ, यद्यपि वे एक ही मूल-जाति से सम्बन्धित होती हैं, एक दूसरे के लिए मुश्किल से ही किसी प्रकार से उपयोगी होती हैं। ग्रेहाउण्ड की फुर्ती का उपयोग करके मास्टिफ़ अपनी उन क्षमताओं में कोई इज़ाफ़ा नहीं कर सकता जो उसे स्वयं ॥३१॥ प्राप्त हैं, आदि। इन विभिन्न प्रवणताओं, अथवा प्रज्ञा (intelligence) की कोटियों (grades) के लाभों का—वस्तु-विनिमय करने और विनिमय करने की शक्ति अथवा प्रवृत्ति के अभाव में—सर्व-सामान्य के हित में नहीं उपयोग किया जा सकता; और न वे जाति-मूल के जीवन को बेहतर बनाने तथा उसके लिए अधिक सुख-सुविधा जुटाने के कार्य में ही रत्ती भर भी योगदान कर पाते हैं। प्रत्येक पशु अब भी इस बात के लिए विवश है कि, अलग-अलग तथा स्वतन्त्र रूप से, वह स्वयं अपना भरण-पोषण करे और अपनी रक्षा करे, उसे अपने संगी-पशुओं की निपुणताओं की उस विविधता से किसी भी तरह का लाभ नहीं प्राप्त होता जो प्रकृति ने उन्हें प्रदान करके उन्हें विशिष्ट बनाया है। इसके विपरीत, मनुष्यों के बीच—एक दूसरे से सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रतिभाएँ रखने वाले लोग—एक दूसरे के काम आते हैं; उनकी भिन्न-भिन्न निपुणताओं द्वारा उत्पादित नाना प्रकार की वस्तुएँ—अदला-बदली, वस्तु-विनिमय, तथा विनिमय करने के उनके आम रुझान के कारण—मानो एक तरह से सामान्य भण्डार में आती जाती हैं। यहाँ से प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के उद्यम की पैदावारों के उस अंश को खरीद ले सकता है जिसकी उसे दरकार होती है। [...]

"चूँकि श्रम विभाजन का उदय विनिमय करने की शक्ति से ही सदैव होता है, इसलिए अनिवार्य है कि इस विभाजन की सीमा भी सदा उस शक्ति की सीमा से, अथवा, दूसरे शब्दों में, बाजार की सीमा से निर्धारित हो। बाजार जब बहुत छोटा होता है, तब इस बात के लिए किसी भी व्यक्ति को प्रोत्साहन नहीं मिल सकता कि अपने को पूरे तौर से बस एक ही काम (पेशे—अनु०) में लगा दे—क्योंकि ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का अभाव होता है जिसकी मदद से वह अपने श्रम की पैदावार के उस समस्त अतिरिक्त भाग को—जो उसके अपने उपभोग की आवश्यकता से

अधिक तथा ऊपर होता है, वह दूसरे मनुष्यों के श्रम की पैदावार के ऐसे अंशों के साथ विनिमय कर ले जिसकी उसे जरूरत है ..."

समाज की उन्नत अवस्था में "प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार विनिमय करके जीवित रहता है और किसी हद तक, एक व्यापारी (Merchant) बन जाता है, और समाज स्वयं तरक्की करके सही माने में एक व्यावसायिक (commercial) समाज में परिवर्तित हो जाता है।" [देखिए : Destutt de Tracy की Elements d'Ideologie, पेरिस १८२६, पृष्ठ ६८ और ७८] . "समाज पारस्परिक विनिमयों की एक शृंखला होता है, समाज का सम्पूर्ण सारतत्व व्यवसाय में अन्तर्निहित होता है।"). . श्रम विभाजन के साथ-साथ पूंजियों का संचय बढ़ता जाता है, और इसका उल्टा होने पर उसका परिणाम भी उल्टा होता है।

इतनी बात एडम स्मिथ* की हुई।

"प्रत्येक परिवार यदि उस सबको पैदा कर लेता जिसका वह उपभोग करता है, तो, बिना किसी प्रकार के विनिमय के भी, समाज चलता रहता; बिना अनिवार्य हुए भी, विनिमय समाज की हमारी उन्नत अवस्था के लिए लाजमी है। श्रम विभाजन मनुष्य की शक्तियों का कुशलतापूर्वक किया गया विस्तारण (deployment) है, वह समाज के उत्पादन को—उसकी शक्ति तथा उसके सुख-आनन्द को—बढ़ाता है, किन्तु अलग-अलग रूप में प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता को वह सीमित करता है, उसे घटाता है। बिना विनिमय के उत्पादन नहीं हो सकता।"

यह कहना है जे० बी० से०** का।

"मनुष्य में जो शक्तियां अन्तर्निहित होती हैं वे हैं उसकी बुद्धि (प्रज्ञा—अनु०) तथा काम करने की उसकी शारीरिक क्षमता। जो शक्तियां समाज की परिस्थिति से उत्पन्न होती हैं वे हैं श्रम को विभाजित करने तथा भिन्न भिन्न लोगों के बीच भिन्न भिन्न कामों को वितरित करने की क्षमताएं ... और पारस्परिक सेवाओं तथा उन उत्पादों का विनिमय

---

* एडम स्मिथ, "राष्ट्रों का धन", भाग १, अध्याय ३-४, पृष्ठ १२-२१। उद्धरण कुछ हिस्सों को छोड़कर तथा बदल कर दिये गये हैं। —सं०

** जां—बातिस्ते से, Traite d' economie Politique, पेरिस, १८१७, खण्ड १, पृष्ठ ३००, ७६-७७; खण्ड २, पृष्ठ ६। —सं०

करने की क्षमता जिनसे इन सेवा-साधनों का निर्माण होता है। जो चीज मनुष्य को दूसरे मनुष्य के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने की प्रेरणा देती है वह होती है उसका आत्म-हित—की गयी सेवाओं के उपलक्ष में वह पुरस्कार (या प्रतिफल-अनु०) चाहता है। मनुष्यों के बीच विनिमय-व्यवस्था की स्थापना के लिए निजी सम्पत्ति पर एकान्तिक अधिकार का होना अत्यावश्यक है।" "विनिमय तथा श्रम-विभाजन पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।"

यह स्कारबेक* की राय है।

मिल विकसित विनिमय की व्यवस्था को—व्यापार (Trade) को-श्रम-विभाजन के परिणाम के रूप में पेश करते हैं।

"मनुष्य की क्रिया-शक्ति का उद्‌गम बहुत ही साधारण तत्वों से होता है। वास्तव में, गति (motion) पैदा करने से अधिक और कुछ वह कर ही नहीं सकता। वस्तुओं को वह एक दूसरे के क़रीब पहुंचा सकता है, और वह उन्हें एक दूसरे से विलग कर सकता है:॥३७॥—शेष सब काम भूत (matter) के गुण (qualities) करते हैं।" "श्रम तथा मशीनों का उपयोग करते समय बहुधा यह देखा जाता है कि कुशलतापूर्वक उनका वितरण करके, उन तमाम संक्रियाओं (operations) को जिनके अन्दर एक दूसरे के मार्ग मे रुकावट पैदा करने की कोई भी प्रवृति होती है—विलग करके, तथा उन तमाम संक्रियाओं को जिनसे किसी भी ढंग से एक दूसरे की मदद करवायी जा सकती है, एक जगह संकेन्द्रित करके, उनके परिणामों मे वृद्धि को जा सकती है। चूंकि मनुष्य आमतौर से बहुत से अलग-अलग कार्य एक ही जैसी उस फुर्ती तथा कार्य-पटुता से नही कर सकते जिससे कि, अभ्यास के द्वारा सीख कर, वे कुछ कार्यों को कर सकते हैं—इसलिए, इस चीज में हमेशा फायदा होता है कि उनमें से हर एक को जो काम करने के लिए दिये जायें उनकी संख्या को जहाँ तक सम्भव हो सीमित रखा जाय। क्योंकि सर्वाधिक लाभदायी ढंग से श्रम का विभाजन करने, तथा मनुष्य की क्षमताओं और मशीनो का वितरण करने के लिए अधिकांश मामलो मे यह आवश्यक होता है कि काम को बड़े पैमाने पर किया जाय; दूसरे शब्दो मे, मालों का उत्पादन ज्यादा अधिक परिमाणों

* फ्रेडरिक स्कारबेक, "Theorie des richesses Sociales", पेरिस, १८२९, खण्ड १, पृष्ठ २५-२७, ७५ तथा १२१-१३२।—स०

मे किया जाय। बड़े-बड़े कारखानों का जन्म इस तरह होने वाले इसी लाभ की वजह से होता है; इनमे से कुछ वे कारखाने जो सर्वाधिक सुविधाजनक स्थिति मे होते हैं, बहुत बार न केवल एक देश को, बल्कि अनेक देशो को जितना वे चाहते है उतने उत्पादित माल की आपूर्ति करते हैं।"

यह है मिल* का मत।

किन्तु, सम्पूर्ण आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र इस बात पर एकमत है कि श्रम विभाजन तथा उत्पादन की प्रचुरता, श्रम विभाजन तथा पूंजी का सचय पारस्परिक रूप से एक दूसरे का निर्धारण करते हैं, इस पर वह उसी तरह एकमत है जिस तरह कि इस बात पर पूर्णतया सहमत है कि केवल वही निजी सम्पत्ति श्रम विभाजन की सर्वाधिक उपयोगी तथा व्यापक व्यवस्था की स्थापना कर सकती है जो अपने मार्ग का अनुसरण करने के लिए स्वयं स्वतन्त्र होती है।

एडम स्मिथ के तर्क के सारांश को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: श्रम विभाजन श्रम को निस्सीम उत्पादन क्षमता से लैस कर देता है। श्रम विभाजन का जन्म विनिमय तथा मालो की अदला-बदली करने की प्रवृत्ति की कोख से, विशिष्ट रूप से उस मानवीय प्रवृत्ति की कोख से हुआ है जो कि, सम्भवतः, कोई आकस्मिक चीज नही है, बल्कि सद्-विवेक तथा वाणी (reason and speech) के उपयोग मे उत्पन्न हुई है। जो लोग विनिमय करते हैं उनका उद्देश्य मानवता की सेवा करना नही, बल्कि निजी स्वार्थ की पूर्ति करना होता है। मानवीय निपुणताओं की विविधता श्रम विभाजन का, अर्थात् विनिमय का, कारण होने के बजाय उसका परिणाम अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, इस तरह की विविधता को केवल श्रम विभाजन ही, अर्थात विनिमय ही, उपयोगी बनाता है। मानवीय रुझानो तथा क्रियाशीलता मे भिन्नता की जो मात्राएं होती हैं उनकी अपेक्षा वे विशिष्टिताएं प्राकृतिक रूप से ही अधिक स्पष्ट तरह से अंकित पायी जाती हैं जो पशु की मूल-जाति के अन्दर की विभिन्न नस्लो मे मौजूद होती हैं। परन्तु, चूंकि पशु विनिमय का कार्य नही कर सकते, इसलिए किसी भी अकेले पशु को उसी मूलजाति के किन्तु विभिन्न नस्लो के पशुओ के गुणो के वैभिन्य से कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। पशुओं मे यह शक्ति नहीं होती कि अपनी मूलजाति के भिन्न-भिन्न गुणों (अथवा विशिष्टताओं —अनु०) का वे संयोजन कर लें, और न उनमे यही क्षमता होती है कि अपनी

* जेम्स मिल "राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलतत्व", पृष्ठ ५–६ तथा ८–९।–सं०

करने की क्षमता जिनसे इन सेवा-साधनों का निर्माण होता है। जो चीज मनुष्य को दूसरे मनुष्य के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने की प्रेरणा देती है वह होती है उसका आत्म-हित—की गयी सेवाओं के उपलक्ष में वह पुरस्कार (या प्रतिफल-अनु०) चाहता है। मनुष्यों के बीच विनिमय-व्यवस्था की स्थापना के लिए निजी सम्पत्ति पर एकान्तिक अधिकार का होना अत्यावश्यक है।" "विनिमय तथा श्रम-विभाजन पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।"

यह स्कारबेक* की राय है।

मिल विकसित विनिमय की व्यवस्था को—व्यापार (Trade) को-श्रम-विभाजन के परिणाम के रूप में पेश करते हैं।

"मनुष्य की क्रिया-शक्ति का उद्गम बहुत ही साधारण तत्वों से होता है। वास्तव मे, गति (motion) पैदा करने से अधिक और कुछ वह कर ही नहीं सकता। वस्तुओं को वह एक दूसरे के क़रीब पहुंचा सकता है, और वह उन्हे एक दूसरे से विलग कर सकता है: ॥३७। —शेष सब काम भूत (matter) के गुण (qualities) करते हैं।" "श्रम तथा मशीनों का उपयोग करते समय बहुधा यह देखा जाता है कि कुशलतापूर्वक उनका वितरण करके, उन तमाम सक्रियाओं (operations) को जिनके अन्दर एक दूसरे के मार्ग में रुकावट पैदा करने की कोई भी प्रवृत्ति होती है—विलग करके, तथा उन तमाम संक्रियाओं को जिनसे किसी भी ढंग से एक दूसरे की मदद करवायी जा सकती है, एक जगह संकेन्द्रित करके, उनके परिणामों में वृद्धि की जा सकती है। चूंकि मनुष्य आमतौर से बहुत से अलग-अलग कार्य एक ही जैसी उस फुर्ती तथा कार्य-पटुता से नहीं कर सकते जिससे कि, अभ्यास के द्वारा सीख कर, वे कुछ कार्यों को कर सकते हैं—इसलिए, इस चीज में हमेशा फायदा होता है कि उनमें से हर एक को

में किया जाय। बड़े-बड़े कारखानों का जन्म इस तरह होने वाले इसी लाभ की वजह से होता है; इनमें से कुछ वे कारखाने जो सर्वाधिक सुविधा-जनक स्थिति में होते हैं, बहुत बार न केवल एक देश को, बल्कि अनेक देशों को जितना वे चाहते हैं उतने उत्पादित माल की आपूर्ति करते हैं।"

यह है मिल* का मत।

किन्तु, सम्पूर्ण आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र इस बात पर एकमत है कि श्रम विभाजन तथा उत्पादन की प्रचुरता, श्रम विभाजन तथा पूंजी का सचय पारस्परिक रूप से एक दूसरे का निर्धारण करते हैं; इस पर वह उसी तरह एकमत है जिस तरह कि इस बात पर पूर्णतया सहमत है कि केवल वही निजी सम्पत्ति श्रम विभाजन की सर्वाधिक उपयोगी तथा व्यापक व्यवस्था की स्थापना कर सकती है जो अपने मार्ग का अनुसरण करने के लिए स्वयं स्वतन्त्र होती है।

एडम स्मिथ के तर्क के सारांश को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: श्रम विभाजन श्रम को निस्सीम उत्पादन क्षमता से लैस कर देता है। श्रम विभाजन का जन्म विनिमय तथा मालों की अदला-बदली करने की प्रवृत्ति की कोख से, विशिष्ट रूप से उस मानवीय प्रवृत्ति की कोख से हुआ है जो कि, सम्भवतः, कोई आकस्मिक चीज नहीं है, बल्कि सद्-विवेक तथा वाणी (reason and speech) के उपयोग से उत्पन्न हुई है। जो लोग विनिमय करते हैं उनका उद्देश्य मानवता की सेवा करना नहीं, बल्कि निजी स्वार्थ की पूर्ति करना होता है। मानवीय निपुणताओं की विविधता श्रम विभाजन का, अर्थात् विनिमय का, कारण होने के बजाय उसका परिणाम अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, इस तरह की विविधता को केवल श्रम विभाजन ही, अर्थात विनिमय ही, उपयोगी बनाता है। मानवीय रुझानों तथा क्रियाशीलता में भिन्नता की जो मात्राएं होती हैं उनकी अपेक्षा वे विशिष्टिताएं प्राकृतिक रूप से ही अधिक स्पष्ट तरह से अंकित पायी जाती हैं जो पशु की मूल-जाति के अन्दर की विभिन्न नस्लों में मौजूद होती हैं। परन्तु, चूंकि पशु विनिमय का कार्य नहीं कर सकते, इसलिए किसी भी अकेले पशु को उसी मूलजाति के किन्तु विभिन्न नस्लों के पशुओं के गुणों के वैभिन्य से कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। पशुओं में यह क्षमता नहीं होती कि अपनी मूलजाति के भिन्न-भिन्न गुणों (अथवा विशिष्टताओं —अनु०) का वे संयोजन कर लें, और न उनमें यही क्षमता होती है कि अपनी

* जेम्स मिल "राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलतत्व", पृष्ठ ५–६ तथा [illegible]

मूल-जाति के सामान्य लाभ तथा सुख-आराम में वे किसी प्रकार का इजाफा कर सकें। मनुष्यों के मामले में स्थिति बिल्कुल दूसरी ही होती है; उनके अन्दर अत्यधिक भिन्न-भिन्न प्रकार की जो क्षमताएँ तथा क्रियाशीलता के रूप पाये जाते हैं वे एक दूसरे के लिए उपयोगी होते हैं—क्योंकि वे अपनी भिन्न-भिन्न पैदावारों को इकट्ठा करके एक ऐसे सामान्य भण्डार में जमा कर दे सकते हैं जिसमें से उनमें से प्रत्येक खरीद सकता है। श्रम विभाजन चूंकि विनिमय करने की प्रवृत्ति से पैदा होता है, इसलिए उसकी प्रगति भी विनिमय की मात्रा के—बाजार की मात्रा के अनुरूप होती है और उसी से परिसीमित होती है। उन्नत परिस्थितियों में, प्रत्येक मनुष्य एक व्यापारी (merchant) होता है, और समाज वाणिज्यिक (commercial) समाज होता है।

'से' विनिमय को मूलभूत नहीं, बल्कि एक आकस्मिक चीज मानते हैं। समाज उसके बिना रह सकता है। समाज की उन्नत अवस्था में वह लाज़मी हो जाता है। फिर भी उसके बिना उत्पादन नहीं हो सकता। श्रम विभाजन एक सुविधाजनक, उपयोगी साधन है—सामाजिक धन की प्राप्ति के लिए मानवीय शक्तियों का पटुतापूर्ण ढंग से किया जाने वाला फैलाव (deployment) है, किन्तु वैयक्तिक रूप से देखा जाय तो वह प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता को घटा देता है। यह अन्तिम कथन से के लिए एक आगे बढ़ा हुआ क़दम है।

स्कारबेक मनुष्य के अन्दर मौजूद वैयक्तिक शक्तियों—बुद्धि (प्रज्ञा मनु०) तथा काम करने की शारीरिक क्षमता— के तथा समाज से प्राप्त होने वाली उन शक्तियों— विनिमय और श्रम विभाजन—के बीच फ़र्क करते हैं जो पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। किन्तु विनिमय का आवश्यक पूर्वाधिकार (premise) निजी सम्पत्ति है। स्मिथ, से, रिकार्डो, आदि जिस चीज को यह कहते हुए स्पष्ट करते हैं कि विनिमय का आधार स्वार्थता (egoism) तथा निजी हित (self-interest) होते हैं और विनिमय के मूर्त तथा उपयुक्त स्वरूप क्रय-विक्रय होते हैं, उसी को स्कारबेक ने यहाँ वस्तुगत ढंग से व्यक्त कर दिया है।

मिल कहते हैं कि व्यापार श्रम विभाजन का परिणाम है। उनकी दृष्टि में मानवीय क्रियाशीलता कट-छंट कर मात्र एक यांत्रिक गति रह जाती है। श्रम विभाजन तथा मशीनों का उपयोग उत्पादन की वृद्धि में मदद देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को काम के छोटे-से-छोटे सम्भव दायरे की जिम्मेदारी सौंपी जानी चाहिए। परन्तु, श्रम विभाजन तथा मशीनों के प्रयोग का यह तात्पर्य होता

है कि धन का और, इसलिए, पैदावारों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाय। बड़े कारखानों के अस्तित्व का यही कारण है।

॥३८॥ श्रम विभाजन तथा विनिमय की जाँच-पड़ताल करना अत्यधिक आवश्यक है, क्योंकि जाति-मूल की क्रियाशीलता तथा शक्ति के रूप में ये मानवीय क्रियाशीलता (human activity) और मूलभूत शक्ति (essential power) की संलक्ष्य रूप से परकीयकृत अभिव्यक्तियाँ हैं।

इस बात का दावा करना कि श्रम विभाजन तथा विनिमय निजी सम्पत्ति पर आधारित हैं—यह कहने के अलावा और कुछ नहीं है कि श्रम ही निजी सम्पत्ति का मूलतत्व है। इस कथन की सत्यता को राजनीतिक अर्थशास्त्री नहीं प्रमाणित कर सकता, इसलिए इसे उसके लिए हम प्रमाणित कर देना चाहते हैं। श्रम विभाजन तथा विनिमय निजी सम्पत्ति के ही पहलू हैं—ठीक इसी तथ्य में उक्त कथन का दोहरा प्रमाण मौजूद है: एक ओर तो अपनी आत्मसिद्धि (realisation) के लिए मानव जीवन को निजी सम्पत्ति की आवश्यकता होती है और, दूसरी ओर, अब उसके लिए यह आवश्यक हो गया है कि निजी-सम्पत्ति को समाप्त कर दिया जाय।

श्रम विभाजन तथा विनिमय ही वे दो घटना-प्रवाह (प्रत्यक्ष वस्तुएं—अनु०) हैं जो राजनीतिक अर्थशास्त्री को इस बात की प्रेरणा देते हैं कि वह सगर्व कह सके कि उसके विज्ञान का चरित्र सामाजिक है; किन्तु, इस बात को कहने के साथ ही साथ अचेत रूप से वह अपने विज्ञान के अन्तर्विरोध को—इस बात को भी अभिव्यक्त कर देता है कि समाज को आगे बढ़ने की प्रेरणा असामाजिक, विशिष्ट स्वार्थों से प्राप्त होती है।

जिन चीजों पर हमें विचार करना है वे ये है: एक, विनिमय की प्रवृत्ति को—जिसका आधार स्वार्थवाद है—श्रम-विभाजन का कारण अथवा पारस्परिक परिणाम समझा जाता है। वे विनिमय को समाज की प्रकृति का मूलभूत अंग नहीं मानते। धन-उत्पादन की व्याख्या वह श्रम विभाजन तथा विनिमय के आधार पर करते हैं। इस बात को स्वीकार किया जाता है कि, श्रम विभाजन के फलस्वरूप, व्यक्तिगत क्रियाशीलता घट जाती है और उसका चरित्र नष्ट हो जाता है। इस बात को भी स्वीकार किया जाता है कि मानवीय निपुणताओं की महान विविधता के—उस विविधता के जो अपनी बारी आने पर विनिमय के फलस्वरूप उपयोगी बन जाती है—स्रोत विनिमय तथा श्रम विभाजन हैं। स्कारबेक मनुष्य की मूलभूत उत्पादन शक्तियों को—अथवा उत्पादक शक्तियों को—दो भागों में विभाजित करते हैं: (१) वे शक्तियाँ जो वैयक्तिक तथा

जन्म-जात होती है—उनकी बुद्धि (intelligence) तथा काम करने की उनकी विशिष्ट चित्तवृत्ति, अथवा क्षमता; तथा (२) वे शक्तियाँ जो स्वयं व्यक्ति से नहीं, बल्कि समाज से– श्रम विभाजन तथा विनिमय से—व्युत्पन्न होती हैं।

इसके अलावा, श्रम विभाजन की सीमा बाज़ार द्वारा निर्धारित होती है। मानवीय श्रम सरल यांत्रिक गति (mechanical motion) होता है : मुख्य काम वस्तुओं के भौतिक गुणों (material properties) द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। किसी भी एक व्यक्ति को कम से कम सम्भव कार्य सौंपे जाने चाहिए। श्रम का छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजन तथा पूंजी का संकेन्द्रीकरण, वैयक्तिक उत्पादन की महत्वहीनता तथा धन का विशाल राशियों में उत्पादन। श्रम विभाजन के अन्तर्गत मुक्त निजी सम्पत्ति का अर्थ। ।३८।।*

---

* तीसरी पाण्डुलिपि का वह अंश जो दूसरी पाण्डुलिपि के पृष्ठ ३९ के अनुपूरक का काम करता है इस जगह पर, पृष्ठ ३८ के बायें तरफ़, अचानक खत्म हो जाता है। पृष्ठ ३८ के दाहिने तरफ़ का भाग खाली है। उसके बाद "भूमिका" (पृष्ठ ३९ – ४०) तथा मुद्रा के सम्बन्ध में एक अंश आते हैं (पृष्ठ ४१–४३)।– सं०

पूंजीवादी समाज में रुपये की शक्ति

।।४१।४" मनुष्य की भावनाएं, गाढ़ाभिलाषाएं, आदि यदि [संकुचित]* अर्थ में मात्र नृतत्वीय (anthropological) घटनाप्रवाह नहीं हैं, बल्कि सत्ता का (प्रकृति का) वास्तव में सत्ताशास्त्रीय[४'] (ontological) पुष्टीकरण है, और यदि उनका पुष्टीकरण वास्तव में केवल इसलिए होता है कि उनकी लक्षित वस्तु (object) उनके लिए एक इन्द्रियगत (sensual) वस्तु के रूप में अस्तित्वशील होती है, तब यह स्पष्ट है कि :

(१) उनके पुष्टीकरण का तरीका केवल एक ही कदापि नहीं है, बल्कि, इसके विपरीत, उनके पुष्टीकरण के विशिष्ट तरीके से ही उनके अस्तित्व का, उनके जीवन का विशिष्ट चरित्र बनता है। लक्षित वस्तु (object) किस रूप में उनके लिए अस्तित्व रखती है– उसी से उनकी सुख-तृप्ति (gratification) का लाक्षणिक तरीका निश्चित होता है।

(२) जहाँ भी इन्द्रियगत पुष्टीकरण का अर्थ लक्षित वस्तु का उसके स्वतन्त्र रूप में सीधे - सीधे समाप्त हो जाना होता है (जैसे कि खाने, पीने, वस्तु पर काम करके उसे दूसरा रूप देने, आदि में)– यही उक्त लक्षित वस्तु का पुष्टीकरण होता है।

(३) जहाँ तक कि मनुष्य, और इसलिए उसकी भावनाएं, आदि, मानवीय होती हैं, किसी लक्षित वस्तु की किसी अन्य वस्तु द्वारा पुष्टि होना भी उसी प्रकार उसका अपना सुख- तृप्तिकरण होता है।

(४) मानवीय गाढ़ाभिलाषा (human passion) का सत्ताशास्त्रीय सारतत्व, अपनी सम्पूर्णता और साथ ही साथ अपनी मानवता में केवल विकसित उद्योग के ही माध्यम से– अर्थात्, निजी सम्पत्ति के ही माध्यम से, अस्तित्व प्राप्त करता है; अतः, मनुष्य का विज्ञान स्वयं मनुष्य की अपनी व्यावहारिक क्रियाशीलता की उत्पत्ति है।

---

* इस शब्द को पाण्डुलिपि में साफ़ - साफ़ पढ़ा नहीं जा सकता है।–स॰

(५) निजी सम्पत्ति का अर्थ होता है—उसके पृथक्करण के अतिरिक्त—मनुष्य के लिए मूलभूत वस्तुओं (essential objects) का अस्तित्व, उपभोग की वस्तुओं तथा क्रियाशीलता की वस्तुओं, दोनों के रूप में उनका अस्तित्व।

हर चीज़ को खरीद लेने के गुण (property) का स्वामी होने के कारण, सभी वस्तुओं का अधिग्रहण कर लेने के गुण का स्वामी होने के कारण, मुद्रा (स्वयं-अनु०) मुद्रा के ही रूप में अपने अधिकार में रखने की सर्वोपरि लक्षित वस्तु होता है। उसके गुण की सार्वलौकिकता ही उसकी सत्ता की सर्वशक्तिशालिता होती है। इसीलिए उसे सर्वसत्ताशाली सत्ता (omnipotent being) माना जाता है। मुद्रा (money) मनुष्य की आवश्यकता और उसकी लक्षित वस्तु के बीच, उसके जीवन और उसके जीवन के साधनों के बीच कुटनी (procurer) का काम करता है। परन्तु, वह चीज़ जो मेरे लिए मेरे जीवन की मध्यस्थता का काम करती है मेरे लिए अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व की मध्यस्थता का भी काम करती है। मेरे लिए वह दूसरा व्यक्ति होती है।

"क्या कहा, ओ आदमी ! खुदा तुझे गारत करे
ये हाथ, पैर, यह सिर और, मेरा पृष्ठभाग
—ये सब तेरे हैं !
और जीवन के बसन्त में जो हमने पाया
वह भी कह दिया जायगा कि हमारा नहीं है ?

मानो, मैं छह अश्वों को रख सकता हूँ
तो शक्ति उनकी क्या मेरी ही नहीं होगी ?
सिपाही स्वामी की नाईं हवा को चीरता,
—दौड़ता मैं बढ़ता हूँ
जैसे कि मेरे पास चौबीस टाँगें हैं !

गेटे : फ़ाउस्ट*
(मेफ़िस्टोफ़ेलीज़)

---

* गेटे : "फ़ाउस्ट", भाग १। —सं०

"एथेन्स के टिमान" में शेक्सपियर :

स्वर्ण ? पीत, जगमग, बहुमूल्य स्वर्ण ? नहीं, ऐ देवो,
नहीं कोई बेकार पुजारी ! ...
रता इसका रंचमात्र भी है चूंकि
ाले को श्वेत, मलिन को निर्मल,
नुचित को उचित, मिथ्या को सत्य,
धम को उच्च, वृद्ध को युवा, भीरु को वीर-प्रवर
क्यों, अरे यह तो
ड़ा ले जायगा पक्ष तुम्हारे से
र पण्डो-पुरोहितो और दासो-अनुदासो को,
ान ले जायगा बड़े-बड़े नर-पुंगवो के तकियों तक का—
नके शीशो के नीचे से :
ह पीत दास
र्मों की शृंखलाओ को जोड़ेगा-तोड़ेगा, देगा अभिशप्तो को—
आशीष;
त-केशी कोढी को भी बना देगा मह पूज्य, चोरो—
ो बैठायेगा सांसदो के संग,
र देगा उन्हें मान, सम्मान और स्तुति-गान
यही वह रे
ो लम्पट विधवा का रचवाता है पुनर्विवाह;
सके, जिस पर घृण्य बीमारियों के अस्पताल और—
वाद-भरे फोड़े भी नहीं करेंगे उल्टी,
ह बनवाता है स्मारक,
र करता है उसे नव-वसन्त के लिए तैयार !
ा, ओ अभिशप्त धरा,
नव की सामूहिक गणिका,
ष्ट्रो के सर्वनाश हेतु जो
रजाती है वैषम्य सदा !"* आ, कर अपना काम !

न्स का टिमान, अंक ४, दृश्य ३ ।

(५) निजी सम्पत्ति का अर्थ होता है—उसके पृथक्करण के अतिरिक्त—मनुष्य के लिए मूलभूत वस्तुओं (essential objects) का अस्तित्व, उपभोग की वस्तुओं तथा क्रियाशीलता की वस्तुओं, दोनों के रूप में उनका अस्तित्व।

हर चीज को खरीद लेने के गुण (property) का स्वामी होने के कारण, सभी वस्तुओं का अधिग्रहण कर लेने के गुण का स्वामी होने के कारण, मुद्रा (सम्पा-अनु०) मुद्रा के ही रूप में अपने अधिकार में रखने की सर्वोपरि लक्षित वस्तु होती है। उसके गुण की सार्वलौकिकता ही उसकी सत्ता की सर्वशक्तिशालिता होती है। इसीलिए उसे सर्वसत्ताशाली सत्ता (omnipotent being) माना जाता है। मुद्रा (money) मनुष्य की आवश्यकता और उसकी लक्षित वस्तु के बीच, उसके जीवन और उसके जीवन के साधनों के बीच कुटनी (procurer) का काम करता है। परन्तु, वह चीज जो मेरे लिए मेरे जीवन की मध्यस्थता का काम करती है मेरे लिए अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व की मध्यस्थता का भी काम करती है। मेरे लिए वह दूसरा व्यक्ति होती है।

"क्या कहा, ओ आदमी ! खुदा तुझे गारत करे
ये हाथ, पैर, यह सिर और, मेरा पृष्ठभाग
—ये सब तेरे हैं !
और जीवन के वसन्त में जो हमने पाया
वह भी कह दिया जायगा कि हमारा नहीं है ?

मानो, मैं छह अश्वों को रख सकता हूँ
तो शक्ति उनकी क्या मेरी हो नहीं होगी ?
खिलाड़ी स्वामी की नाईं हवा को चीरता,
—कादता मैं बढ़ता हूँ
जैसे कि मेरे पास चौबीस टाँगें हैं !

गेटे : फ़ाउस्ट*
(मेफ़िस्टोफ़िलीज)

---

* गेटे : "फ़ाउस्ट", भाग १। —सं०

"एथेन्स के टिमान" में शेक्सपियर :

स्वर्ण ? पीत, जगमग, बहुमूल्य स्वर्ण ? नहीं, ऐ देवो,
नहीं कोई बेकार पुजारी ! ...
रता इसका रचमात्र भी है चूंकि
ाले को श्वेत, मलिन को निर्मल,
नुचित को उचित, मिथ्या को सत्य,
धम को उच्च, वृद्ध को युवा, भीरु को वीर-प्रवर
क्यों, अरे यह तो
ड़ा ले जायगा पक्ष तुम्हारे से
र पण्डो-पुरोहितों और दासों-अनुदासों को,
ान ले जायगा बड़े-बड़े नर-पुंगवों के तकियों तक को—
नके शीशों के नीचे से :
ह पीत दास
र्मों की शृंखलाओं को जोड़ेगा-तोड़ेगा, देगा अभिशप्तों को—
माशीष;
ात-केशी कोढ़ी को भी बना देगा यह पूज्य, चोरों—
ो बैठायेगा सांसदों के संग,
ार देगा उन्हें मान, सम्मान और स्तुति-गान
यही वह रे
ो लम्पट विधवा का रचवाता है पुनर्विवाह;
सके, जिस पर घृण्य बीमारियों के अस्पताल और—
बाद-भरे फोड़े भी नहीं करेंगे उल्टी,
ह बनवाता है स्मारक,
ार करता है उसे नव-वसन्त के लिए तैयार !
ा, आ अभिशप्त धरा,
ानव की सामूहिक गणिका,
ष्ट्रों के सर्वनाश हेतु जो
रजाती है वैषम्य सदा !"* आ, कर अपना काम !

न्स का टिमान, अंक ४, दृश्य ३ ।

वस्तुओं को सार्वभौमिक रूप से मूल में मिलाने वाला और उनका विकृतीकरण करने वाला, असम्भवताओं को वह जोड़-बटोर कर एक करने वाला है।

(२) वह सबकी वेश्या है, कौमों और राष्ट्रों की सर्व-सामान्य कुटनी है।

समस्त मानवीय तथा प्राकृतिक गुणों का विकृतीकरण तथा निष्फलीकरण करने की, असम्भावनाओं के बीच भाईचारा उत्पन्न करने की—रुपये की इस दिव्य शक्ति का स्रोत—मनुष्यों की पृथक्कृत, परकीयकृत तथा आत्म-व्यवस्थापक (self-disposing) जातिमूल-प्रकृति के रूप में उसके चरित्र में निहित होती है। रुपया मानव-जाति की परकीयकृत क्षमता है।

जिस काम को एक मनुष्य के रूप में मैं नहीं कर पाता, और इसलिए जिसे मेरी समस्त वैयक्तिक मूलभूत शक्तियां करने में असमर्थ हैं, उसे मैं रुपए के जरिए कर लेता हूं। इस प्रकार, रुपया इनमें से प्रत्येक शक्ति को उसमें परिवर्तित कर देता है जो स्वयं वह नहीं है—अर्थात् वह उसे उल्टे में परिवर्तित कर देता है।

यदि मैं कोई विशेष चीज खाना चाहता हूं, अथवा जाने के लिए इसलिए मेल गाड़ी पकड़ना चाहता हूं कि मैं इतना तगड़ा नहीं हूं कि पैदल चला जा सकूं, तो रुपया मेरे लिए वह विशेष भोजन ला देता है और मेल गाड़ी पर भी सवार करवा देता है: अर्थात्, मेरी इच्छाओं को कल्पना के क्षेत्र से निकाल कर वह वास्तविकता मे बदल देता है, उनके सुचिन्तित, कल्पित अथवा वांछित अस्तित्व से उन्हें उनके ऐन्द्रिक (sensuous), वास्तविक अस्तित्व का रूप दे देता है—कल्पना से जीवन में, कल्पित सत्ता से वास्तविक सत्ता में रूपान्तरित कर देता है। बिचवई (मध्यस्थता—अनु०) का यह काम करते समय, [रुपया] वास्तविक सृजनात्मक शक्ति का रूप ले लेता है।

निस्सन्देह, मांग उसकी भी होती है जिसके पास रुपया नहीं है, किन्तु उसकी यह मांग मात्र एक कल्पना की ऐसी वस्तु ही बनी रहती है जिसका मेरे लिए, किसी तीसरे व्यक्ति के लिए, [दूसरों] के लिए, कोई महत्व अथवा अस्तित्व नहीं होता, ॥४३॥ और जो, इसीलिए, मेरे लिए भी अवास्तविक तथा निरुद्देश्य बनी रहती है। रुपये पर आधारित प्रभावी मांग तथा मेरी आवश्यकता, मेरी उत्कट लालसा, मेरी इच्छा, आदि पर आधारित अप्रभावी मांग के बीच जो अन्तर होता है वह सत्ता (being) और चिन्तन (thinking) के बीच का अन्तर है; जो चीज मेरे अन्दर केवल एक विचार के रूप में अस्तित्व है वह उसके और उस विचार के बीच का अन्तर है जो मुझसे बाहर एक वस्तु (real object) के रूप में अस्तित्वशील है।

यात्रा करने के लिए मेरे पास यदि रुपया नहीं है, तो मेरे लिए यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है—अर्थात्, कोई वास्तविक और ऐसी आवश्यकता नहीं है जिसकी पूर्ति हो सके। यदि मुझे अध्ययन करने का शौक है किन्तु उसके लिए रुपया नहीं है, तो मुझे अध्ययन करने का शौक नहीं है—अर्थात्, कोई प्रभावी (effective), सच्चा शौक नहीं है। दूसरी ओर यदि अध्ययन करने का वास्तव में मुझे कोई शौक नहीं है किन्तु उसकी इच्छा है तथा उसे पूरा करने के लिए मेरे पास रुपया है, तो उसके लिए मेरा शौक प्रभावी है। किसी मानसिक चित्र (image) को वास्तविकता (reality) में और वास्तविकता को मात्र एक मानसिक चित्र मे बदल देने के बाह्य, सार्वलौकिक माध्यम (medium) तथा उसकी कार्यशक्ति (faculty) (जो कि मनुष्य के रूप मे मनुष्य के अन्दर से अथवा समाज के रूप में मानव समाज के अन्दर से नहीं पैदा होती के रूप मे, रुपया मनुष्य और प्रकृति की वास्तविक मूलभूत शक्तियों को मात्र अमूर्त विचारो मे और, इसलिए, अपूर्णताओं तथा कष्टदायक कपोल-कल्पनाओं मे रूपान्तरित कर देता है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि वास्तविक अपूर्णताओं तथा कपोल-कल्पनाओं को—उन मूलभूत शक्तियो को, जो कि वास्तव मे निःशक्त हैं, जो कि व्यक्ति के केवल कल्पना-जगत् मे ही अस्तित्व रखती हैं—वह (रुपया—अनु०) वास्तविक शक्तियों तथा कार्य क्षमताओं मे बदल देता है अकेली इस विशिष्टता की ही रोशनी मे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि रुपया (money) वैयक्तिकताओं (individualities) का आम ऐसा विकृतीकरण होता है जो उन्हें उनके विरोधी रूप मे बदल देता है और उनकी विशेषताओं पर उनकी विरोधात्मक (contradictory) विशेषताओं को मढ़ देता है।

रुपया, तब फिर, व्यक्ति के और समाज, आदि के, दोनो के उन बन्धनों के विरुद्ध उनका विकृतीकरण करने वाली शक्ति के रूप में सामने आता है जो स्वयं वास्तविक वस्तुएँ होने का दावा करते हैं। निष्ठा को वह निष्ठाहीनता मे, प्रेम को घृणा मे, घृणा को प्रेम मे, पुण्य को पाप मे, पाप को पुण्य मे, नौकर को स्वामी मे, स्वामी को नौकर मे, मूढ़ता को मनीषा (intelligence) में तथा मनीषा को मूढ़ता मे बदल देता है।

मूल्य की वर्तमान तथा सक्रिय धारणा के रूप मे, रुपया सभी चीजों को उलझा और गड़बड़ा देता है, इसलिए वह सभी वस्तुओं को उलझाने और गड़बड़ करने वाली आम चीज है—उल्टी दुनिया है—सभी प्राकृतिक और मानवीय गुणों को उलझाने और गड़बड़ाने वाली चीज है।

जो बहादुरी को खरीद सकता है वही बहादुर है, चाहे वह कायर ही क्यों

9317

[हीगेलवादी द्वन्द्ववाद
तथा पूरे दर्शन की आलोचना]

॥११। (६) कदाचित् यही वह उपयुक्त स्थान है जहाँ, स्पष्टीकरण तथ औचित्य-समर्थन के रूप मे, हीगेल के द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध मे आमतौर से और (उनकी कृतियो–अनु०) घटना-क्रम-विज्ञान (Phanomenologie) तथ तर्क-विज्ञान (Logik*) मे किये गये प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध मे विशेष रूप से और, अन्त मे, [उसके साथ] समालोचना सम्बन्धी आधुनिक हलचल के रिश के विषय मे—हम कुछ टिप्पणियां प्रस्तुत करें।[४१]

आधुनिक जर्मन आलोचना का अतीत के प्रति पहले से ही इतना जबर्दस्त लगाव था—विषय-वस्तु के साथ उसका विकास इतना पूरे तौर से उलझा हुआ था—कि आलोचना की पद्धति के सम्बन्ध मे एक पूर्णतया अनालोचनात्मक दृष्टि कोण (uncritical attitude) का बोलबाला था। इसी के साथ-साथ, ऊपर औपचारिक दिखने वाले, किन्तु वास्तव मे अत्यन्त बुनियादी इस प्रश्न के संबं मे चेतनता का उसमे सर्वथा अभाव था कि : हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध अब हमे क्या कहना है? पूरे हीगेलवादी दर्शन, और विशेषरूप से हीगेलवा द्वन्द्ववाद के साथ, आधुनिक आलोचना के सम्बन्ध के विषय मे चेतना की य कमी इतनी जबर्दस्त रही है कि स्त्रॉस (Strauss) तथा ब्रूनो बेयर (Brun Bauer) जैसे समालोचक आज भी हीगेलवादी तर्क-प्रणाली की सीमाओ अन्दर ही बन्द है, स्त्रॉस तो पूरे तौर से उसकी सीमाओं में बँधे हुए हैं और ब्रू बेयर अपनी कृति, Synoptiker** (जिसमे, स्त्रॉस के मत के विरुद्ध, "अमू प्रकृति" के सार के स्थान पर उन्होंने अमूर्त मानव की "आत्म-चेतना" को र दिया है) तथा Das entdeckte Christentbum (ईसाई धर्म की खोज) मे कम से कम अव्यक्त रूप से, उन्हीं के दायरे मे बन्द रखते हैं। इस प्रका

---

* जौर्ज विलहेल्म फ्रेडरिक हीगेल, Phanomenologie, des Geistes त Wissenschaft der Logik। —स०

** ब्रूनो बेयर, Kritik der evangelischen Geschichte der Synoptik (प्रोटेस्टैण्ट आन्दोलन के इतिहास की आलोचना)—स०

उदाहरण के लिए, ''ईसाई धर्म को खोज'' (Das entdeckte Christenthum) में आपको (निम्न चीज़-अनु०) लिखी मिलती है :

''ऐसा लगता है कि संसार को तथ्य रूप में ग्रहण करते समय, आत्म-चेतना उस चीज़ को नहीं ग्रहण करती जो [स्वयं उससे] भिन्न है और जिस चीज़ की वह सृष्टि करती है उसमें वह स्वयं अपनी सृष्टि नहीं करती, क्योंकि मौका पाते ही जिस चीज़ की उसने सृष्टि की है उसके और स्वयं अपने के बीच के अन्तर को वह मिटा देती है, क्योंकि स्वयं उसका अपना अस्तित्व भी केवल सृष्टि करने* तथा गतिशीलता में ही निहित है-जैसे कि यह गतिशीलता ही उसका खुद का उद्देश्य नहीं थी ?'' आदि, अथवा पुनः ''वे'' (फ्रान्सीसी भौतिकवादी) ''इस चीज़ को अभी तक नहीं देख पाये हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि की गतिशीलता वास्तव में जो कुछ स्वयं बन पायी है वह केवल आत्म-चेतना की गतिशीलता के ही रूप में बन पायी है, और उसी के साथ उसने एकात्म स्थापित किया है।'' [पृष्ठ ११३, ११४-११]

इस शब्दावली में हीगेलवादी दृष्टिकोण से कोई शाब्दिक अन्तर भी नहीं दिखायी पड़ता। उल्टे, उसी बात की अक्षरशः पुनरावृत्ति इसमें की गयी है।

।।१२। आलोचना-कार्य करते समय हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में कितनी कम चेतना थी (ब्रेयर, ''सिनोप्तिकर'') तथा भौतिक आलोचना के कार्य के बाद भी यह चेतना कितनी कम बढ़ी थी इसका प्रमाण वेयर (Beaur) ने स्वयं उस समय दे दिया था जबकि अपनी कृति, ''स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अच्छी चीज़''(Die gute Sashe der Freiheit) में श्री ग्रुप्पे द्वारा पूछे गये इस ढीठ प्रश्न को कि, ''तर्क का अब क्या हुआ ?'' उन्होंने यह कह कर वहीं खत्म कर दिया था कि इसका जवाब भावी आलोचकों से पूछना।[४]

परन्तु अब तक भी—जबकि फ़ायरबाख़ ने Anekdota** की अपनी THESEN में तथा और अधिक ब्योरे से Philosophie der Zukunft (''भविष्य का दर्शन'') में, दोनों के अन्दर पुराने द्वन्द्ववाद और दर्शन की सैद्धान्तिक रूप से कपाल-क्रिया कर दी है; जबकि, दूसरी ओर, आलोचना के उस सम्प्रदाय ने जिसने

---

* पाण्डुलिपि में है : ''गति में''। —स०

** लुडविग फ़ायरबाख़, ''Vorlaufige Thesen zur Reformation der Philosophie'' (दर्शन के सुधार के सम्बन्ध में प्रारम्भिक थीसिस) in Anekdota zur neuesten deutschen Philosophie und Publicistik -स०

कि इसके बावजूद कि इस कार्य को सम्पन्न करने में वह अक्षम था, इसे सम्प
करवा दिया है और घोषित कर दिया है कि वह स्वयं ऐसी शुद्ध, संकल्प-बद्ध, पू
आलोचना है जो सही सिद्ध हो चुकी है; जबकि, अपने आत्मिक अभिमान में, इ
आलोचना ने इतिहास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को संकुचित करके उसे स्वयं अपने तथ
शेष दुनिया के (अपने मुकाबले में शेष दुनिया के जिसे कि वह "जन समुदायों
की श्रेणी में रखती है बीच के सम्बन्ध में परिवर्तित कर दिया है तथा सारे जड़
सूत्रवादी प्रतिवादों (dogmatic antitheses) को मिटाकर स्वयं अपनी चतुरा
तथा दुनिया की मूर्खता के एक ही जड़-सूत्रवादी प्रतिवाद (antithesis) में—
आलोचनात्मक ईशु तथा मानवजाति, "नीच जन" के प्रतिवाद में—रूपान्तरि
कर दिया है; जबकि जनसमुदायों की जड़ता के मुकाबले में उसने स्वयं अप
श्रेष्ठत्व को हर दिन और हर घण्टे सिद्ध कर दिया है; जबकि, अन्त में, उस
आलोचनात्मक अंतिम निर्णय (Critical Last Judgment) को इस एलान
रूप में उद्‌घोषित कर दिया है कि वह दिन समीप आ रहा है जिस दिन f
सम्पूर्ण ह्रासोन्मुख मानवजाति उसके सम्मुख एकत्रित होगी और उसके द्वा
दलों में इस तरह बाँट दी जायगी जिससे कि प्रत्येक विशिष्ट जमघटे (mob
को उसकी दरिद्रता का प्रमाण-पत्र (testimonium paupertatis) मि
जायगा; जबकि छपे हुए रूप में* मानवीय भावनाओं के सम्बन्ध में अप
उत्कृष्टता तथा उस संसार के ऊपर अपनी श्रेष्ठता को उसने उजागर कर दि
है जिस पर लोकोत्तर एकान्तता (sublime solitude) में सिंहासनारूढ़ होक
बैठी हुई वह अपने व्यंग्यपूर्ण ओठों से समय समय पर देवलोक के देवताओं—जै
केवल अपने अट्टहासों को नीचे की ओर प्रतिध्वनित कर देती है—इसके बा
भी, भाववाद के (अर्थात्, युवा हीगेलवाद के) इन तमाम दिन बहलाने वा
खेल-तमाशों (antics) के आलोचना के रूप में मृत्यु-लोक में पहुंच जाने
बाद—इसके बाद भी, उसने इस बात का सन्देह तक नहीं व्यक्त किया है कि अ
वह समय आ गया है जब कि युवा हीगेलवाद की मां के साथ—हीगेलवादी द्वन्
वाद के साथ—आलोचनात्मक ढंग से आखिरी तौर से तस्फिया कर लि
जाय—और, उसने तो फ़ायरबाख़वादी द्वन्द्ववाद के प्रति तक अप
आलोचनात्मक रुख के विषय में कुछ नहीं कहा है। इस भांति, आलोच
ने स्वयं अपने प्रति एक पूर्णतया अनालोचनात्मक दृष्टिकोण प्रदर्शित किया है

* Allgemeine Literatur-Zeitung (एक समाचार-पत्र) की ओर संके
किया गया है।—स०

फ़ायरबाख ही अकेले वह व्यक्ति हैं जिनका हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के प्रति एक संजीदा, आलोचनात्मक दृष्टिकोण है और जिन्होंने इस क्षेत्र में वास्तविक खोजें की हैं। वास्तव में, पुराने दर्शन के वही असली विजेता हैं। उनकी उपलब्धि की मात्रा, तथा वह दम्भहीन सरलता जिससे उन्होंने, फ़ायरबाख ने, अपनी इस उपलब्धि को संसार को दिया है, [अन्य लोगों के] इसके सर्वथा विपरीत रवैये के मुकाबले में, अत्यधिक चित्ताकर्षक प्रतीत होती है।

फ़ायरबाख की महान उपलब्धि है :

[१] इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करना कि दर्शन—विचार (thought) के रूप में प्रस्तुत किये गये तथा विचार द्वारा प्रतिपादित किये गये धर्म के सिवा (expounded by thought) और कुछ नहीं है, अर्थात्, मनुष्य के सारतत्व के पृथक्करण के अस्तित्व का ही वह एक दूसरा रूप तथा ढंग है; अतः उसकी भी उसी प्रकार भर्त्सना की जानी चाहिए;

[२] "मनुष्य का मनुष्य के साथ" वाले सामाजिक सम्बन्ध को सिद्धान्त (theory) का मूलभूत उसूल (principle) बनाकर, असली भौतिकवाद तथा असली विज्ञान की स्थापना करना;

[३] निषेध के निषेध के मुकाबले में, जो कि इस बात का दावा करता है कि वही परम गुण (absolute positive) है, आत्म-निर्भर सकारात्मक गुण को, प्रत्यक्ष रूप से स्वयं अपने पर आधारित गुण को रख कर, उनके द्वारा किया गया उसका विरोध।

फ़ायरबाख हीगेलवादी द्वन्द्ववाद की निम्न प्रकार व्याख्या करते हैं। (और इसके द्वारा उन प्रत्यक्ष (positive) तथ्यों से कार्य आरम्भ करने की अपनी बात को सही ठहराते हैं जिनकी जानकारी हमें इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होती है):

हीगेल सत्व (substance) के पृथक्करण से (तर्कशास्त्र में, अनन्त में, अमूर्त रूप में सार्वलौकिक में)—परम तथा निश्चित अमूर्तीकरण से, कार्य आरम्भ करते हैं; बोल-चाल की भाषा में इसका अर्थ यह होता है कि वह धर्म (religion) तथा ईश्वरीय ज्ञान (theology) से कार्य आरम्भ करते हैं।

दूसरे, वह अनन्त का अन्त कर देते हैं, और वास्तविक, इन्द्रियगम्य, असली, सीमित, विशिष्ट का अधिष्ठान करते हैं (दर्शन : धर्म तथा ईश्वरीय-ज्ञान का उन्मूलन है)।

तीसरे, वह फिर प्रत्यक्ष (positive) का अन्त कर देते हैं और, अमूर्तीकरण को, अनन्त को, पुनर्स्थापना कर देते हैं—धर्म तथा ईश्वरीय-ज्ञान की पुनर्स्थापना कर देते हैं।

इस प्रकार, फ़ायरबाख निषेध के निषेध की कल्पना केवल स्वयं :
साथ दर्शन के अन्तर्विरोध के रूप मे—ऐसे दर्शन के रूप मे करते हैं जो ईश्व
ज्ञान [इन्द्रियातीत, आदि] से इन्कार करने के बाद उसकी पुष्टि करता है,
इसलिए जो उसकी पुष्टि स्वयं अपने विरुद्ध करता है।

निषेध के निषेध के अन्दर जो स्थिति, अथवा आत्म-पुष्टीकरण (
affirmation) तथा आत्म-प्रमाणीकरण (self-confirmation) का तत्व :
है, उसे एक ऐसी स्थिति माना जाता है जो अभी तक अपने विषय मे सम्प्र
नहीं है, जो इसीलिए अपने विरोधी तत्व (opposite) से दबी हुई है, जो
सम्बन्ध मे शंकाशील है और इसलिए प्रमाण की प्यासी है, और जो इसी
ऐसी स्थिति नहीं है जो अपने अस्तित्व से स्वयं को उजागर करती हो-
स्वीकृत (!?) स्थिति नहीं है; अतः, उसे सीधे-सीधे और तत्काल स्वयं
पर आश्रित इन्द्रियगत-निश्चितता (sense-certainty) की स्थिति का स
करना पड़ता है।*

किन्तु हीगेल ने निषेध के निषेध की कल्पना चूंकि उसमें अन्तर्निहित s
(positive) सम्बन्ध के दृष्टिकोण से, वास्तविक तथा एकमात्र सकारात्मक
उसमें अन्तर्निहित नकारात्मक सम्बन्ध के दृष्टिकोण से— समस्त सत्ता के r
वास्तविक कर्म (act) तथा स्वयं स्फूर्त क्रियाशीलता (spontaneous acti
के रूप में की है, इसलिए इतिहास की गतिशीलता मे उन्हें केवल अमूर्त, ता
परिकल्पी अभिव्यञ्जना ही दिखलायी दे सकी है, इसे एक निश्चित कर्त्ता
में अभी तक मानव का वास्तविक इतिहास नहीं कहा जा सकता, यह तो
सृष्टिकरण की क्रिया (act of creation) का, मानव की उत्पत्ति का इतिहा

हम इस प्रक्रिया के अमूर्त रूप की तथा उस अन्तर को भी, दोनों ही
व्याख्या करेंगे, जो इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे हीगेल तथा आधुनिक आलोच
बीच, हीगेल तथा फ़ायरबाख द्वारा अपनी Wesen des Christent
(ईसाई धर्म का सार) मे वर्णित की गई प्रक्रिया मे अथवा, कहना चाहि
हीगेल की अब भी अनालोचनात्मक प्रक्रिया के आलोचनात्मक रूप में मौजू

---

* फ़ायरबाख निषेध के निषेध को, उसकी निश्चित परिकल्पना को, प
चिन्तन-क्रिया मे स्वयं अपने को पीछे छोड़ देने के रूप मे तथा चिन्तन
चाहते के रूप मे भी करते हैं कि प्रत्यक्ष रूप मे वह अभिज्ञता (aware
प्रकृति, वास्तविकता बन जाय। —मार्क्स द्वारा लिखित टिप्पणी"

हीगेलवादी प्रणाली पर हम दृष्टिपात करें। हमें हीगेल के घटना-क्रम-विज्ञान (Phanomenologie) से ही, जो कि हीगेलवादी दर्शन की उत्पत्ति का वास्तविक प्रस्थान-बिन्दु तथा मर्म है, प्रारम्भ करना चाहिए।

घटना-क्रम-विज्ञान

क : आत्म-चेतना

(१) चेतना। [अ] इन्द्रियानुभव (sense-experience) के स्तर पर निश्चितता; अथवा "यह" तथा अर्थ। [आ] प्रत्यक्ष बोध (perception), अथवा उसके गुणों सहित वस्तु, तथा प्रतारणा। [इ] शक्ति तथा समझदारी, प्रकाश्य रूप (appearance) तथा इन्द्रियातीत (supersensible) संसार।

(२) आत्म-चेतना। स्व की निश्चितता की सच्चाई। [अ] आत्म-चेतना की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता; स्वामित्व तथा दासता। [आ] आत्म-चेतना की स्वतन्त्रता। उदासीनतावाद (stoicism), संशयवाद (scepticism), असुखकर चेतना।

(३) कारण। कारण (Reason) की निश्चितता तथा कारण की सच्चाई। [अ] पर्यवेक्षण—कार्य कारण की एक प्रक्रिया के रूप में। प्रकृति का तथा आत्म-चेतना का पर्यवेक्षण। [आ] स्वयं उसी की क्रियाशीलता के माध्यम से तर्कशील आत्म-चेतना (rational self-consciousness) की सिद्धि। आनन्द तथा अनिवार्यता। हृदय का क़ानून तथा आत्म-दम्भ (self-conceit) की विक्षिप्तता। साधुता (Virtue) तथा संसार का अनुक्रम (course of the world)। [इ] व्यक्तित्व जो वास्तविक तथा स्वयं अपने लिए है। आत्मिक पशु-राज्य (spiritual animal kingdom) तथा धोखा अथवा असली तथ्य। विधिकर्ता के रूप में कारण। कारण जो क़ानूनों का परीक्षण करता है।

ख : मस्तिष्क

(१) असली मस्तिष्क; शीलाचारिकी (ethics)। (२) आत्म-पृथक्करण की दशा में मस्तिष्क, संस्कृति। (३) अपने सम्बन्ध में, विश्वस्त मस्तिष्क, नैतिकता।

ग : धर्म।

प्राकृतिक धर्म; कला का धर्म; ईश्वरीय-ज्ञान से प्राप्त (श्रुति) धर्म।

घ परम ज्ञान (Absolute knowledge

हीगेल का विश्वकोश (Enzyklopadie)* जो कि तर्क-शास्त्र (logic) से शुद्ध परिकल्पी चिन्तन (pure speculative thought) से प्रारम्भ होता है, औ परम ज्ञान पर—स्व-चेतन, स्वयं-बोध प्राप्त करने वाले, दार्शनिक अथवा पर (अर्थात्, अतिमानुषी) निरपेक्ष मस्तिष्क पर—समाप्त होता है, अपनी समग्रता दार्शनिक मस्तिष्क के सार-तत्व के प्रदर्शन, उसके स्व-अगीभूतकरण (sel objectification) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; और दार्शनिक मस्तिष्क (philosophic mind) स्वय अपने आत्म-पृथक्करण के अन्तर्गत चिन्तनशील अर्थात्, अमूर्त रूप से स्वयं अपना बोध प्राप्त करने की क्रिया मे सलग्न संसार पृथक्कृत मस्तिष्क के सिवा और कुछ नहीं है।

तर्क-शास्त्र—जो कि मस्तिष्क—प्रदेश का सिक्का है, मनुष्य और प्रकृति परिकल्पी अथवा मानसिक मूल्य (mental value) है—समस्त वास्तविक नि: तत्ता (determinateness) के प्रति पूर्णतया उदासीन, और इसलिए अवास्त विक, बन गया है—परकीयकृत चिन्तन (alienated thinking) है, अ इसलिए ऐसा चिन्तन है जो प्रकृति तथा वास्तविक मानव से अपकर्षित है : अम (abstract) चिन्तन है।

फिर : इस अमूर्त चिन्तन की बाह्यावस्था (externality of th abstract thinking)...... प्रकृति, उसी तरह जिस तरह कि वह इस अम चिन्तन के लिए है। प्रकृति उसके लिए बाह्य है—उसका आत्म-लोप है, अ प्रकृति को भी वह एक बाहरी ढग से, अमूर्त विचार के रूप मे, किन्तु परकी कृत अमूर्त चिन्तन के रूप मे समझता है। अन्त में, मस्तिष्क, यह चिन्तन उत्पत्ति के स्वय अपने बिन्दु पर घर लौट आया है—वह चिन्तन जो नृतत्वी घटना-क्रम-विज्ञान सम्बन्धी, मनोवैज्ञानिक, नीतिशास्त्रीय कलात्मक ध धार्मिक मस्तिष्क के रूप मे स्वय अपने लिए भी तब तक मान्य नही है, जब कि अन्ततोगत्वा वह आत्मबोध नही प्राप्त कर लेता, और, परम ज्ञान इसीलिए, परम अर्थात्, अमूर्त, मस्तिष्क के रूप मे, अपनी अभितुष्टि नहीं लेता (और), इस प्रकार, अपने अनुरूप अस्तित्व की विधा मे अपना चेतना साकार रूप नही प्राप्त कर लेता। क्योंकि उसके अस्तित्व की असली अमूर्तीकरण है।

---

* जौर्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हीगेल, "दर्शन का विश्वकोश"। —स०

हीगेल दोहरी भूल करते हैं ।

पहली (भूल–अनु०) अत्यन्त स्पष्ट रूप से (उनकी कृति–अनु०) घटना-क्रम-विज्ञान (Phanomenologie) में, जो कि हीगेलवादी दर्शन की जन्मभूमि है, उभर कर आती है । उदाहरण के लिए, धन, राज्यसत्ता, आदि को ही हीगेल जब ऐसी वस्तुओं (entities) के रूप में समझते हैं जिनका मानव प्राणी से बिलगाव है, तब ऐसा केवल विचारों के रूप में ही उनके सम्बन्ध में होता है... वे चिन्तन की सत्ताएँ हैं, और इसलिए वे शुद्ध, अर्थात्, अमूर्त दार्शनिक चिन्तन का ही मात्र पृथक्करण हैं । अतः, सम्पूर्ण प्रक्रिया का अन्त परम ज्ञान में होता है । ये वस्तुएँ अमूर्त्त चिन्तन से ही पृथक हुई हैं और वे वास्तविकता के अपने अहंकार के साथ फिर उन्ही के मुकाबले में आ खड़ी होती हैं । दार्शनिक—जो कि स्वयं पृथक्कृत मानव का एक अमूर्त्त रूप है—स्वयं अपने को ही पृथक्कृत संसार की कसौटी मान लेता है । अतः, परकीयकरण की प्रक्रिया का सम्पूर्ण इतिहास तथा परकीयकरण के पीछे हटने की सम्पूर्ण प्रक्रिया, अमूर्त्त (अर्थात्, परम) ।।१७।।" चिन्तन—तर्कपूर्ण, परिकल्पी चिन्तन–के सृजन के इतिहास के सिवा और कुछ नहीं है । पृथक्करण, जो कि इसीलिए इस परकीयकरण—तथा इस परकीयकरण की अनुभवातीतता में—वास्तविक दिलचस्पी की वस्तु है, स्वयं अपने में तथा स्वयं अपने लिए के बीच का, चेतना तथा आत्म-चेतना के बीच का, कर्म और कर्त्ता के बीच का, विरोध है—अर्थात्, वह अमूर्त्त चिन्तन तथा इन्द्रियगत वास्तविकता के बीच का, अथवा अमूर्त्त चिन्तन और स्वयं चिन्तन के अन्दर मौजूद वास्तविक ऐन्द्रिकता के बीच का विरोध है । इन विरोधों के अन्य सभी विरोध तथा कार्यकलाप (movements) इन विरोधों की ही—मात्र जिनका महत्व है, तथा जो इन अन्य, अपावन पार्थिव विरोधों के सूचक हैं—बाह्य आकृति (semblance), उनका कंचुक (cloak), उनका लोकप्रिय (exoteric) बाह्य रूप हैं । यह सच नहीं है कि मनुष्य अपने को, स्वयं अपने ही विरुद्ध अमानवीय ढंग से अंगीभूत करता है; किन्तु यह चीज कि वह अमूर्त्त चिन्तन से अपने को जुदा करके तथा उसके विरुद्ध ही अपने आपको अंगीभूत करता है, स्वयं उक्त पृथक्करण का तथा उस वस्तु का स्थापित सार-तत्व है जिसे कि विस्थित (supersede) कर देना है ।

।।१८।। मनुष्य की मूलभूत शक्तियों का, जो कि वस्तुएँ—वास्तव में, परकीय वस्तुएँ—बन गयी हैं—अधिकरण (appropriation) इस प्रकार, सर्वप्रथम चेतना में, विशुद्ध चिन्तन में, अर्थात्, अपकर्षण (abstraction) में ही केवल अधिकरण होता है : वह इन वस्तुओं का विचारों के रूप में तथा विचारों के

संचलनों (movements) के रूप में ही अधिकरण होता है। अतएव, उसके पूर्ण रूप से नकारात्मक तथा आलोचनात्मक प्रकाश्य रूप के बावजूद और इस बात के बावजूद कि उसमें ऐसी सच्ची आलोचना निहित है, जो बहुधा बहुत आगे के विकास का पूर्वानुमान प्रस्तुत कर देती है, घटना-क्रम-विज्ञान में एक अंकुर के रूप में, एक सम्भावना के, एक रहस्य के रूप में अनालोचनात्मक प्रत्यक्षवाद (positivism) और ठीक इसी भाँति हीगेल की बाद की रचनाओं का अनालोचनात्मक भाववाद—वर्तमान अनुभव-सिद्ध जगत् का दार्शनिक विगलन तथा पुनर्स्थापन (dissolution and restoration) छिपा मौजूद है।

दूसरे : उसमें मनुष्य के वस्तुगत संसार का प्रमाणीकरण—उदाहरण के लिए, यह समझदारी मौजूद है कि इन्द्रियगत चेतना कोई अमूर्त रूप से प्राप्त की गयी इन्द्रियगत चेतना नहीं है, बल्कि मानव द्वारा प्राप्त की गयी इन्द्रियगत चेतना है; कि धर्म, धन-सम्पदा, आदि मात्र मानवीय अंगीकरण (human objectification) का, काम में लगी हुई मनुष्य की मूलभूत शक्तियों का ही पृथक्कृत संसार हैं और, इसलिए, वे सच्चे मानवीय संसार की ओर बढ़ने का केवल एक [illegible]र्ग हैं—अतएव, इस प्रक्रिया का यह आत्मसात्करण (appropriation) [illegible]था उसकी यह अन्तर्दृष्टि हीगेल में इस रूप में अभिव्यक्त होती है कि इन्द्रिय, [illegible]र्म, राज्यसत्ता, आदि आत्मिक वस्तुएँ (spiritual entities) हैं; क्योंकि केवल [illegible]स्तिष्क ही मनुष्य का सच्चा सारतत्व है, और मस्तिष्क का सच्चा रूप चिन्तन-[illegible]ल मस्तिष्क, तर्कशील, परिकल्पी मस्तिष्क है। प्रकृति का, तथा इतिहास द्वारा [illegible]जित प्रकृति का—मनुष्य की उत्पत्तियों का—मानवीय स्वरूप (human chara-[illegible]er) इस रूप में सामने आता है कि वे अमूर्त मस्तिष्क की उत्पत्तियाँ हैं और, [illegible]सलिए, वे मस्तिष्क की क्रमावस्थाएँ (phases)—चिन्तन की वस्तुएं (thought-[illegible]ntities) हैं। अस्तु (हीगेल की कृति—अनु०) घटना-क्रम-विज्ञान में निहित [illegible]ालोचना ऐसी आलोचना है जो प्रच्छन्न है, विस्मत कर देने वाली तथा अभी [illegible]क अनिश्चित है; किन्तु चूँकि वह मनुष्य के पृथक्करण की प्रक्रिया को चित्रित [illegible]रती है—यद्यपि मनुष्य उसमें केवल मस्तिष्क के ही रूप में अभिव्यक्त होता है—[illegible]सलिए, उसके अन्दर उस आलोचना के वे समस्त तत्व सगुप्त (concealed) [illegible]मलते हैं, जो कि पहले से ही इस प्रकार विरचित तथा विस्तारित किये जा[illegible] चुके हैं कि बहुत बार वे हीगेलवादी दृष्टिकोण से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। 'हतभाग्य चेतना", "सत्यनिष्ठ चेतना", "उदात्त और अधम चेतना" के बीच का द्वन्द्व, आदि के अलग-अलग अनुभागों में धर्म, राज्यसत्ता, नागरिक जीवन आदि जैसे पूरे के पूरे अस्तित्व-क्षेत्रों के आलोचनात्मक तत्व मौजूद हैं—यद्यपि [illegible]

अब भी वे पृथक्कृत रूप ही में। जिस तरह कि सत्ताएँ (entities), वस्तुएँ (objects), विचारों के अस्तित्वों (thought-entities), के रूप में आविर्भूत होती हैं, ठीक उसी तरह कर्ता (subject) सदैव चेतना अथवा आत्म-चेतना के रूप में मिलता है, अथवा, कहना चाहिए कि लक्षित वस्तु (object) केवल अमूर्त चेतना के, (तथा—अनु०) मनुष्य केवल आत्म चेतना के रूप में अभिव्यक्त होता है : अतएव, पृथक्करण के जो अलग-अलग रूप देखने को मिलते हैं वे केवल चेतना तथा आत्म-चेतना के ही विविध रूप होते हैं। जिस प्रकार कि अमूर्त चेतना (वह रूप जिसमे लक्षित वस्तु की कल्पना की जाती है) मात्र आत्म-चेतना के विभिन्नीकरण का ही एक तत्व (moment of distinction) होती है, उसी प्रकार गतिशीलता के फलस्वरूप जो चीज प्रकट होती है वह चेतना के साथ आत्म-चेतना की अभिन्नता (identity), परम ज्ञान—होती है। अमूर्त चिन्तन की गति अब बाहर की ओर नहीं निर्देशित होती, बल्कि स्वयं अपने ही अन्दर कार्यरत होती है : अर्थात्, उसका परिणाम शुद्ध चिन्तन का द्वन्द्ववाद होता है।

॥२३॥" हीगेल की (कृति—अनु०), "घटना-क्रम-विज्ञान" की असाधारण उपलब्धि तथा उसका यह अन्तिम निष्कर्ष कि निषेधात्मकता का द्वन्द्ववाद (dialectic of negativity) ही गतिशीलता तथा जनन-क्रिया का सिद्धान्त है, वास्तव में उनकी वह पहली उपलब्धि है जिसमे कि मानव की आत्म-सृजन (self-creation) की क्रिया की कल्पना उन्होंने एक प्रक्रिया के रूप मे, वस्तु के लोप की क्रिया को अमीभूतकरण की प्रक्रिया के रूप मे, परकीयकरण की प्रक्रिया के रूप में, तथा इस परकीयकरण की अनुभवातीतता की प्रक्रिया के रूप में की है। इस प्रकार श्रम के सारतत्व को उन्होंने हृदयगम कर लिया है तथा वस्तुगत मानव को असली होने के कारण, वास्तविक मानव को—स्वयं मानव के अपने श्रम के परिणाम के रूप में समझा है। वास्तविक जाति-गुण—प्राणी के रूप में (अर्थात्, मानव प्राणी के रूप में) मानव का स्वयं अपनी ओर असली, सक्रिय झुकाव केवल तभी सम्भव हो सकता है जबकि अपनी समस्त जाति-गुण शक्तियों को वास्तव में वह स्पष्ट रूप से सामने ले आये—और यह चीज ऐसी है जो केवल समस्त मानव-जाति के सहकारी प्रयास से, केवल इतिहास के परिणामस्वरूप ही, सम्भव हो सकती है—तथा उन शक्तियों को लक्षित वस्तुएँ मानकर उनके साथ पेश आये। और फिर, आरम्भिक रूप में, यह चीज केवल पृथक्करण के ही रूप में हो सकती है।

अब हम "घटना-क्रम विज्ञान" के अन्तिम अध्याय, "परम ज्ञान" में हेगेल के एकांगीपन तथा उनकी सीमाओं पर ब्योरेवार प्रकाश डालेंगे।

अध्याय में "घटना-क्रम-विज्ञान" की समझदारी का, परिकल्पी द्वन्द्ववाद के साथ "घटना-क्रम-विज्ञान" के सम्बन्ध का, तथा दोनों के सम्बन्ध में तथा एक-दूसरे के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में भी हीगेल की चेतना का घनीभूत सारांश मौजूद है।

आरम्भ तौर से, पेशगी के रूप में, हम केवल इतना कह दें हीगेल का दृष्टिकोण आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र** जैसा ही है। श्रम को मनुष्य के सारतत्व के रूप में—मनुष्य के ऐसे सारतत्व के रूप में वह स्वीकार करते हैं जो परीक्षा में खरा उतरता है: श्रम के केवल सकारात्मक पक्ष को ही वह देखते हैं, उसके नकारात्मक पक्ष को नहीं। श्रम, परकीयकरण के अन्तर्गत अथवा परकीयकृत मनुष्य के रूप में, मनुष्य को स्वयं अपने लिए अपनेपन में आने की क्रिया है। एकमात्र जिस श्रम से हीगेल परिचित है और जिसे वह मान्यता देते हैं वह अमूर्तीकृत मानसिक (abstractly mental) श्रम है। अस्तु, उस चीज को जो कि दर्शन का सारतत्व है—अपने आप को जानने वाले मनुष्य के परकीयकरण को, अथवा स्वयं चिन्तन करने वाले परकीयकृत विज्ञान को ही—हीगेल दर्शन का सारतत्व समझते हैं; और, इसीलिए, पहले के दर्शन के विपरीत, वह उसके अलग-अलग पक्षों को संयोजित कर लेते हैं, और अपने दर्शन को असली दर्शन के रूप में पेश कर देते हैं। दूसरे दार्शनिकों ने जो कुछ किया था—प्रकृति तथा मानवीय जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को जो उन्होंने आत्म-चेतना की, अर्थात्, अमूर्त आत्म-चेतना की अवस्थाओं के रूप में समझा था—उसे हीगेल दर्शन की करनियों (doings) के रूप में जानते हैं। अतः, उनका विज्ञान पूर्ण है।

अब हम अपने विषय पर वापस आ जायें।

"परम ज्ञान" "घटना-क्रम-विज्ञान" का अन्तिम अध्याय।

मुख्य बात यह है कि चेतना का लक्ष्य (object) आत्म-चेतना के सिवा और कुछ नहीं है, अथवा, कहा जा सकता है कि, वस्तूभूतकृत आत्म-चेतना (objectified self-consciousness)—वस्तु के रूप में आत्म-चेतना, ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। (मनुष्य को प्रस्थापित करना = आत्म-चेतना)।

अतएव, प्रश्न चेतना के लक्ष्य को मार कर लेने का है। वस्तुपरकता (objectivity) को एक ऐसा पृथक्कृत मानवीय सम्बन्ध माना जाता है जिसका मनुष्य के सारतत्व के साथ, आत्म-चेतना के साथ कोई तालमेल नहीं होता। इसलिए, मनुष्य के वस्तुपरक सारतत्व का, जो पृथक्करण की परिधि के अन्तर्गत एक परकीय वस्तु के रूप में उत्पन्न हुआ है, पुनः अधिकरण (reappropriation) किया जाना न केवल पृथक्करण के उन्मूलन का, बल्कि वस्तुपरकता के भी उन्मूलन

का संकेत देता है । कहने का आशय यह है कि मनुष्य को एक अवस्तुगत (non-objective), आत्मिक (spiritual) प्राणी माना जाता है ।

चेतना के लक्ष्य (object) पर विजय प्राप्त करने के प्रयास-कार्य को हीगेल द्वारा निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

लक्षित वस्तु अपने को स्वयं अपने मे केवल वापस लौट आने की क्रिया के रूप मे नही अभिव्यक्त करती है—यह तो, हीगेल के अनुसार, इस क्रिया को समझने का मात्र एक एकांगी ढग है, उसके केवल एक पक्ष को पकड लेना है। मनुष्य को स्व की बराबरी पर रख दिया जाता है । परन्तु, स्व तो केवल अमूर्त रूप से परिकल्पित किया गया मनुष्य—अमूर्त्तीकरण (abstraction) के द्वारा रचा गया मनुष्य—है । मनुष्य स्वार्थी है । उसकी आँख, उसके कान, आदि स्वार्थी हैं । उसके अन्दर उसकी प्रत्येक मूलभूत शक्ति मे स्ववाद (self-hood) का गुण मौजूद है । किन्तु इस कारण यह कह देना एकदम गलत होगा कि "आत्म-चेतना के पास आँखें, कान, मूलभूत-शक्तियाँ हैं ।" आत्म-चेतना तो एक तरह से मानवीय प्रकृति का, मानवीय आँख, आदि का ही एक गुण है; मानव प्रकृति नही आत्म-चेतना का गुण, ॥२४॥ है ।

आत्म-अमूर्तीकृत वस्तु (self-abstracted entity) ही, जो स्वयं के लिए नियत होती है, अमूर्त अहंवादी (egoist) के रूप मे मनुष्य होती है—शुद्ध रूप से अमूर्त्तीकृत अहंवाद (egoism) को चिन्तन के स्तर तक ऊँची उठा दी गयी वस्तु होती है । (इस मुद्दे पर बाद में हम फिर विचार करेंगे)।

हीगेल की दृष्टि मे मानव प्राणी—मनुष्य—आत्म-चेतना के समकक्ष (बराबर) होता है । अतः, मानव प्राणी का समस्त पृथक्करण आत्म चेतना के पृथक्करण के अलावा और कुछ नहीं होता । आत्म-चेतना के पृथक्करण को मानव प्राणी के वास्तविक पृथक्करण की अभिव्यक्ति—ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में प्रतिबिम्बित उसकी अभिव्यक्ति—नहीं माना जाता । इसके बजाय, वास्तविक पृथक्करण—वह जो असली प्रतीत होता है—अपनी सर्वथा आन्तरिक, छिपी प्रकृति (जिसे केवल दर्शन ही उजागर कर पाता है) के ही अनुसार, वास्तविक मानवीय सारतत्व के, आत्म-चेतना के पृथक्करण के प्रत्यक्षीकरण (manifestation) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता । इसीलिए, उस विज्ञान को जो इस चीज को समझाता है घटना-क्रम-विज्ञान कहा जाता है । अस्तु, पृथक्कृत वस्तुगत सारतत्व के पुनः-अधिकरण की समस्त क्रिया आत्म-चेतना के अन्दर उसके समावेश (संघातन—अनु०) के रूप में अभिव्यक्त होती है । वह मनुष्य जो अपनी मूलभूत सत्ता को वश में कर लेता है मात्र वह आत्म-चेतना होता है जो वस्तुगत सारतत्वों

bjective essences)को अपने वश मे कर लेती है । इसलिए, लक्षित वस्तु के
: मे वापस लौट आने का अर्थ उक्त वस्तु का पुन.अधिकरण हो जाना होता है ।

सब पहलुओं से व्यक्त किया जाय तो चेतना की लक्षित वस्तु को वश में
रने का अर्थ यह होता है :

(१) कि लक्षित वस्तु स्वय अपने को चेतना के सम्मुख एक विलुप्त होती
चीज़ के रूप मे पेश करती है ।

(२) कि आत्म-चेतना का परकीयकरण ही वह चीज़ होती है जो वस्तुपने"
hingbood) का अधिष्ठान करती है ।

(३) कि इस परकीयकरण का मात्र एक नकारात्मक ही नही, बल्कि एक
ारात्मक महत्व भी होता है ।

(४) कि इसका यह अर्थ केवल हमारे लिए, अथवा अन्त.स्थ रूप मे
trinsically) ही नही होता, बल्कि स्वयं आत्म-चेतना के लिए भी होता है ।

(५) आत्म-चेतना के लिए, लक्षित वस्तु के नकारात्मक पक्ष का, अथवा
के स्वयं अपने ही द्वारा अपना उन्मूलन कर लेने का महत्व सकारात्मक होता
-अथवा (कहना चाहिए कि–अनु०) वह वस्तु की इस निस्सारता को जानती
-क्योंकि वह स्वयं अपने को परकीय बना लेती है । इसकी वजह यह है कि इस
ीयकरण के माध्यम मे वह अपने-आप को लक्षित वस्तु के रूप मे अधिष्ठित
sit) कर लेती है, अथवा, स्वयं के लिए सत्ता (being for self) की अवि-
य एकता की खातिर उक्त वस्तु को वह स्वय अपने रूप मे अधिष्ठित कर
है ।

(६) दूसरी ओर, इसमे उसी प्रकार यह दूसरा तत्व भी निहित होता है,
आत्म-चेतना ने भी इस परकीयकरण तथा वस्तुगतता को भी ठीक उसी हद
निरस्त कर दिया है और उनको पुनः अपने अन्दर शामिल कर लिया है;
र–अनु०) इस प्रकार अपनी इस दूसरी-सत्ता (other being) मे भी वह
प्रकार अपने घर ही जैसा अनुभव करती है ।

(७) यह गतिशीलता चेतना की ही है और, इसलिए, यह उसके तत्वों की
ष्टता (समष्टि–अनु०) होती है ।

(८) चेतना का इसी प्रकार लक्षित वस्तु के साथ उसके तत्वों को समष्टि
म्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए तथा उसको समझदारी उसके तत्वों में
र एक के आधार पर क़ायम की जानी चाहिए । उसके तत्वों को यह सम-
सम्बन्धित वस्तु को स्वाभाविक रूप से एक आत्मिक सत्ता (intrinsically

a spiritual being) बना देती है; और, लक्षणों में से हर एक को स्व के रूप में, अथवा उस रूप में ग्रहण करके जिसे ऊपर आत्मिक दृष्टिकोण कहा गया है, वह वास्तव में चेतना के लिए यही चीज (आत्मिक सत्ता—अनु०) बन जाती है"।

जहाँ तक (१) का प्रश्न है कि लक्षित वस्तु चेतना के सम्मुख अपने को एक विलुप्त होती हुई चीज के रूप में पेश करती है—यह वस्तु के स्वयं अपने में वापस लौट आने की वही क्रिया है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

जहाँ तक (२) का प्रश्न है, आत्म-चेतना का परकीयकरण वस्तुत्व (thinghood) को प्रतिष्ठित कर देता है। मनुष्य चूँकि आत्म-चेतना के समकक्ष होता है, इसलिए उसका परकीयकृत, वस्तुगत सार-तत्व, अथवा वस्तुत्व (thinghood) परकीयकृत आत्म चेतना के समकक्ष होता है, और, इस प्रकार परकीयकरण की इस क्रिया के माध्यम से वस्तुत्व की प्रस्थापना हो जाती है (क्योंकि वस्तुत्व वही होता है जो मनुष्य के लिए एक वस्तु होती है, और उसके लिए वस्तु वास्तव में केवल वही चीज होती है जो उसके लिए एक नितान्त आवश्यक वस्तु होती है, अतः जो उसका वस्तुगत सार-तत्व होती है। और चूँकि न स्वयं वास्तविक मनुष्य (real man) को, न प्रकृति ही को—क्योंकि मनुष्य मानव प्रकृति ही होता है—बनाया जाता है, बल्कि केवल मनुष्य के अमूर्त रूप को आत्म-चेतना को ही—बनाया जाता है—इसलिए वस्तुत्व (thinghood) भी परकीयकृत आत्म-चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता)। स्वाभाविक तौर से आशा इसी चीज की की जाती है कि वस्तुगत (अर्थात्, भौतिक) शक्तियों से लैस और सम्पन्न एक जीवित, प्राकृतिक (natural) प्राणी के पास उसके सारतत्व के रूप में वास्तविक प्राकृतिक वस्तुएँ भी मौजूद हों, और उसके परकीयकरण के परिणामस्वरूप एक वास्तविक (real), वस्तुगत दुनिया की स्थापना (positing) हो जाय—पर [illegible] बाह्यत्व (externality) के रूप के अन्दर और, इसलिए, [illegible] दुनिया के अन्दर ही हो सकता है जिसका सम्बन्ध उसकी अपनी मूलभूत सत्ता से [illegible] न हो। कोई भी चीज इसमें अबूझ या रहस्यपूर्ण नहीं है। इसका उल्टा [illegible] उल्टा होने पर अवश्य यह चीज रहस्यपूर्ण बन जाती। किन्तु यह [illegible] इतनी ही स्पष्ट है कि अपने परकीयकरण के माध्यम से आत्मचेतना [illegible] वस्तुत्व (thinghood) को ही, अर्थात्, केवल एक अमूर्त वस्तु को ही [illegible] वस्तु को ही स्थापित कर सकती है जिसे वास्तविक वस्तु की [illegible] प्राप्त, यह भी इतना ही स्पष्ट है कि इसके कारण, आत्म-चेतना के [illegible] के रूप में भी कोई स्वतन्त्रता, कोई आत्मनिर्भरता (independence) [illegible]

नी; बल्कि, इसके विपरीत, वह मात्र एक सृष्ट वस्तु (creature)—आत्मिक-
तना द्वारा अधिष्ठित की गयी एक वस्तु होता है। और जो चीज़ अधिष्ठित
की गयी है (posited है) वह स्वयं अपनी सम्पुष्टि (confirmation) करने के
साथ, अधिष्ठान (positing) के उस कार्य की परिपुष्टि करती है जो कि
ण भर के लिए अपनी शक्ति को उत्पत्ति के रूप में पदासीन कर देता है, और
से एक स्वतन्त्र, असली सत्व (substance) का आभास—किन्तु मात्र एक पल
लिए—प्रदान कर देता है।

जब भी वास्तविक, पार्थिव मनुष्य, ऐसा मनुष्य जिसके पैर मजबूती से ठोस
ज़मीन पर जमे हुए हैं, मनुष्य जो प्रकृति की समस्त शक्तियों (forces of
nature) को अपनी साँस के द्वारा बाहर निकालता और अन्दर खींचता रहता है,
अपने बाह्यीकरण के माध्यम से अपनी वास्तविक, वस्तुगत मूलभूत शक्तियों को
परकीय वस्तुओं के रूप में अधिष्ठित करता है, तब इस क्रिया का कर्ता अधि-
ष्ठित करने का कार्य नहीं होता बल्कि उसका कर्त्ता वस्तुगत मूलभूत शक्तियों
की मनोगतता (subjectivity) होता है। इस कारण, उसका कार्य भी अनिवार्य
रूप में वस्तुगत ही होता है। एक वस्तुगत प्राणी वस्तुगत ढंग से ही काम
करता है, और इस तरह वस्तुगत रूप से वह काम न कर सकता यदि उसकी
सत्ता की प्रकृति के अन्दर ही वस्तुगतता निहित न होती। वस्तुओं की वह केवल
सृष्टि करता है अथवा उनको अधिष्ठित करता है, क्योंकि उसकी सृष्टि की
अधिष्ठित वस्तुओं द्वारा की जाती है। इसका कारण यह है कि अपनी तह में
वह प्रकृति ही है। अतएव अधिष्ठित करने के कार्य के दौरान यह वस्तुगत
प्राणी अपनी 'विशुद्ध क्रियाशीलता' की स्थिति से वस्तु की सृष्टि करने के कार्य
के गड्ढे में नहीं जा गिरता; बल्कि, इसके विपरीत, उसके द्वारा पैदा की जाने
वाली वस्तुगत उत्पत्ति उसकी वस्तुगत क्रियाशीलता की, एक वस्तुगत, प्राकृतिक
प्राणी की क्रियाशीलता की केवल परिपुष्टि ही करती है।

यहाँ हम देखते हैं कि सुसंगत प्रकृतिवाद (naturalism) अथवा मानव-
वाद (humanism) किस प्रकार भाववाद तथा भौतिकवाद दोनों से भिन्न है,
और साथ ही साथ उन दोनों को एकताबद्ध करने वाली सच्चाई है। इस चीज़
को भी हम देखते हैं कि किस प्रकार केवल प्रकृतिवाद में ही यह क्षमता है कि
विश्व इतिहास की क्रिया को वह समझ सके।

<*मनुष्य सीधे-सीधे एक प्राकृतिक प्राणी है। एक प्राकृतिक प्राणी तथा
एक जीवित प्राकृतिक प्राणी होने के नाते एक ओर तो वह प्राकृतिक शक्तियों से,
प्राणमूलक शक्तियों से युक्त होता है—वह एक क्रियाशील प्राकृतिक प्राणी होता

है। ये शक्तियाँ उसके अन्दर प्रवृत्तियों और क्षमताओं के रूप में—सहज वृत्तियों (instincts) के रूप में अस्तित्वशील होती हैं। दूसरी ओर, एक प्राकृतिक, पार्थिव, ऐन्द्रिक, वस्तुगत प्राणी होने के नाते पशुओं और पौधों की ही तरह—वह एक कष्ट भोगने वाला, प्रतिबन्धित तथा प्रसीमित जीव होता है। कहने का अर्थ यह है कि, उसकी सहज वृत्तियों की लक्षित वस्तुएँ, उससे स्वतन्त्र वस्तुओं के रूप में, उससे बाहर अस्तित्व रखती हैं; तिस पर भी ये वस्तुएँ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी उसे आवश्यकता होती है—ऐसी मूलभूत वस्तुएँ हैं जो कि उसकी मूलभूत शक्तियों की अभिव्यक्ति तथा परिपुष्टि के लिए अत्यावश्यक हैं। यह कहना कि मनुष्य प्राकृतिक पौरुष से परिपूर्ण एक पार्थिव, जीवित, ऐन्द्रिक, वस्तुगत प्राणी है, वास्तव में यह कहना है कि उसकी सत्ता अथवा जीवन का लक्ष्य वास्तविक, ऐन्द्रिक वस्तुएँ हैं, अथवा यह कि अपने जीवन की अभिव्यक्ति वह केवल वास्तविक, ऐन्द्रिक वस्तुओं के माध्यम से ही कर सकता है। वस्तुगत, प्राकृतिक तथा ऐन्द्रिक होना, और साथ ही साथ यह पाना कि लक्षित वस्तु, प्रकृति तथा इन्द्रिय उससे बाहर है, अथवा कि वह स्वयं एक तीसरे पक्ष की लक्षित वस्तु प्रकृति तथा इन्द्रिय है—यह एक ही तथा सर्वथा अनन्य चीज़ है।> भूख एक प्राकृतिक आवश्यकता है; इसलिए, उसकी संतुष्टि के लिए, उसे शान्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके बाहर एक प्रकृति (nature) हो, उसके बाहर कोई वस्तु हो। मेरे शरीर से बाहर अस्तित्वशील एक लक्षित वस्तु के लिए भूख मेरे शरीर की मानी हुई एक ऐसी आवश्यकता है, जो कि उस वस्तु के पूर्णीकरण तथा उसकी मूलभूत सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सूर्य पौधे की अभिप्रेत वस्तु होता है—उसके लिए वह एक ऐसी अपरिहार्य वस्तु होता है—जो उसके जीवन की पुष्टि करती है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि पौधा—सूर्य की जीवनदायिनी शक्ति की, सूर्य की वस्तुगत मूलभूत शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण—सूर्य की एक अभिप्रेत वस्तु होता है।

जिस प्राणी की प्रकृति उससे बाहर न हो वह प्राकृतिक प्राणी नहीं है, और प्रकृति की व्यवस्था में कोई भी भूमिका नहीं अदा करता। वह प्राणी जिसकी अपने से बाहर कोई अभिप्रेत वस्तु नहीं है, वह कोई वस्तुगत प्राणी नहीं है। वह प्राणी जो स्वयं किसी तीसरे पक्ष के लिए एक अभिप्रेत वस्तु नहीं है, अपनी अभिप्रेत वस्तु के लिए भी प्राणी नहीं हो सकता; अर्थात्, वह वस्तुगत रूप से किसी से जुड़ा हुआ नहीं है। उसकी सत्ता वस्तुगत नहीं है।

॥२७। एक अवस्तुगत प्राणी (non-objective being) एक अ-प्राणी (non-being) है।

शक्तियाँ उसके अन्दर प्रवृत्तियों और क्षमताओं के रूप में—सहज
cts) के रूप में अस्तित्वशील होती हैं। दूसरी ओर, एक प्रा
ऐन्द्रिक, वस्तुगत प्राणी होने के नाते पशुओं और पौधों की ही त
: भोगने वाला, प्रतिबन्धित तथा प्रसीमित जीव होता है। कहने
क, उसकी सहज वृत्तियों की लक्षित वस्तुएँ, उससे स्वतन्त्र वस्तुओं
' बाहर अस्तित्व रखती हैं, तिस पर भी वे वस्तुएँ ऐसी वस्तुएँ हैं
श्यकता होती है—ऐसी मूलभूत वस्तुएँ हैं जो कि उसकी
की अभिव्यक्ति तथा परिपुष्टि के लिए अत्यावश्यक हैं। यह कह
ाकृतिक पौरुष से परिपूर्ण एक पार्थिव, जीवित, ऐन्द्रिक, वस्तुगत
व में यह कहना है कि उसकी सत्ता अथवा जीवन का लक्ष्य वास
स्तुएँ हैं, अथवा यह कि अपने जीवन की अभिव्यक्ति वह केवल
न्द्रिक वस्तुओं के माध्यम से ही कर सकता है। वस्तुगत, प्राकृति
होना, और साथ ही साथ यह पाना कि लक्षित वस्तु, प्रकृति तथा
हर है, अथवा कि वह स्वयं एक तीसरे पक्ष की लक्षित वस्तु
द्रय है—यह एक ही तथा सर्वथा *अनन्य चीज है*। भूख एक प्रा
ता है; इसलिए, उसकी संतुप्ति के लिए, उसे शान्त करने के
है कि उसके *बाहर* एक *प्रकृति* (nature) हो, उसके बाहर
। मेरे शरीर से बाहर अस्तित्वशील एक लक्षित वस्तु के लिए भू
मानी हुई एक ऐसी आवश्यकता है, जो कि उस वस्तु के पूर्ण
की मूलभूत सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सूर्य
क्षित वस्तु होता है—उसके लिए वह एक ऐसी अपरिहार्य वस्तु होता
जीवन की पुष्टि करती है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि पौ
जीवनदायिनी शक्ति को, सूर्य की वस्तुगत मूलभूत शक्ति की अभि

है वह वस्तुगतता (objectivity) ही है, क्योकि वस्तु का निर्धारित स्वरूप नहीं, बल्कि दरअसल उसका वस्तुगत स्वरूप ही वह चीज है जो आपत्तिजनक तथा आत्म-चेतना का पृथक्करण होती है। अतएव, लक्षित वस्तु (object) एक नकारात्मक, स्व-उन्मूलन करने वाली चीज है—अस्तित्व-हीनता (nullity) है। वस्तु की इस अस्तित्वहीनता (या शून्यता-अनु०) का चेतना के लिए न केवल नकारात्मक, बल्कि एक सकारात्मक अर्थ भी होता है, क्योकि वस्तु की यह अस्तित्व-विहीनता (या निस्सारता-अनु०) ही (उसकी-अनु०) अवस्तुगतता (objectivity) की, उसके स्वय के ॥२८॥ अमूर्त्तीकरण (abstraction) की आत्म-पुष्टि होती है। चेतना स्वयं के लिए लक्षित वस्तु की यह अस्तित्व-विहीनता एक सकारात्मक अर्थ रखती है, क्योकि इस अस्तित्व-विहीनता, इस वस्तुगत सत्ता को वह अपने आत्म-परकीयकरण (self-alienation) के रूप मे जानती है; क्योकि वह जानती है कि वह स्वय अपने आत्म-परकीयकरण के फलस्वरूप ही अस्तित्वशील है ...

चेतना जिस रूप मे (अस्तित्वशील-अनु०) है, और जिस रूप मे उसके लिए कोई और चीज है, वही जानना (knowing) होता है। जानना ही उसका एकमात्र कर्म है। अतः, कोई चीज चेतना के लिए उसी हद तक अस्तित्व रखती है जिस हद तक कि चेतना इस कोई चीज़ (something) को जानती है। जानना ही उसका एकमात्र वस्तुगत सम्बन्ध होता है।

तब फिर, वह, चेतना वस्तु की अस्तित्व-हीनता को जानती है (अर्थात् वह इस बात को जानती है कि वस्तु के और स्वयं उसके बीच कोई अन्तर नही है, उसके लिए वस्तु अस्तित्व-विहीन है), क्योकि वह इस चीज को जानती है कि वस्तु स्वय उसका ही आत्मपरकीयकृत रूप है; अर्थात्, वह स्वय अपने को जानती है—जानने को वस्तु के रूप मे जानती है—क्योकि वस्तु मात्र वस्तु का एक सादृश्य (semblance) है, रहस्यमयीकरण करने वाली एक ऐसी गुट्टी है, जो अपने सारतत्व मे, वास्तव में, स्वय उस अपने को जानने के अलावा और कुछ नहीं, जिसने अपने को स्वय अपने मुकाबले मे खड़ा कर लिया है और इसलिए स्वय अपने को एक अस्तित्व-विहीनता (nullity) के—एक ऐसी चीज के मुकाबले मे खड़ा कर लिया है—जिसकी जानने की प्रक्रिया मे बाहर कोई वस्तुगतता है ही नहीं। अथवा : जानना इस चीज को जानता है कि एक वस्तु के साथ अपने को जोड़ते समय वह केवल स्वयं अपने से बाहर हो जाता है—कि वह अपने-आप का केवल बाह्यीकरण कर लेता है; कि वह स्वयं अपने सामने भी केवल एक वस्तु के ही रूप मे प्रकट होता है—अथवा कि, जो चीज उसे एक वस्तु के रूप में दिखलायी देती है वह केवल वह खुद ही होता है।

वस्तुगत रूप में, न मनोगत रूप में प्रकृति प्रत्यक्षतया इस रूप में सुलभ होती है जो कि मानवीय प्राणी के लिए पर्याप्त हो। > और चूंकि प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु को अस्तित्व में आना पड़ता है, इसलिए मनुष्य की उत्पत्ति की भी अपनी क्रिया होती है—(उसका–अनु०) इतिहास होता है—किन्तु, वह उसके लिए एक ज्ञात इतिहास होता है, और इसलिए उत्पत्ति की एक क्रिया के रूप में वह उत्पत्ति की एक सचेतन स्व-अनुभवातीत क्रिया (conscious self-transcending act of origin) होता है। इतिहास मनुष्य का सच्चा प्राकृतिक इतिहास होता है (इसके विषय में अधिक मैं बाद में कहूंगा)।

तीसरे, चूंकि वस्तु-तत्व (thinghood) का इस प्रकार अधिष्ठान करना (positing) स्वयं मात्र एक भ्रमात्मक चीज है, एक ऐसी क्रिया है जो शुद्ध क्रियाशीलता (pure activity) की प्रकृति का प्रतिवाद करती है, इसलिए आवश्यक हो जाता है कि उसे पुनः निरस्त कर दिया जाय और वस्तु-तत्व (की सत्ता) से इन्कार किया जाय।

३, ४, ५ और ६ (बिन्दुओं–अनु०) के विषय में। (३) चेतना के बाह्यीकरण का न केवल नकारात्मक, वरन् एक सकारात्मक महत्व भी होता है, और (४) उसका यह अर्थ केवल हमारे लिए अथवा यथार्थतः (intrinsically) ही नहीं होता, बल्कि स्वयं चेतना के लिए भी होता है। (५) चेतना के लिए वस्तु का नकारात्मक पक्ष स्वयं अपने द्वारा किया जाने वाला उसका उन्मूलन सकारात्मक महत्व रखता है—अर्थात्, चेतना लक्षित वस्तु की इस असारता को जानती है, क्योंकि वह स्वयं अपने को परकीयकृत बना लेती है; क्योंकि इस परकीयकृत रूप में अपने-आप को वह एक वस्तु (object) के रूप में जानती है, अथवा स्वयं-अपने लिए सत्ताशील होने (being-for-itself) की अविभाज्य एकता की खातिर, वह वस्तु को स्वयं अपने ही रूप में जानती है। (६) दूसरी ओर, इस प्रक्रिया का यह दूसरा पल भी होता है जिसमें चेतना इस परकीयकरण तथा वस्तुगतता को भी उसी मात्रा में निरस्त कर देती है और उन्हें अपने अन्दर समेट लेती है, जिससे कि अपनी इस दूसरी सत्ता के रूप (other being as such) में भी वह अपने घर ही में होने जैसा अनुभव करती है।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, जो कुछ पृथक्कृत हो चुका है और जो वस्तुगत है उसके आत्मसातीकरण का, अथवा पृथक्करण के रूप में वस्तुगतता के उन्मूलन का (जिसे कि उदासीन परायेपन (estrangement) से वास्तविक, विरोधी पृथक्करण की दिशा में बढ़ना होता है) हीगेल के लिए भी, अथवा मुख्यतया हीगेल के लिए ही, अर्थ यह होता है कि जिस वस्तु का उन्मूलन करना

है वह वस्तुगतता (objectivity) ही है, क्योंकि वस्तु का निर्धारित स्वरूप नहीं, बल्कि दरअसल उसका वस्तुगत स्वरूप ही वह चीज़ है जो आपत्तिजनक तथा आत्म-चेतना का पृथक्करण होती है। अतएव, लक्षित वस्तु (object) एक नकारात्मक, स्व-उन्मूलन करने वाली चीज़ है—अस्तित्व-हीनता (nullity) है। वस्तु की इस अस्तित्वहीनता (या शून्यता–अनु०) का चेतना के लिए न केवल नकारात्मक, बल्कि एक सकारात्मक अर्थ भी होता है, क्योंकि वस्तु की यह अस्तित्व-विहीनता (या निस्सारता–अनु०) ही (उसकी–अनु०) अवस्तुगतता (objectivity) की, उसके स्वय के ॥२८॥ अमूर्त्तीकरण (abstraction) की आत्म-पुष्टि होती है। चेतना स्वयं के लिए लक्षित वस्तु की यह अस्तित्व-विहीनता एक सकारात्मक अर्थ रखती है, क्योंकि इस अस्तित्व-विहीनता, इस वस्तुगत सत्ता को वह अपने आत्म-परकीयकरण (self-alienation) के रूप में जानती है; क्योंकि वह जानती है कि वह स्वय अपने आत्म-परकीयकरण के फलस्वरूप ही अस्तित्वशील है ...

चेतना जिस रूप मे (अस्तित्वशील -अनु०) है, और जिस रूप में उसके लिए कोई और चीज़ है, वही जानना (knowing) होता है। जानना ही उसका एकमात्र कर्म है। अतः, कोई चीज़ चेतना के लिए उसी हद तक अस्तित्व रखती है जिस हद तक कि चेतना इस कोई चीज़ (something) को जानती है। जानना ही उसका एकमात्र वस्तुगत सम्बन्ध होता है।

तब फिर, वह, चेतना वस्तु की अस्तित्व-हीनता को जानती है (अर्थात् वह इस बात को जानती है कि वस्तु के और स्वयं उसके बीच कोई अन्तर नहीं है, उसके लिए वस्तु अस्तित्व-विहीन है), क्योंकि वह इस चीज़ को जानती है कि वस्तु स्वय उसका ही आत्मपरकीयकृत रूप है; अर्थात्, वह स्वय अपने को जानती है—जानने को वस्तु के रूप में जानती है—क्योंकि वस्तु मात्र वस्तु का एक सादृश्य (semblance) है, रहस्यमयीकरण करने वाली एक ऐसी गुट्टी है, जो अपने सारतत्व मे, वास्तव मे, स्वय उस अपने को जानने के अलावा और कुछ नहीं, जिसने अपने को स्वय अपने मुकाबले मे खड़ा कर लिया है और इसलिए स्वय अपने को एक अस्तित्व विहीनता (nullity) के—एक ऐसी चीज़ के मुकाबले मे खड़ा कर लिया है—जिसकी जानने की प्रक्रिया से बाहर कोई वस्तुगतता है ही नहीं। अथवा : जानना इस चीज़ को जानता है कि एक वस्तु के साथ अपने को जोड़ते समय वह केवल स्वयं अपने से बाहर हो जाता है—कि वह अपने-आप का केवल बाह्यीकरण कर लेता है; कि वह स्वयं अपने सामने भी केवल एक वस्तु के ही रूप में प्रकट होता है—अथवा कि, जो चीज़ उसे एक वस्तु के रूप में दिखलायी देती है वह केवल वह खुद ही होता है।

दूसरी ओर, हीगेल कहते हैं कि यहां, साथ ही साथ, यह दूसरा तत्व भी मौजूद है कि, इस बाह्यीकरण तथा वस्तुगतता को चेतना ने भी ठीक उतना ही मिटा दिया है और पुन. अपने अन्दर समेट लिया है, जिससे कि अपनी दूसरी सत्ता (other-being) में भी वह उसी प्रकार अपने घर ही जैसा (at home) महसूस करती है।

इस वाद-विवाद में परिकल्पना के सारे ही भ्रमों को एक जगह ला जुटाया गया है।

सर्वप्रथम तो : चेतना, आत्म-चेतना अपनी दूसरी सत्ता (other-being) में भी घर ही जैसा महसूस करती है। अतः, वह —अथवा, यदि यहां हम हीगेलवादी अमूर्तीकरण (Hegelian abstraction) का अमूर्तीकरण कर दें और आत्म-चेतना के स्थान पर मनुष्य की आत्म-चेतना को रख दें, तो— वह अपनी दूसरी सत्ता में भी उसी प्रकार घर ही जैसा महसूस करती है। इसका अर्थ यह होता है कि, एक तो, चेतना (जानना जानने के रूप में, सोचना सोचने के रूप में) यह दिखावा करती है कि वह सीधे-सीधे खुद अपना ही दूसरा रूप (other of itself) है—इन्द्रिय की दुनिया (world of sense), असली दुनिया, जीवन है—विचार का विचार रूप में ही अपने से आगे बढ़ जाना है (फ़ायरबाख)"। यह पक्ष इसमें समाविष्ट है, क्योंकि चेतना मात्र चेतना के रूप में पृथक्कृत वस्तुगतता पर नहीं, बल्कि स्वयं वस्तुगतता पर ही अप्रसन्न होती है।

दूसरे, इसका अर्थ यह होता है कि आत्म-चेतन मनुष्य—इसके बावजूद कि, आत्मिक संसार (spiritual world) को (अथवा अपने संसार के अस्तित्व को आत्मिक सामान्य विधा को) उसने आत्म-परकीयकरण के रूप में स्वीकार तथा निरस्त कर दिया है—इस परकीयकृत रूप में उसकी पुनः पुष्टि करता है और उसे अपने अस्तित्व की सच्ची विधा के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, उसकी पुनर्स्थापना करता है, और यह दिखावा करता है कि अपने इस दूसरे-अस्तित्व (other-being) में भी वह घर ही जैसा महसूस करता है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, धर्म को स्थानच्युत करने के बाद, इस बात को भी स्वीकार कर लेने के बाद कि धर्म आत्म-परकीयकरण की उपज (product of self-alienation) है, अपनी पुष्टि वह धर्म के रूप में धर्म के अन्दर ही प्राप्त करता है! हीगेल के मिथ्या प्रत्यक्षवाद (false positivism), अथवा उनकी मात्र दिखावटी (apparent) आलोचना का यही मूल है : इसी को फ़ायरबाख ने धर्म अथवा ... की स्थापना करने, निषेध करने और पुनर्स्थापना करने की संज्ञा दी

ती—किन्तु आवश्यक है कि इस बात को और भी अधिक सामान्य शब्दावली मे यक्त किया जाय। इस भांति, तर्क-हीनता (unreason) के रूप मे तर्क-हीनता के अन्दर तर्क (reason) घर जैसा अनुभव करता है। जिस मनुष्य ने इस बात को मान लिया है कि विधि, राजनीति, आदि के क्षेत्र मे वह एक परकीयकृत जीवन व्यतीत कर रहा है, वही अपने वास्तविक मानवीय जीवन (true human life) को इस परकीयकृत जीवन मे व्यतीत कर रहा है। इस प्रकार, स्वय अपने विरोध की स्थिति मे (in contradiction)—लक्षित वस्तु (object) के बोध (knowledge) तथा उसकी मूलभूत सत्ता दोनों से विरोध की ही स्थिति मे ही—आत्म-पुष्टीकरण (self-affirmation), आत्म-प्रमाणीकरण (self confirmation) वास्तविक बोध तथा जीवन होता है।

इसलिए, धर्म, राज्यसत्ता, आदि के सम्बन्ध मे हीगेल द्वारा मेल-मुलाहिज़ा दिखलाये जाने का अब कोई प्रश्न ही नही हो सकता, क्योंकि यह झूठ उनके सिद्धान्त का ही झूठ है।

॥२९। यदि इस बात को मैं जानता हूं कि धर्म परकीयकृत मानवीय आत्मचेतना है, तब उसके अन्दर जिस चीज़ को मैं धर्म के रूप मे जानता हूं वह मेरी आत्म-चेतना नहीं है, बल्कि उसके अन्दर परिपुष्ट हो चुकी स्वय मेरी ही परकीयकृत आत्म-चेतना है। अतएव, अपनी आत्म-चेतना को—जो स्वय अपनी, स्वय अपनी ही प्रकृति की स्वामिनी है, मैं जानता हूं कि उसका पुष्टिकरण धर्म मे नहीं, बल्कि एक तरह से निर्मूलित (annihilated) तथा स्थान-च्युत (superseded) धर्म मे मिलता है।

अतएव, हीगेल के दर्शन मे निषेध के निषेध से उस वास्तविक सार-तत्व की पुष्टि नहीं होती जिसे कि छद्म-सारतत्व (pseudo-essence) के निषेध के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। उनके दर्शन मे तो निषेध के निषेध से छद्म-सारतत्व की ही, अथवा आत्म-पृथक्कृत सारतत्व की उसकी अस्वीकारोक्ति के (denial) के रूप मे ही पुष्टि होती है; अथवा फिर इस बात की पुष्टि होती है कि, मनुष्य से बाहर और उससे स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वशील एक वस्तुगत सत्ता (objective being) के रूप मे, इस छद्म-सारतत्व का, तथा मूल तत्व (subject) मे उसके रूपान्तरित हो जाने की प्रक्रिया का, कहीं अस्तित्व नहीं है।

अतएव, निरस्तीकरण (superseding) की यह क्रिया, जिसके अन्दर कि अस्वीकारोक्ति तथा परिरक्षण की, पुष्टीकरण की, प्रक्रियाएं एक साथ आबद्ध रहती हैं, एक विचित्र ही भूमिका निभाती है।

इस प्रकार, उदाहरण के लिए, विधि (law) सम्बन्धी हीगेल के दर्शन में निरस्तीकृत (superseded) नागरिक क़ानून बराबर होता है नैतिकता के, निरस्तीकृत नैतिकता बराबर होती है परिवार के, निरस्तीकृत परिवार बराबर होता है नागरिक समाज (civil society) के, निरस्तीकृत नागरिक समाज बराबर होता है राज्यसत्ता के, निरस्तीकृत राज्यसत्ता बराबर होती है विश्व इतिहास के। वास्तविक दुनिया में नागरिक क़ानून, नैतिकता, परिवार, नागरिक समाज, राज्यसत्ता, आदि अस्तित्वशील तो बने रहते हैं, किन्तु वे हैं ऐसे तत्व (moments)—मनुष्य के अस्तित्व तथा उसकी सत्ता की ऐसी दशाएँ—जिनकी अलग-अलग कोई वैधता नहीं होती, बल्कि जो कि एक दूसरे को मिटाती और बनाती रहती हैं, आदि। वे गति के तत्व (क्षण : moments of motion) बन गये हैं।

उनकी यह चलन-शील प्रकृति (mobile nature) उनके वास्तविक अस्तित्व मे छिपी रहती है। वह केवल चिन्तन के क्षेत्र मे, दर्शन में प्रकट होती है और उन्ही मे अभिव्यक्त की जाती है। अतः, मेरा वास्तविक धार्मिक अस्तित्व धर्म के दर्शन के अन्दर मेरा अस्तित्व होता है; मेरा वास्तविक राजनीतिक आस्तित्व विधि के दर्शन के अन्दर मेरा अस्तित्व होता है; मेरा वास्तविक प्राकृतिक अस्तित्व प्रकृति के दर्शन के अन्दर, मेरा वास्तविक कलात्मक अस्तित्व, कला के दर्शन के अन्दर, (और—अनु०) मेरा वास्तविक मानवीय अस्तित्व दर्शन के अन्दर मेरा अस्तित्व होता है। इसी प्रकार, धर्म, राज्यसत्ता, प्रकृति, कला का वास्तविक अस्तित्व, धर्म, प्रकृति, राज्यसत्ता तथा कला के दर्शन के ही अन्दर होता है। परन्तु, यदि धर्म, आदि का दर्शन ही मेरे लिए धर्म का एकमात्र वास्तविक अस्तित्व है, तब फिर मैं भी धर्म के एक दार्शनिक के रूप मे ही वास्तव में धार्मिक होता हूं; और, इसलिए, असली धार्मिक भावना तथा वास्तविक धार्मिक भावना तथा वास्तविक धार्मिक मनुष्य के (अस्तित्व-अनु०] से मैं इन्कार करता हूं। किन्तु, साथ ही साथ, आत्मिक रूप से, स्वय मेरे अपन अस्तित्व के अन्दर, अथवा उस परकीय अस्तित्व के अन्दर जिसे मैं उनके विरोध मे रखता हूं, उनका अस्तित्व होने की मैं घोषणा करता हूं—क्योंकि यह केवल उनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति होती है; और आत्मिक रूप से उनके अस्तित्व की घोषणा मैं उनसे पृथक मौलिक रूप मे करता हूं, क्योंकि मेरे लिए, ऐन्द्रिक छद्म वेषो (sensuous disguises) के अन्तर्गत छिपे हुए, वे मात्र दृश्यमान दूसरा-अस्तित्व, (other-being), रूपक (allegories), स्वयं अपने वास्तविक अस्तित्व के (अर्थात्, मेरे दार्शनिक अस्तित्व के) स्वरूप के प्रतिनिधि होते हैं।

ठीक इसी प्रकार, निरस्तीकृत (या विस्थित—अनु०) गुण (quality) बराबर होता है परिमाण के, निरस्तीकृत (superseded) परिमाण बराबर होता है माप (measure) के, निरस्तीकृत माप बराबर होता है सारतत्व के, निरस्तीकृत सारतत्व बराबर होता है आभास (appearance) के, निरस्तीकृत आभास बराबर होता है वास्तविकता (actuality) के, निरस्तीकृत वास्तविकता बराबर होती है अवधारणा (concept) के, निरस्तीकृत अवधारणा के बराबर होती है वस्तुगतता (objectivity) निरस्तीकृत वस्तुगतता बराबर होती है परम विचार (absolute idea) के, निरस्तीकृत परम विचार बराबर होता है प्रकृति (nature) के, निरस्तीकृत प्रकृति बराबर होती है मनोगतवादी मस्तिष्क के, निरस्तीकृत मनोगतवादी मस्तिष्क बराबर होता है नैतिक वस्तुगत मस्तिष्क (ethical objective mind) के, निरस्तीकृत नैतिक वस्तुगत मस्तिष्क बराबर होता है कला के, निरस्तीकृत कला बराबर होती है धर्म के, निरस्तीकृत धर्म बराबर होता है परम ज्ञान (absolute knowledge) के।[१२]

एक ओर तो निरस्तीकरण का यह कार्य अवधारणात्मक सत्व (conceptual entity) के इन्द्रियातीत बनने की क्रिया होता है, अस्तु, एक अवधारणा के रूप में निजी-सम्पत्ति इन्द्रियातीत बनकर नैतिकता की अवधारणा में परिवर्तित हो जाती है। और चूंकि विचार अपने को सीधे-सीधे अपना दूसरा रूप (other of itself) समझता है, इन्द्रियगत वास्तविकता (sensuous reality) होने की कल्पना करता है—और, इसलिए, स्वयं अपने कार्य को इन्द्रियगत असली कार्य मान लेता है—विचार जगत् में निरस्तीकृत होने की यह क्रिया, जो कि अपनी लक्षित वस्तु (object) को असली दुनिया में ही अस्तित्वशील बना रहने देती है, विश्वास करती है कि उसने उसे वास्तव में वशीभूत कर लिया है। दूसरी ओर, चूंकि अभिप्रेत वस्तु (object) अब उसके लिए चिन्तन का एक तत्व बन गयी है, इसलिए विचार उसकी वास्तविकता में भी उसे स्वयं अपना—आत्म-चेतना का—अमूर्तीकरण (abstraction) का आत्म-प्रमाणीकरण मान लेता है।

॥३०॥ जिस विद्यमान वस्तु (entity) को हीगेल दर्शन के क्षेत्र में निरस्तीकृत करते हैं वह इसलिए एक दृष्टि से वास्तविक धर्म, वास्तविक राज्य-सत्ता, अथवा, वास्तविक प्रकृति नहीं होती, बल्कि वह धर्म होता है जो स्वयं ज्ञान का लक्षित उद्देश्य, अर्थात्, सिद्धान्त-विद्या (dogmatics) बन चुका है, यही बात न्यायशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, तथा प्रकृति विज्ञान के भी सम्बन्ध में सही है। इसलिए, एक दृष्टि से वह असली वस्तु (real thing) तथा तात्कालिक,

अदार्शनिक विज्ञान, अथवा इस वस्तु की अदार्शनिक अवधारणाओं—दोनों ही के विरुद्ध होता है। अतः वह परम्परागत अवधारणाओं* का खण्डन करता है।

दूसरी ओर, धर्म, आदि को मानने वाला मनुष्य हीगेल मे अपना अन्तिम प्रमाण (पुष्टिकरण–अनु०) प्राप्त कर ले सकता है।

अब समय आ गया है कि पृथक्करण के प्रदेश के अन्तर्गत हीगेलवादी द्वन्द्ववाद के सकारात्मक पहलुओं को सूत्रबद्ध कर दिया जाय।

[अ] **निरस्तीकरण** (supersession) : परकीयकरण की स्थिति को स्वयं के अन्दर वापस समेट लेने की एक वस्तुगत गति के रूप में। पृथक्करण के अन्तर्गत, उसके पृथक्करण के निरस्तीकरण के माध्यम से, वस्तुगत सारतत्व के आत्मसात्करण के सम्बन्ध में जो अन्तर्दृष्टि अभिव्यक्त होती है वह यही है; वस्तुगत संसार के **पृथक्कृत** स्वरूप के निर्मूलन के माध्यम से, अस्तित्व की पृथक्कृत विधा के रूप में वस्तुगत संसार के निरस्तीकरण के माध्यम से, मनुष्य के वास्तविक अंगीभूतकरण के सम्बन्ध मे, उसके वस्तुगत सारतत्व के वास्तविक आत्मसात्करण के सम्बन्ध में जो पृथक्कृत अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है वह यही है। इसी प्रकार, ईश्वर का निरस्तीकरण होने के कारण, अनीश्वरवाद ही धर्मतान्त्रिक मानवतावाद (theocratic humanism) के आगमन का सूचक होता है; और, निजी सम्पत्ति के निरस्तीकरण के रूप मे, कम्युनिज्म (साम्यवाद)–मनुष्य के स्वत्व (possession) के रूप में वास्तविक मानवीय जीवन का पुष्टीकरण (vindication) और, इस भाँति, व्यावहारिक मानवतावाद के शुभागमन का सूचक होता है; अथवा, कहा जा सकता है कि, अनीश्वरवाद ऐसा मानवतावाद है जो धर्म का निरस्तीकरण करके स्वयं मध्यस्थ बन गया है, और कम्युनिज्म ऐसा मानवतावाद है जो निजी सम्पत्ति का निरस्तीकरण करके स्वयं उसके बीच की कड़ी बन गया है। इस मध्यस्थता को–जो कि स्वयं एक आवश्यक पूर्वावयव (premise) होती है—निरस्तीकृत करके ही सकारात्मक रूप से स्व-व्युत्पन्न मानवतावाद का, असली मानवतावाद का उदय होता है।

परन्तु अनीश्वरवाद और कम्युनिज्म मात्र कल्पना, कोरी हवाई चीजें नहीं हैं; वे मनुष्य द्वारा सृजित वस्तुगत दुनिया का–वस्तुगतता के प्रदेश में जन्मी मनुष्य की मूलभूत शक्तियों का–लोप हो जाना नहीं है; विपन्न होकर अप्राकृतिक आदिमकालीन सरलता की ओर पुनः लौट जाना भी उनका अर्थ नहीं है। इसके

---

* ईश्वर-विद्या (theology), न्यायशास्त्र, राजनीति विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, आदि की परम्परागत अवधारणाएँ।—स०

विपरीत, उनका अर्थ है मनुष्य के लिए मनुष्य के सारतत्व का, और उसके सार-तत्व का एक वास्तविक वस्तु के रूप में प्रथम वास्तविक आविर्भाव, उसकी प्रथम वास्तविक आत्म-सिद्धि।

इस प्रकार, स्वयं-निर्देशित निषेध के सकारात्मक (positive) अर्थ को पकड़कर (यद्यपि फिर उसी पृथक्कृत ढंग से) हीगेल मनुष्य के आत्म-पृथक्करण को, मनुष्य के सारतत्व के परकीयकरण को, वस्तुगतता से वंचित हो जाने को तथा आत्म-खोज के रूप में असलियत (realness) से विलग हो जाने की मनुष्य की स्थिति को, उसकी प्रकृति की अभिव्यक्ति, उसके अंगीभूतकरण तथा उसकी आत्म-सिद्धि के रूप में स्वीकार करते हैं। < संक्षेप में, अमूर्त्तीकरण (abstraction) के क्षेत्र के अन्तर्गत, हीगेल श्रम को मनुष्य के आत्म-जनन (self-genesis) के कार्य के रूप में देखते हैं—स्वयं अपने साथ मनुष्य के सम्बन्ध को वह एक परकीय प्राणी के साथ सम्बन्ध के रूप में तथा एक परकीय प्राणी के रूप में स्वयं अपने आविर्भाव को जातिमूल-चेतना (species-consciousness) तथा जातिमूल-जीवन (species-life) के उद्भव के रूप में देखते हैं। >

(आ) परन्तु, परावर्तन (उल्टी दिशा में चलने) की जिस प्रक्रिया का पहले विवरण दिया जा चुका है उसके अलावा, अथवा, कहना चाहिए कि, उसी के फलस्वरूप, यह कार्य हीगेल के दर्शन में निम्न रूप में सामने आता है :

सर्वप्रथम, मात्र एक औपचारिक रूप में क्योंकि वह अमूर्त्त है, क्योंकि स्वयं मानव प्राणी को ही उसमें—आत्म-चेतना के रूप में परिकल्पित—मात्र एक अमूर्त, चिन्तनशील प्राणी (abstract, thinking being) के रूप में देखा जाता है। और,

दूसरे, क्योंकि (उसका—अनु०) प्रस्तुतीकरण (exposition) औपचारिक तथा अमूर्त (abstract) है, इसलिए परकीयकरण का निरस्तीकरण परकीयकरण का पुष्टीकरण बन जाता है; अथवा, आत्म-परकीयकरण तथा आत्म-पृथक्करण के रूप में, आत्म-जनन तथा आत्म-अंगीभूतकरण की यह गति हीगेल की दृष्टि में एकदम पूर्ण (absolute) और, इसीलिए, अंतिम अभिव्यक्ति मानव जीवन की होती है—उस जीवन को, जिसका लक्ष्य वह स्वयं है, उस जीवन की जो स्वयं अपने साथ शान्तिपूर्वक, तथा उसके सार-तत्व में एकीकृत होकर (in unity) रहता है।

अतः, इस गति (movement) को, द्वन्दवाद की हैसियत से उसके अमूर्त ।।३१। रूप में, वास्तविक मानव जीवन माना जाता है, और चूँकि तिस पर भी वह एक अमूर्त्तीकरण ही है—मानवीय जीवन का पृथक्करण ही है—इसलिए, उसे एक

दैवी प्रक्रिया (divine process), किन्तु मनुष्य की दैवी प्रक्रिया माना जाता है, ऐसी प्रक्रिया जिसे मनुष्य का वह अमूर्त, शुद्ध, परम सारतत्व पूरा करता है जो स्वयं उससे पृथक है।

तीसरे, आवश्यक है कि इस प्रक्रिया का एक वाहक (bearer) हो, एक कर्त्ता (subject) हो। परन्तु यह कर्त्ता तो उसके फलस्वरूप ही अस्तित्व में आता है। इसलिए, यह फल—वह कर्त्ता जो अपने-आप को परम आत्म-चेतना के रूप में जानता है—ईश्वर, परम आत्मा (absolute spirit), अपने आप को जानने वाला (self-knowing) और अपने-आप को अभिव्यक्त करने वाला (self-manifesting) विचार होता है। असली मनुष्य और असली प्रकृति इस छिपे हुए अवास्तविक मनुष्य और इस अवास्तविक प्रकृति के मात्र विधेय (predicates)—प्रतीक बन जाते हैं। अतः, कर्त्ता और विधेय (subject and predicate) एक दूसरे के साथ सर्वथा विपरीत ढंग से—एक रहस्यपूर्ण कर्त्ता-कर्म के सम्बन्ध के रूप में, अथवा एक ऐसी मनोगतवादिता (subjectivity) के रूप में जुड़े हैं जो कि लक्षित वस्तु से परे तक जाती है—परम कर्त्ता (absolute subject) उसके एक अन्तर्गत प्रक्रिया होता है, ऐसा कर्त्ता होता है जो अपने-आप को परकीयकृत कर लेता है और परकीयकरण से स्वयं अपने में वापस लौट आता है, किन्तु जो, साथ ही साथ, इस परकीयकरण को स्वयं अपने अन्दर, तथा कर्त्ता को भी इसी प्रक्रिया के रूप में, वापस समेट लेता है: यह प्रक्रिया स्वयं अपने ही अन्दर शुद्ध रूप से, अनवरत, घूमते रहने की प्रक्रिया होती है।

पहले। मनुष्य के आत्म-सृजन (self-creation) अथवा आत्म-अंगीभूत-करण (self-objectification) के कार्य की औपचारिक तथा अमूर्त अवधारणा (को ले लें—अनु०)।

हीगेल द्वारा मनुष्य को आत्म-चेतना के समकक्ष बैठा दिये जाने के बाद पृथक्कृत लक्षित वस्तु—मनुष्य की पृथक्कृत मूलभूत असलियत—चेतना के पृथक्करण के मात्र विचार के, अतिरिक्त और कुछ नहीं है—पृथक्करण की वह अमूर्त और इसलिए खोखली तथा अवास्तविक अभिव्यक्ति के, निषेध के, अति-रिक्त और कुछ नहीं है। अतएव, परकीयकरण का निरस्तीकरण भी उसी प्रकार उस खोखले अमूर्तीकरण का एक अमूर्त, खोखला निरस्तीकरण होने के अलावा निषेध का निषेध होने के अलावा, और कुछ नहीं है। अतएव, आत्म-अंगीभूत-करण की समृद्ध, सजीव, ऐन्द्रिक, ठोस कार्यशीलता घटकर मात्र उसका अमूर्ती-करण, उसकी पूर्ण निषेधात्मकता (absolute negativity) बन जाती है—ए

ऐसा अमूर्त्तीकरण जो फिर उसी रूप मे स्थापित हो जाता है और उसे एक स्वतन्त्र कार्यशीलता— निरी कार्यशीलता माना जाने लगता है। यह तथाकथित निषेधात्मकता चूंकि उस असली जीवित कार्य (living act) का अमूर्त, खोखला रूप होने के सिवा और कुछ नहीं है, इसलिए उसकी अंतर्वस्तु (content) समस्त अन्तर्वस्तु का अमूर्तीकरण करके उत्पन्न की गयी मात्र एक दिखाऊ (formal) अन्तर्वस्तु ही हो सकती है। अत: इसके फलस्वरूप, प्रत्येक अन्तर्वस्तु सम्बन्धित अमूर्तीकरण के सामान्य, अमूर्त स्वरूप हमे प्राप्त हो जाते हैं जो कि, इसी कारण, हर अन्तर्वस्तु के प्रति उदासीन तथा, इसी वजह से, मान्य (valid) होते हैं— वे चिन्तन के ऐसे स्वरूप (thought-forms) अथवा तार्किक श्रेणियाँ (logical categories) होते हैं जिन्हें वास्तविक मस्तिष्क से तथा वास्तविक प्रकृति से विलग कर दिया गया है। (पूर्ण निषेधात्मकता की तर्क-सम्मत अन्तर्वस्तु को हम आगे चलकर उजागर करेंगे।)

इस क्षेत्र मे, अपनी परिकल्पी तार्किकता (speculative logic) के क्षेत्र में, हीगेल की प्रत्यक्ष उपलब्धि यह समझदारी है कि सुनिश्चित अवधारणाएँ (definte concepts), चिन्तन के तैयुदा सार्वलौकिक स्वरूप (fixed thought-forms)—प्रकृति तथा मस्तिष्क से स्वतन्त्र होने की हैसियत से—मानव-प्राणी के और, इसीलिए, मानव चिन्तन के भी सामान्य पृथक्करण का अनिवार्य परिणाम होते हैं; और, इसीलिए, हीगेल ने उन्हें एक सूत्र मे पिरोकर अमूर्तीकरण की प्रक्रिया (abstraction-process) के तत्वो के रूप मे प्रस्तुत कर दिया है। उदाहरण के लिए, निरस्तीकृत अस्तित्व सार-तत्व है, या निरस्तीकृत सार-तत्व अवधारणा है, निरस्तीकृत अवधारणा ... परम विचार है। परन्तु, तब फिर, परम विचार क्या है? यदि अमूर्त्तीकरण को पूरी प्रक्रिया में से एक बार फिर नहीं वह गुज़रना चाहता है और अपने-आप को इस विषय में सन्तुष्ट नहीं करना चाहता है कि अमूर्तीकरणों का, अथवा स्वय-बोध प्राप्त करने वाला अमूर्तीकरण का वह पुन योग है, तब फिर स्वय अपने को वह निरस्तीकृत कर देता है। परन्तु वह अमूर्तीकरण, जो स्वयं अपने को अमूर्तीकरण के रूप मे समझता है, जानता है कि वह स्वय कुछ नहीं है: उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने-आप का परित्याग कर दे—अमूर्तीकरण का परित्याग कर दे—और इसलिए वह एक ऐसी वस्तु के पास जा पहुचता है जो ठीक उसकी विरोधी है—वह प्रकृति के पास जा पहुचता है। इस प्रकार, पूरा तर्क-शास्त्र इस बात का प्रमाण है कि अमूर्त विचार अपने-आप में कुछ नहीं है, कि परम विचार खुद अपने लिए कुछ नहीं है; केवल प्रकृति ही कुछ है।

॥१३॥ परम विचार, अमूर्त विचार, जो कि,

"स्वयं उसके साथ उसकी एकता की दृष्टि से विचार किये जाने पर अन्तः-प्रेरित (intuiting) होना है" [हीगेल, विश्वकोष, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २२२ (पृ० २४४)], और जो कि (पूर्व-उद्धृत कृति) "स्वयं अपने परम सत्य के रूप में, अपनी विशिष्टता (particularity) अथवा अपने आद्य चरित्र-चित्रण (initial characterisation) तथा दूसरी-सत्ता (other-being) के तत्त्व को, तात्कालिक विचार को, अपने प्रतिबिम्ब के रूप में, स्वयं अपने अन्दर से प्रकृति के रूप में मुक्त रूप से बाहर बसा जाने देने का निर्णय करता है।" (पूर्व-उद्धृत कृति)

यह पूरी धारणा, जो कि इतने अजब तथा ऊटपटांग ढंग से कार्य करती है, और जिसने कि हीगेलवादियों के लिए इतने भयानक सर-दर्द पैदा कर दिये हैं, आदि से अन्त तक उस अमूर्तीकरण (अर्थात्, अमूर्त चिन्तक) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनुभव से बुद्धिमान बन जाने तथा अपनी असलियत के सम्बन्ध में प्रबुद्ध हो जाने के कारण, विभिन्न (मिथ्या तथा स्वयं भी अभी तक अमूर्त) परिस्थितियों के अन्तर्गत उसने इसीलिए अपने-आप का परित्याग करने का तथा अपनी आत्म-तन्मयता (self-absorption), शून्यता (nothingness), सामान्यतया तथा अनिर्दिष्टता के स्थान पर अपनी दूसरी सत्ता को, विशिष्ट (particular) तथा निर्दिष्ट (determinate) की स्थापना करने का निर्णय किया है; यह निर्णय किया है कि प्रकृति को, जिसे कि वह स्वयं अपने अन्दर मात्र एक अमूर्तीकरण के रूप में, एक विचार-तत्व (thought-entity) के रूप में, मजबूती से छिपाये हुए थी, अपने अन्दर से मुक्त रूप से बाहर निकल जाने की छूट दे दे : कहने का अर्थ है कि, इस धारणा ने यह निश्चय किया है कि अमूर्तीकरण को वह तिलांजलि दे दे और, अमूर्तीकरण के जाल से मुक्त होकर, प्रकृति पर दृष्टिपात करे। अमूर्त विचार, जो कि मध्यस्थता के बिना अन्तःप्रेरणा बन जाता है, वास्तव में उस अमूर्त चिन्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो कि स्वयं आत्म-समर्पण कर देता है और अन्तःप्रेरणा की शरण में जा पहुँचता है। तर्क-शास्त्र से प्राकृतिक दर्शन (natural philosophy) की ओर होने वाला यह सम्पूर्ण संक्रमण अमूर्तीकरण से अन्तःप्रेरणा की ओर होने वाले संक्रमण के सिवा और कुछ नहीं है—अमूर्त चिन्तक (abstract thinker) के लिए यह संक्रमण करना बहुत ही कठिन होता है; इसीलिए उसका वर्णन वह इतने प्रगल्भ ढंग से करता है। वह रहस्यपूर्ण अनुभूति (mystical feeling) जो दार्शनिक को

मूर्त चिन्तन से अन्तःप्रेरणा की ओर ढकेल कर ले जाती है जब की अनुभूति ती है—अन्तर्वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

(स्वयं अपने-आप से पृथक्कृत मनुष्य वह चिन्तक भी होता है जो अपने रतत्व से—अर्थात्, प्राकृतिक तथा मानवीय सारतत्व से—पृथक हो गया है। एव, उसके विचार ऐसे नियत मानसिक आकार (forms) होते हैं जो प्रकृति मनुष्य से बाहर निवास करते हैं। हीगेल ने इन तमाम नियत मानसिक कारों को जोड़ कर अपने तर्कशास्त्र के अन्दर क़ैद कर दिया है—उनमे से प्रत्येक की व्याख्या पहले वह निषेध के रूप मे—अर्थात्, मानवीय विचार के परकीयकरण के रूप मे करते हैं—और फिर निषेध के निषेध के रूप मे—अर्थात्, इस परकीयकरण के निरस्तीकरण के रूप मे, मानवीय चिन्तन की वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप मे। किन्तु, यह प्रक्रिया अब भी चूँकि पृथक्करण की सीमाओ के अन्तर्गत ही घटित होती है, इसलिए इस निषेध के निषेध का अर्थ आंशिक रूप से इन्ही नियत स्वरूपो (fixed forms) की उनके पृथक्करण के ही अन्तर्गत पुन-स्थापना कर देना होता है; आंशिक रूप से उसका अर्थ, इन निर्धारित मानसिक स्वरूपों* के अस्तित्व की असली विधा के रूप मे उस अन्तिम क़दम पर—परकीय-करण के अन्तर्गत आत्म-निरीक्षण के क़दम पर—ठिठक जाना होता है, और, आंशिक रूप से, उसका अर्थ—उस हद तक जिस हद तक कि यह अमूर्तीकरण

---

* (इसका अर्थ यह है कि हीगेल जो करते हैं वह यह है कि इन नियत अमूर्ती-करणों के स्थान पर वह अमूर्तीकरण के उस कार्य को रख देते हैं जो स्वयं अपने ही चक्र के अन्दर घूमता रहता है। अतएव, उन्हें इस बात का श्रेय हमे देना चाहिये कि इन तमाम असंगत अवधारणाओ के स्रोत को, जो कि मौलिक रूप से जुदा-जुदा दार्शनिकों के नामों के साथ जुड़ी हुई थीं—उन्होंने इंगित कर दिया है; उन्हें एक जगह ला दिया है, और अमूर्तीकरण की इस सम्पूर्ण परिधि को, किसी विशिष्ट प्रकार के अमूर्तीकरण के बजाय, आलोचना के लक्ष्य के रूप में सृष्टि कर दी है।) (विचार को विचार करने वाले कर्ता से हीगेल क्यों अलग करते हैं इसे हम बाद मे देखेंगे: परन्तु, इस समय यह चीज तो स्पष्ट हो ही चुकी है कि जब मनुष्य नहीं होता तो उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति भी मानवीय नहीं हो सकती, और इसी तरह विचार को भी एक ऐसे मानवीय और प्राकृतिक कर्ता की अभिव्यंजना के रूप में नहीं समझा जा सकता जो आंखों, कानों, आदि से युक्त है, तथा समाज, संसार, और प्रकृति में निवास करता है)।—मार्क्स द्वारा लिखी गयी टिप्पणी।

स्वयं अपने-आप को समझ लेता है और अपने सम्बन्ध में एक असीम थकान का अनुभव करता है, हीगेल के दर्शन के अन्दर—प्रकृति को मूल-सत्ता के रूप में स्वीकार करने तथा अन्तःप्रेरणा की शरण में जा पहुँचने के सकल्प के रूप में—इस विचार का उदय होना होता है कि अमूर्त चिन्तन को तिलांजलि दे दी जाय—उस चिन्तन को तिलांजलि दे दी जाय जो केवल चिन्तन की ही परिधि के अन्दर, केवल उस चिन्तन की ही परिधि के अन्दर चक्कर काटता रहता है जिसके न आँखें हैं, न दाँत, न कान, न और ही कुछ।)

॥३३॥ परन्तु, प्रकृति भी, यदि उसे अमूर्त रूप में, ऐसे रूप में लिया जाय कि वह अपने ही लिए है—मनुष्य से अलग-थलग स्थित है—तो ऐसी प्रकृति मनुष्य के लिए कुछ नहीं महत्व रखती। यह बात तो बिना कहे ही स्पष्ट है कि वह अमूर्त चिन्तक, जिसने अन्तःप्रेरणा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है, प्रकृति का अन्तर्ज्ञान भी अमूर्त ढंग से ही प्राप्त करता है। जिस प्रकार कि प्रकृति परम विचार के रूप में, एक चिन्तन-सत्व (thought-entity) के रूप में, चिन्तक के अन्दर बन्द पड़ी थी—एक ऐसी शकल में बन्द पड़ी थी जो कि स्वयं उसके लिए भी अस्पष्ट तथा एक पहेली की तरह थी—उसी तरह, अपने अन्दर से बाहर निकलने की उसे छूट देकर वास्तव में उसने केवल इसी अमूर्त प्रकृति को, केवल एक चिन्तन-सत्व के रूप में प्रकृति को, बाहर निकलने की छूट दी है-बस, उसका अब यह महत्वपूर्ण चीज जुड़ गयी है कि वह चिन्तन की दूसरी-सत्ता (other-being) बन गयी है, कि वह असली, अन्तःप्रेरणा द्वारा प्राप्त की गयी प्रकृति—अमूर्त चिन्तन से भिन्न प्रकृति है। अथवा, मानवीय भाषा में बात की जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि अमूर्त चिन्तक प्रकृति के सम्बन्ध में अपनी अन्तः-प्रेरणा में यह सीखता है कि जिन सत्वों (entities) को वह शून्य (nothing) में से, शुद्ध अमूर्तीकरण (pure abstraction) के माध्यम से, पैदा करने का विचार करता था—जिन सत्वों के विषय में उसका यह विश्वास था कि उन्हें वह चिन्तन के श्रम की शुद्ध ऐसी उत्पत्तियों के रूप में—जो निरन्तर उसी के अन्दर आगे-पीछे दौड़ती रहती थीं और वास्तविकता की ओर बाहर कभी नहीं निहारती थीं—दिव्य द्वन्द्ववाद के अन्दर से पैदा कर रहा था—वे, वास्तव में, प्रकृति की विशिष्टताओं के अमूर्तीकृत रूपों (abstractions) के सिवा और कुछ नहीं हैं। अतएव, उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण प्रकृति तर्कयुक्त अमूर्तीकरणों की इन्द्रियगत, ऊपरी बाह्य रूप में मात्र पुनरावृत्ति ही करती रहती है। एक बार फिर प्रकृति को वह इन अमूर्तीकरणों में बदल देता है। इस भांति, प्रकृति के सम्बन्ध में अन्तर्ज्ञान

tuition) प्राप्त करने की उसकी क्रिया प्रकृति* सम्बन्धी अन्तःप्रेरणा से उसके र्तीकरण के पुष्टीकरण की ही प्रक्रिया है—वह अपना अमूर्त्तीकरण पैदा करने प्रक्रिया की उसके द्वारा की जाने वाली मात्र सचेत पुनरावृत्ति ही है। इस र, उदाहरण के लिए, समय अपने-आप के प्रति निर्दिष्ट निषेधात्मकता gativity) के बराबर होता है (पूर्व उद्धृत कृति,** पृष्ठ २३८)। सत्ता ing) बनने को निरस्त कर दी गयी प्रक्रिया के सदृश ही प्रकृति में भूत atter) के रूप में निरस्त कर दी गयी गतिशीलता (movement) होती है। प्रकाश (light) स्वयं में—प्रतिबिम्ब (reflection) होता है, प्राकृतिक रूप में। चाँद और पुच्छल तारे के रूप में पिण्ड (body) उस प्रतिवाद (antithesis) का प्राकृतिक रूप होता है जो कि, तर्कशास्त्र के अनुसार, एक ओर तो वह सकारात्मक तत्व (positive) है जो स्वयं अपने ऊपर टिका हुआ है और, दूसरी ओर, वह नकारात्मक तत्व (negative) जो स्वयं अपने सहारे स्थित है। प्रतिवाद, आदि को नकारात्मक एकता के रूप में, पृथ्वी तर्कयुक्त आधार (logical ground) का प्राकृतिक स्वरूप है।

प्रकृति के रूप में प्रकृति—अर्थात् जहाँ तक कि अब भी उसे ऐन्द्रिक रूप से उस गुप्त अर्थ से जो उसके अन्दर छिपा हुआ है जुदा किया जा सकता है—अलग-थलग पड़ी हुई, इन अमूर्त्तीकरणों से प्रथित प्रकृति, शून्य (nothing) है—अपने-आप को शून्य सिद्ध करने वाला एक शून्य—अर्थहीन है, अथवा वह केवल यह अर्थ रखती है कि वह एक ऐसी बाह्यता (externality) है जिसका कि उन्मूलन किया जाना आवश्यक है।

> "ससीम-औपायिक (finite teleological) स्थिति में ही यह सही पूर्वविषय प्राप्त होता है कि प्रकृति अपने अन्दर कोई परम उद्देश्य नहीं रखती।" [पृष्ठ २२५]

उसका उद्देश्य अमूर्त्तीकरण की पुष्टि करना ही होता है।

"प्रकृति ने प्रदर्शित कर दिया है कि दूसरी सत्ता के रूप में वह स्वयं

---

* पाण्डुलिपि में निम्न अंश को काट दिया गया है: "क्षण भर के लिए हम प्रकृति के सम्बन्ध में हीगेल द्वारा बतायी गयी विशिष्टताओं के तथा प्रकृति से मस्तिष्क में होने वाले संक्रमण के सम्बन्ध में विचार करें। दूसरी-सत्ता के रूप में प्रकृति ही विचार की शक्ल में पैदा हुई है। चूँकि वि(चार)..."—स०

** जौर्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हीगेल, Encyclopadie der philosophieschen Wissenschaften in Grundrisse. — स०

विचार है। चूंकि विचार इस रूप में स्वयं अपना निषेधात्मक रूप अथवा अपने लिए बाह्य चीज होता है, इसलिए इस विचार के सम्मुख प्रकृति मात्र सापेक्ष रूप से ही एक बाह्य वस्तु नहीं होती, बल्कि यह बाह्यता वह रूप है जिसमें प्रकृति की हैसियत से वह अस्तित्वशील होता है।" [पृष्ठ २२७]

बाह्यता को यहां ज्ञानेन्द्रियों के उस संसार [world of sense] के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए जो अपने-आप को अभिव्यक्त करता है और जिसे कि दृष्टि, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मनुष्य देख और अनुभव कर सकता है। उसे यहां परकीयकरण के रूप में, एक ग़लती के, एक ऐसे दोष के रूप में समझा जाना चाहिए जिसे कि क़ायम नहीं रहना चाहिए। क्योंकि जो चीज सच है वह अब भी विचार ही है। प्रकृति तो विचार के दूसरे अस्तित्व का मात्र रूप है। और चूंकि अमूर्त विचार ही सारतत्व है, इसलिए जो चीज उसके लिए बाहरी है वह अपने सारतत्व की ही दृष्टि से मात्र कोई बाह्य वस्तु है। अमूर्त चिन्तक इस बात को भी स्वीकार करता है कि स्वयं में आगे-पीछे दौड़ते रहने वाले विचार के मुकाबले में, ऐन्द्रिकता (sensuousness)—बाह्यता (externality) ही दरअसल प्रकृति का मूलतत्व है। किन्तु इस वैषम्य को वह इस प्रकार व्यक्त करते हैं जिससे कि प्रकृति की यह बाह्यता, विचार से उसकी विपरीतता, उसका दोष बन जाती है जिससे कि—प्रकृति—चूंकि वह अमूर्तीकरण से भिन्न होती है, एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो दोषपूर्ण है ॥३४॥ एक ऐसा सत्व—जो न केवल मेरे लिए, अथवा मेरी दृष्टि में ही दोषपूर्ण है, बल्कि अपने-आप में—आन्तरिक रूप से भी—दोषपूर्ण है: वह अपने से बाहर जरूर ऐसी कोई चीज रखता है जिसका उसमें अभाव है। अर्थात्, उसका मूलतत्व स्वयं ही उससे भिन्न है। इसलिए, अमूर्त (या निरपेक्ष —अनु०) चिन्तक के लिए आवश्यक है कि प्रकृति स्वयं अपने-आप को निरस्त कर ले, क्योंकि एक सम्भावित रूप से निरस्त कर दी गयी सत्ता के रूप में पहले से ही वह उसकी स्थापना कर चुके हैं।

> "हमारे लिए, मस्तिष्क का पूर्वावयव (premise) प्रकृति है, क्योंकि वही प्रकृति का सत्य और, इसी कारण, उसकी परम सत्ता (absolute prius) है। इस सत्य में प्रकृति का विलोप हो गया है, और स्वयं-अपने लिए आ पहुंचे विचार के रूप में मस्तिष्क की उत्पत्ति हो गयी है, जिसकी कि लक्षित वस्तु और जिसका कि कर्त्ता भी, अवधारणा (concept) है। यह एकात्मता (identity) पूर्ण निषेधात्मकता (absolute negativity) है, क्योंकि प्रकृति में तो इस अवधारणा की पूरे तौर से

सही बाह्य वस्तुगतता होती है, किन्तु यहाँ, इसमें उसके परकीयकरण को निरस्त कर दिया गया है, और इस परकीयकरण में अवधारणा स्वयं अपने साथ एकात्म (identical) हो गयी है। किन्तु. इसीलिए, यह एकात्मता इस चीज़ में निहित होती है कि वह प्रकृति से ही वापस लौटी है।" (पृष्ठ ३६२)

"अमूर्त्त विचार के रूप में, प्रकटीकरण (revelation) प्रकृति की ओर बिना किसी मध्यस्थता के संक्रमण को, प्रकृति के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया होता है; मस्तिष्क के, जो कि निर्बन्ध है, प्रकटीकरण के रूप मे वह प्रकृति को मस्तिष्क के संसार के रूप मे स्थापना करना होता है—ऐसी स्थापना करना जो कि, प्रतिबिम्ब होने के कारण, साथ ही साथ, स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वशील प्रकृति के रूप में, संसार की पूर्व-कल्पना करना होता है। अवधारणा के रूप मे प्रकटीकरण करने का अर्थ मस्तिष्क की सत्ता के रूप में प्रकृति की इस तरह सृष्टि करना होता है जिसमे कि मस्तिष्क अपनी पुष्टि करता है तथा अपनी स्वतन्त्रता की सच्चाई को प्राप्त करता है।" "परम मस्तिष्क है। परम की यही सर्वोच्च परिभाषा है।" (पृष्ठ ३६३, ३६४) ।३४।।

अप्रैल और अगस्त
१८४४ के बीच लिखित।
पूर्ण रूप से सर्वप्रथम
मार्क्स-एंगेल्स की "सम्पूर्ण ग्रंथावली"
(Gesamtausgabe) में १६३२ मे प्रकाशित

पाण्डुलिपि के
अनुसार मुद्रित
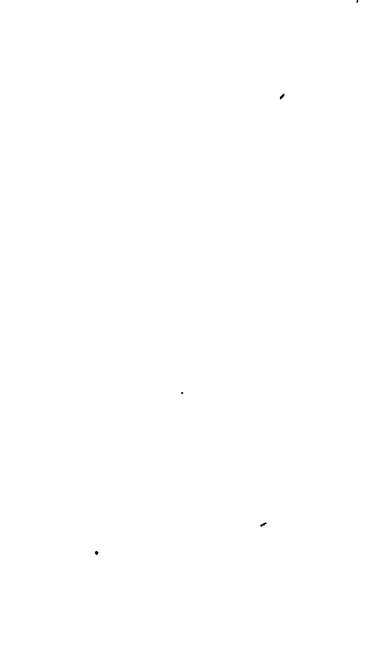
परिशिष्ट

राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की एक रूपरेखा

लेखक : फ्रेडरिक एंगेल्स*

(मैन्चेस्टर में)

राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्म व्यापार के विस्तार के स्वाभाविक परिणाम के रूप में हुआ, और उसके उदय के साथ ही मानव की प्राथमिक, अवैज्ञानिक सौदेबाजी (या अदला-बदली—अनु०) व्यवस्था की जगह धोखा धड़ी की लाइसेन्स-शुदा एक विकसित व्यवस्था ने, पैसा कमाने के एक पूरे विज्ञान (entire science of enrichment) ने ले ली।

व्यापारियों की आपसी ईर्ष्या और लोलुपता से उत्पन्न इस राजनीतिक अर्थशास्त्र के, अथवा पैसा बटोरने के विज्ञान के माथे पर खुदगर्ज़ी की अत्यन्त घिनौनी छाप लगी हुई है। लोगों का अब भी यह सरल विश्वास था कि सोना और चाँदी ही धन थे, और इसलिए दूसरे किसी भी काम को इससे अधिक आवश्यक वे नहीं समझते थे कि इन "बहुमूल्य" धातुओं के निर्यात पर हर जगह रोक लगा दी जाय। तमाम राष्ट्र, रुपये की अपनी बहुमूल्य थैलियों को अपनी छातियों से चिपकाये हुए और अपने पड़ोसियों को ईर्ष्या और अविश्वास के भाव से घूरते हुए, महा लोभियों की तरह एक दूसरे का सामना करते थे। जिन राष्ट्रों के साथ व्यापार होता था उन्हें लालच देकर उनसे अधिक से अधिक सम्भव नक़द रुपया हासिल करने के लिए और जिस रुपये को खुशकिस्मती से बटोर लिया गया था उसे चुंगी की सीमाओं के अन्दर सुखपूर्वक रखे रहने के लिए हर कल्पनीय उपाय का प्रयोग किया जाता था।

इस सिद्धान्त को यदि सख्ती से लागू किया गया होता तो व्यापार का अन्त हो जाता। इसलिए लोगों ने इस पहली मंज़िल से आगे बढ़ना शुरू कर दिया। वे इस बात को समझने लगे कि तिजोरी में बन्द पूँजी मरी हुई पूँजी होती है और जो पूँजी परिचलन में होती है वह लगातार बढ़ती रहती है। तब वे और अधिक समाज-प्रेमी बन गये, उन पक्षियों की तरह जो दूसरी चिड़ियों को फँसाकर ले आते हैं उन्होंने अपने ड्यूकटों (एक प्राचीन स्वर्ण मुद्रा। एक

तरह कि अमूर्त भौतिकवाद को अमूर्त अध्यात्मवाद के विरुद्ध, गणतन्त्र को एकतन्त्र के विरुद्ध, सामाजिक सम्विदे (करार (social contract) को दैवी अधिकार (divine right) के विरुद्ध खड़ा कर दिया गया था—उसी तरह आर्थिक क्रान्ति भी प्रतिवाद की दुनिया से आगे न बढ़ सकी। पूर्वावयव (premises) सब जगह वही बने रहे : भौतिकवाद ने मनुष्य के प्रति ईसाइयों की तिरस्कार और अपमान की भावना पर प्रहार नहीं किया, और ईसाई ईश्वर के स्थान पर, मनुष्य के मुकाबले में खड़ी परम सत्ता के रूप में, मात्र प्रकृति को उसने सिंहासनारूढ़ कर दिया। राजनीति में स्वप्न में भी किसी के दिमाग़ में यह विचार नहीं आया कि राज्यसत्ता के असली पूर्वावयवों (premises of the state) की जाँच-पड़ताल की जाय। अर्थशास्त्र को इस बात का ख्याल नहीं आया कि वह निजी सम्पत्ति की वैधता (validity of private property) के विषय में कोई प्रश्न करे। इसलिए नया अर्थशास्त्र प्रगति की ओर केवल आधा क़दम (half an advance) था। वह इस बात के लिए विवश हुआ कि स्वयं अपने पूर्वावयवों के साथ विश्वासघात करे और उन्हें अनङ्गीकार करे; जिन अन्तर्विरोधों में वह जा फँसा था उन पर पर्दा डालने के लिए कुतर्किता (sophistry) तथा पाखण्ड का सहारा ले—जिससे कि वह उन निष्कर्षों पर पहुच सके जिन पर पहुचने के लिए अपने पूर्वावयवों के आधार पर नहीं, बल्कि शताब्दी की मानवीय भावना (humane spirit of the century) के कारण वह मजबूर था। इस प्रकार, अर्थशास्त्र ने परोपकारिता का जामा पहन लिया। उत्पादकों पर से अपनी कृपादृष्टि उसने हटा ली और उसकी वर्षा उपभोक्ताओं पर करने लगा। झूठ-मूठ वह यह दिखलाने की कोशिश करने लगा कि वाणिज्यिक व्यवस्था के खूनी आतंक से उसे जबर्दस्त घृणा थी। उसने घोषणा की कि व्यापार को तो राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच मैत्री और एकता की कड़ी होना चाहिए। सब कुछ सर्वथा निर्मल रूप से भव्य और देदीप्यमान था—इसके बावजूद, जल्दी ही, पूर्वावयवों ने पुनः अपनी शक्ति प्रदर्शित करनी शुरू कर दी और इस झूठी परोपकारिता के मुक़ाबले में उन्होंने माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धांत को पैदा कर दिया। यह सिद्धांत अब तक जितने भी सिद्धान्त हुए हैं उनमें सबसे उजड्ड और बर्बर सिद्धांत था, निराशा का ऐसा सिद्धान्त जिसने विश्व मैत्री, और विश्व नागरिकता के सभी सुन्दर और रंग-भरे शब्द-प्रसादों को ध्वस्त कर दिया। उक्त पूर्वावयवों ने कारखानों की व्यवस्था (फैक्टरी प्रणाली) तथा आधुनिक दासता की उस व्यवस्था को जन्म दिया और उसे पाल-पोस कर बड़ा किया जो अमानुषिकता और क्रूरता में प्राचीन दासता की व्यवस्था से किसी भी तरह पीछे-

नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्र की व्यवस्था ने एडम स्मिथ की कृति, "राष्ट्रों की धन सम्पदा"* पर आधारित मुक्त व्यापार की व्यवस्था ने—ज़ाहिर कर दिया है कि वह स्वयं भी उसी धूर्तता, असंगतता तथा अनैतिकता के रंग में रंगी हुई है जो हर क्षेत्र में मुक्त मानवजाति का आज पीछा कर रही है।

तब क्या, स्मिथ की व्यवस्था आगे की ओर ले जाने वाला एक क़दम नहीं थी ? निस्सन्देह, वह थी; और आगे की ओर ले जाने वाला आवश्यक क़दम थी। उसकी इजारेदारियों, तथा व्यापार के मार्ग में उसके द्वारा पैदा की जाने वाली रुकावटों के साथ ही इस वाणिज्यिक व्यवस्था को उखाड़ कर फेंक देना इसलिए आवश्यक हो गया था जिससे कि निजी सम्पत्ति के वास्तविक परिणाम सबके सामने स्पष्ट रूप से आ जायें। आवश्यक हो गया था कि सारी की सारी निकृष्ट स्थानीय और राष्ट्रीय स्वार्थों की बातें सामने से हट जाय जिससे कि हमारे युग का संघर्ष एक सार्वलौकिक मानवीय संघर्ष बन जाय। आवश्यक हो गया था कि निजी सम्पत्ति का सिद्धान्त केवल वस्तुगत जाच-पड़ताल के पूर्णतया अनु भव-सिद्ध मार्ग का परित्याग कर दे और एक ऐसे अधिक वैज्ञानिक मार्ग को ग्रहण क जो कि उसे उसके परिणामों के लिए भी उत्तरदायी बना दे और, इस प्रकार, प्रश्न क सार्वलौकिक मानवीय क्षेत्र के धरातल पर स्थानान्तरित कर दे। आवश्यक हो गया था कि पुराने अर्थशास्त्र में अनैतिकता की जो भावना छिपी हुई थी उसे, उससे इन्का करने की कोशिश करके और उसमें (इस कोशिश के अनिवार्य परिणाम के रूप में धूर्तता का पुट दे कर—उसकी पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया जाय। यह स समस्या की प्रकृति में ही निहित था। इस बात को हम सहर्ष स्वीकार करते कि वह चीज़ जिसने निजी सम्पत्ति के अर्थशास्त्र से आगे जाने की क्षमता ह प्रदान की है मुक्त व्यापार का औचित्य-प्रदर्शन तथा उसका कृतित्व ही है; परन्तु साथ ही साथ, इस बात का भी अधिकार हमें है कि इस मुक्त व्यापार की निष सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक निष्फलता का भी हम पर्दाफ़ाश कर दें।

जिन अर्थशास्त्रियों के बारे में हमें निर्णय करना है वे हमारे युग के जित ही अधिक समीप हैं उतना ही अधिक उनके बारे में हमारा निर्णय कठोर होन चाहिए। क्योंकि, स्मिथ और माल्थस को तो इस व्यवस्था के बिखरे हुए टु टुकड़े ही देखने को मिले थे, किन्तु इन आधुनिक अर्थशास्त्रियों के सामने तो पू व्यवस्था का पूरा नक्शा ही मौजूद था : नतीजे सब निकाले जा चुके थे; अन्

---

* एडम स्मिथ, "राष्ट्रों की धन-सम्पदा के स्वरूप तथा कारणों की जां पड़ताल"।—सं०

विरोध काफ़ी स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ गये थे, इसके बावजूद, उन्होंने पूर्वावयवों की जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं समझी और फिर भी पूरी व्यवस्था की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ओढ़ ली। वर्तमान काल के जितना ही अधिक नज़दीक ये अर्थशास्त्री आते हैं, उतना ही अधिक दूर ईमानदारी के मार्ग से वे हटते चले जाते हैं! समय की प्रगति के हर कदम के साथ-साथ कुतर्किता की मात्रा में अनिवार्य रूप से वृद्धि हो जाती है जिससे कि अर्थशास्त्र समय से पीछे न पड़ जाय! यही कारण है जिससे कि, उदाहरण के लिए, रिकार्डो एडम स्मिथ से अधिक दोषी पाये जाते हैं, और मैक्कुलोच तथा मिल रिकार्डो से भी अधिक बड़े अपराधी सिद्ध होते हैं।

वाणिज्यिक व्यवस्था के विषयों में भी आधुनिक अर्थशास्त्र के आधार पर सही-सही फ़ैसला नहीं किया जा सकता, क्योंकि आधुनिक अर्थशास्त्र स्वयं एकपक्षी है और अभी तक उसी व्यवस्था के पूर्वावयवों के बोझ से लदा हुआ है। केवल वही दृष्टिकोण दोनों को उनके उचित स्थान पर रख सकता है जो दोनों व्यवस्थाओं के विरोध से ऊपर उठ सके, जो दोनों के सामान्य पूर्वावयव की आलोचना करे और स्थिति पर शुद्ध रूप से मानवीय, सार्वलौकिक आधार पर विचार करे। यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मुक्त व्यापार के हिमायती स्वयं पुराने वाणिज्यवादियों से कहीं अधिक पक्के इजारेदार हैं। यह भी स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों की दिखावटी मानवता के अन्दर ऐसी बर्बरता छिपी हुई है जिससे कि उनके पूर्वज सर्वथा अपरिचित थे, कि पुराने अर्थशास्त्रियों की विचार-सम्बन्धी भ्रान्ति उन पर हमला करने वाले लोगों की दोमुँही तार्किकता की तुलना में कहीं अधिक सरल और सुसंगत है, और दोनों गिरोहों में से कोई भी दूसरे पर ऐसा कोई दोषारोपण नहीं कर सकता जो उलट कर स्वयं उस पर न लग जाय।

यही कारण है कि आधुनिक उदारपंथी अर्थशास्त्री वाणिज्यिक व्यवस्था की पुनः स्थापना करने के उस प्रयास को नहीं समझ सकते जो लिस्ट ने किया था, जबकि हमारे सामने बात बिल्कुल स्पष्ट है। उदारवादी अर्थशास्त्र में जो असंगतता तथा दोहरापन है उसका पुनः उसके मूलभूत उपांगों (संघटकों—अनु०) में विघटित हो जाना अनिवार्य है। जिस तरह कि ईश्वरीय ज्ञान के लिए आवश्यक होता है कि या तो वह और पीछे हटकर अन्धविश्वास का रूप ग्रहण कर ले, या फिर आगे बढ़कर स्वतन्त्र दर्शन (free philosophy) बन जाय, ठीक उसी तरह मुक्त व्यापार के लिए भी आवश्यक होता है कि एक तरफ़ तो इजारेदारियों की वह पुनः स्थापना करे और दूसरी तरफ़ निजी सम्पत्ति का अन्त करे।

उदारवादी अर्थशास्त्र ने जो एकमात्र निश्चयात्मक प्रगति की है वह यह है कि निजी सम्पत्ति के नियमों का उसने सविस्तार निर्धारण कर दिया है। यद्यपि अभी तक इन नियमों का पूर्ण रूप से विस्तरण नहीं किया गया है और न स्पष्ट ढंग से उन्हें प्रस्तुत ही किया जा सका है, फिर भी वे उसमें मौजूद हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन सभी बातों के सन्दर्भ में, जिनका सम्बन्ध इस प्रश्न का निर्णय करने से है कि धन कमाने का सबसे नज़दीकी रास्ता कौन है—अर्थात्, सभी शुद्ध रूप से आर्थिक विवादों के सन्दर्भ में—सच्चाई मुक्त व्यापार के पक्ष-पोषकों की ही तरफ़ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बात उन बहसों के सम्बन्ध में ही सही है जो इजारेदारों के साथ होती हैं—निजी सम्पत्ति के विरोधियों के साथ होने वाली बहसों के सम्बन्ध में नहीं—क्योंकि अंग्रेज समाजवादी इस बात को व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों ही ढंग से बहुत पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि आर्थिक दृष्टिकोण से भी आर्थिक प्रश्नों को अधिक सही ढंग से तय कर लेने की क्षमता वे रखते हैं।

अतः, राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में हम मूल-कोटियों (basic categories) की जांच-पड़ताल करेंगे, मुक्त व्यापार की व्यवस्था ने जो अन्तर्विरोध पैदा कर दिया है उसको उजागर करेंगे, और इस अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं के परिणामों को सामने लायेंगे।

राष्ट्रीय सम्पदा का शब्द केवल उदारवादी अर्थशास्त्रियों के उस उत्कट उत्साह के फलस्वरूप ही पैदा हुआ है जो उनके दिल में सामान्यीकरण (generalisation) के लिए है। निजी सम्पत्ति जब तक बनी हुई है, तब तक यह शब्द कोई अर्थ नहीं रखता। अंग्रेजों की "राष्ट्रीय सम्पदा" बहुत अधिक है, किन्तु इसके बावजूद, वे दुनिया के सबसे ग़रीब लोग हैं। आदमी को या तो इस पारिभाषिक शब्द (term) का पूरे तौर से परित्याग कर देना चाहिए या फिर ऐसे पूर्वाविषयों को स्वीकार कर लेना चाहिए जिनसे उसे अर्थ प्राप्त हो जाय। ठीक यही स्थिति राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक, अथवा सार्वजनिक अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित शब्दावलियों की है। वर्तमान परिस्थितियों में उक्त विज्ञान को निजी अर्थ व्यवस्था की संज्ञा दी जानी चाहिए, क्योंकि उसके सार्वजनिक सम्बन्ध केवल निजी सम्पत्ति के ही हित में अस्तित्व रखते हैं।

निजी सम्पत्ति का तात्कालिक परिणाम व्यापार—पारस्परिक आवश्यकता की वस्तुओं का विनिमय—खरीद-फ़रोख्त (क्रय-विक्रय) होता है। प्रत्येक काम

की तरह, निजी सम्पत्ति के आधिपत्य मे होने वाले व्यापार के इस कार्य को भी व्यापारी के लिए लाभ का प्रत्येक स्रोत बन जाना चाहिए; अर्थात् हर एक को कोशिश करनी चाहिए कि वह अधिक से अधिक मँहगे भाव पर बेचे और अधिक से अधिक सस्ते भाव से खरीदे। अतएव क्रय और विक्रय के प्रत्येक सौदे के समय दो ऐसे व्यक्ति एक दूसरे का सामना करते हैं जिनके स्वार्थ पूर्णतया एक दूसरे के विरुद्ध हैं। यह सामना निश्चित रूप से विरोधपूर्ण होता है, क्योंकि उनमे से प्रत्येक दूसरे को मनोकामनाओ को जानता है—इस बात को जानता है कि वे स्वय उसकी मनोकामनाओं के विरुद्ध है। अतः, इसका पहला परिणाम यह होता है कि एक ओर तो पारस्परिक अविश्वास की भावना पैदा हो जाती है; और, दूसरी ओर, अविश्वास की इस भावना के औचित्य-समर्थन के रूप मे—अनैतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए अनैतिक साधनो का इस्तेमाल किया जाता है। इस भाँति, व्यापार का पहला नियम होता है गोपनीयता—उस हर चीज को छिपाना जो सम्बन्धित वस्तु के मूल्य को घटा दे सकती है। फलस्वरूप, व्यापार मे इस बात की छूट होनी है कि कि विरोधी पार्टी की अजानकारी, उसके विश्वास का अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय और, इसी प्रकार, अपने माल को ऐसे गुणो से सम्पन्न बताया जाय जो उसमें हैं नही। एक शब्द मे कहा जाय तो, व्यापार क़ानून-सम्मत धोखा धड़ी (legalised fraud) है। कोई भी व्यापारी जो सत्य कहने के लिए तैयार है मेरी इस बात के पक्ष मे गवाही देगा कि वास्तविक अमल इसी सिद्धात के अनुरूप होता है।

वाणिज्यिक व्यवस्था (Mercantile system) मे एक प्रकार की कला-हीन उदारमना साफ़-दिली थी और व्यापार के अनैतिक स्वरूप पर पर्दा डालने की उसमें जरा भी कोशिश नहीं होती थी। हम देख चुके हैं कि अपनी कुत्सित लोलुपता को किस तरह वह खुले आम प्रदर्शित करती थी। अठारहवी शताब्दी मे राष्ट्रों के बीच एक दूसरे के विरुद्ध शत्रुता, वीभत्स डाह तथा व्यावसायिक ईर्ष्या की जो भावना पायी जाती थी वह स्वयं व्यापार का ही स्वाभाविक परिणाम थी। जनमत अभी तक मानवीय नही बन पाया था। तब फिर उन अमानवीय, शत्रुतापूर्ण चीजो को क्यों छिपाया जाय जो स्वय व्यापार के गर्भ से उत्पन्न होती थीं?

परन्तु जब अर्थशास्त्री लूथर*—एडम स्मिथ ने पुराने अर्थशास्त्र को आलो-

---

* देखिए: कार्ल मार्क्स, "अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियां।" इस पुस्तक का पृष्ठ ११६। —स०

दाद को नहीं क्या हमने घटा दिया है ?" हां, यह सब आपने किया है—किन्तु ये। छोटी-छोटी इजारेदारियों को आपने नष्ट कर दिया है जिससे कि व बड़ी बुनियादी इजारेदारी, सम्पत्ति, और भी अधिक खुलकर तथा अप्रति-बन्ध रूप से अपना खेल दिखला सके। दुनिया के कोने-कोने को आपने सभ्य र दिया है—जिससे कि अपनी घिनौनी लोलुपता के लिए और भी नये-नये खण्डों पर आप कब्जा कायम कर लें ! भाई-चारे की भावना आपने स्थापित है—परन्तु यह भाई-चारा चोरों के बीच का भाई-चारा है। युद्धों की सख्या आपने घटा दिया है—ताकि शांति की स्थिति में आप और भी अधिक मुनाफे ा सकें, व्यक्तियो के बीच की शत्रुता को, प्रतियोगिता के शर्मनाक युद्ध को र अधिक से अधिक और तेज कर दें ! शुद्ध मानवता की भावना से प्रेरित र, इस भावना की चेतना से प्रेरित होकर कि सर्वसामान्य तथा व्यक्ति के तों के बीच का विरोध व्यर्थ है—आपने कब कोई काम किया है ? बिना ो चीज़ मे दिलचस्पी रखे हुए, बिना अनैतिक स्वार्थी उद्देश्यो को मस्तिष्क ...छेरा कर रखे हुए—कब आपने कोई नैतिक कार्य किया है ?

राष्ट्रों को विघटित करके उदारवादी आर्थिक व्यवस्था ने शत्रुता की भावना को सार्वदेशिक बनाने की, मानव-जाति को ऐसे भूखे लोलुप जानवरों के गिरोह में बदल देने की (क्योंकि प्रतियोगी इसके सिवा और होते ही क्या हैं ?) भरसक कोशिश की है जो—केवल इसलिए कि उनमे से हर एक के हित अन्य सब लोगों के ही हितों जैसे हैं, एक दूसरे को फाड़ कर खा जाते हैं। तैयारी के इस प्रारम्भिक काम के बाद लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सिर्फ एक ही क़दम शेष रह गया था कि परिवार के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ ! इस कार्य को सम्पन्न करने में अर्थ व्यवस्था के स्वयं अपने ही सुन्दर अविष्कार—फैक्टरी व्यवस्था ने उसको सहायता की। सामान्य हितों के अन्तिम अवशेष, परिवार के पास मौजूद मालों के सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था की जड़ें फैक्टरी व्यवस्था ने खोद दी है और—कम से कम यहां इंगलिस्तान में—वह विघटन की प्रक्रिया से गुजर रही है। बच्चों के लिए, ज्योंही वे काम करने लायक हो जाते हैं (अर्थात् ज्योंही वे नौ वर्ष की अवस्था में पहुंच जाते हैं), आम प्रथा यह बन गयी है कि अपनी मजदूरी को वे स्वयं खर्च करते हैं, अपने मां-बाप के घर को वे मात्र एक बोर्डिंग हाउस समझते हैं, और खाने तथा रहने के खर्चे के एवज़ में अपने मां-बाप को वे एक निश्चित रकम दे देते हैं। इससे भिन्न और हो ही क्या सकता है ? स्वार्थी के, जो मुक्त व्यापार की व्यवस्था का मूलाधार हैं, अलग-अलग हो जाने का परिणाम और क्या हो सकता है ? एक बार कोई सिद्धांत जब काम करने लगता

है तब—स्वयं अपने सम्वेग से बढ़कर, अपने सभी परिणामों को वह सामने ला देता है—अर्थशास्त्री इसे पसन्द करें या न करें।

किन्तु, अर्थशास्त्री तो स्वयं इस बात को नहीं जानता कि वह किस उद्देश्य की पूर्ति का साधन बना हुआ है। इस बात को वह नहीं जानता कि उसकी सारी अहंवादी तार्किकता के बावजूद, मानव-जाति की सार्वलौकिक प्रगति की शृंखला की मात्र वह एक कड़ी होता है। वह इस बात को नहीं जानता कि समस्त आंशिक हितों (sectional interests) का उन्मूलन करके वह केवल उस महान् रूपान्तरण के लिए ही मार्ग प्रशस्त करता है जिसकी ओर यह शताब्दी आगे बढ़ रही है—प्रकृति और स्वयं अपने साथ मानव-जाति के सामंजस्य की पुनर्स्थापना की ओर।

दूसरी जिस कोटि की स्थापना व्यापार ने की है वह है मूल्य (value) इस कोटि के सम्बन्ध में प्राचीन और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के बीच कोई विवाद नहीं है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि अन्य समस्त कोटियों के सम्बन्ध में भी नहीं है – क्योंकि, धनाढ्य बन जाने के लिए पागलों जैसे अपने उन्माद के कारण इजारेदारों के पास कोटियों के सम्बन्ध में सोच-विचार करने के लिए कोई समय शेष नहीं था। इस प्रकार के बिन्दुओं के सम्बन्ध में सारी बहसें आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा ही शुरू की गयी हैं।

उस अर्थशास्त्री का भी, जो प्रतिवादों के सहारे जिन्दा रहता है, दोहरा मूल्य होता है – निरपेक्ष (abstract) अथवा वास्तविक (real) मूल्य तथा विनिमय मूल्य (exchange value)। वास्तविक मूल्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसी "से" के बीच एक लम्बा झगड़ा चला था: अंग्रेज उत्पादन के खर्च (लागत—अनु०) को वास्तविक मूल्य की अभिव्यक्ति मानते थे और "से" उपयोगिता के ऊपर जोर देकर यह कहते थे कि इस मूल्य की नाप-जोख वस्तु की उपयोगिता के आधार पर ही की जा सकती है। शताब्दी के आरम्भ से यह झगड़ा [illegible] अधर में लटकता रहा था—फिर यह बिना किसी निर्णय के ही शान्त हो गया था। अर्थशास्त्री कोई भी चीज तय नहीं कर पाते।

उदाहरण के लिए, अंग्रेज—विशेष रूप से मैक्कुलोच और रिकार्डो—ज़ोर-शोर से कहते हैं कि किसी वस्तु का निरपेक्ष मूल्य उत्पादन के खर्च से तय होता । ध्यान से सुनिए, वे कहते हैं कि निरपेक्ष मूल्य—विनिमय मूल्य, विनिमय-वाचक

मूल्य,* विनिमय के दौरान मूल्य (value in exchange) नहीं—बिल्कुल दूसरी ही चीज है। मूल्य का माप उत्पादन का खर्च क्यों होता है? क्योंकि—इसे सुनिए! —क्योंकि साधारण परिस्थितियों के अन्तर्गत, तथा प्रतियोगिता की परिस्थितियों के अलावा अन्य परिस्थितियों में, कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को उसके उस खर्चे से कम में नहीं बेचेगा जो उसे पैदा करने में उसे करना पड़ता है। बेचेगा? 'बेचने' से हमें यहाँ क्या लेना-देना है, जबकि विनिमय के दौरान मूल्य (value in exchange) का यह कोई प्रश्न ही नहीं है? इस तरह हम फिर उसी व्यापार के पास आ पहुंचते हैं जिसे धता बताने की हमें खास तौर से ताकीद की गयी है—और वह भी कैसे व्यापार के पास? ऐसे व्यापार के पास जिसके कि आधार-भूत कारक पर, प्रतियोगिता के कारक पर, बिल्कुल ही विचार नहीं किया जाना है! पहले, निरपेक्ष मूल्य; अब व्यापार भी निरपेक्ष—ऐसा व्यापार जिसमें प्रतियोगिता न हो, अर्थात् गो उस आदमी की तरह हो जिसके शरीर नहीं है, उस विचार जैसा जिसे पैदा करने वाला मस्तिष्क न हो! और अर्थशास्त्री क्या इस चीज पर विचार करने के लिए कभी नहीं ठिठकता कि व्यापार में से ज्योंही प्रतियोगिता को निकाल दिया जायेगा त्योंही इस बात की भी कोई गारंटी नहीं रह जायगी कि उत्पादन करने वाला माल को इतने मूल्य पर बेच सके जो उसके उत्पादन के खर्चे के बराबर हो? यह कैसा गड़बड़झाला है।

इसके अलावा: आइए क्षण-भर के लिए मान लें कि हर चीज ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि अर्थशास्त्री कहता है कि वह है। मान लीजिए कि कोई किसी सर्वथा निरर्थक वस्तु का, ऐसी वस्तु का अपार शक्ति लगा कर तथा भारी व्यय कर के उत्पादन करता है, जिसे कि कोई नहीं चाहता—तो क्या वह भी उसके उत्पादन व्यय के मूल्य के बराबर होगी? अर्थशास्त्री कहता है: कदापि नहीं; उसे कौन खरीदना चाहेगा? इस भांति अचानक हम फिर न केवल 'से'' के उपयोगिता के अत्यधिक निन्दित सिद्धांत पर आ पहुंचे हैं, बल्कि, उसी के साथ-साथ, 'खरीदने'' की, अर्थात् प्रतियोगिता की भी स्थिति पर पहुंच गये हैं। अर्थशास्त्री अपने अमूर्तन (abstraction) को अपनी बात पर एक क्षण भी नहीं टिका सकता, यह सम्भव नहीं है। न केवल प्रतियोगिता, जिसका कि वह भरसक परिश्रमपूर्वक बहिष्कार कर देना चाहता है, बल्कि वह उपयोगिता की बात भी, जिस पर वह प्रहार करता है, हर क्षण सामने आकर खड़ी

---

* Exchangeable Value (विनिमय-योग्य मूल्य)—इस अंग्रेजी पद को एंगेल्स ने ही उद्धृत किया है।—सं०

हो जाती है। निरपेक्ष मूल्य और उत्पादन व्यय के आधार पर किया जाने वाला उसका निर्धारण, आखिर तो, केवल अपकर्षण ही है, ऐसी ही वस्तुएँ हैं जिनका कहीं अस्तित्व नहीं है।

किन्तु, क्षण भर के लिए आइए एक बार फिर हम मान लें कि अर्थशास्त्री की बात सही है—तब फिर, प्रतियोगिता की बात पर विचार किये बिना, उत्पादन के खर्चे का हिसाब कैसे वह लगायेगा ? उत्पादन के खर्चे की जब हम जाच-पडताल करेंगे तब हम देखेंगे कि यह कोटि भी प्रतियोगिता पर आधारित है। यहां फिर एक बार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्री अपने दावों को कितना कम प्रमाणित कर पाता है।

यदि हम "से" की बात पर विचार करें तो उसमें भी हमें उसी अपकर्षण के दर्शन होते हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता शुद्ध रूप से एक मनोगतवादी वस्तु है, ऐसी वस्तु जिसे कि पूरे तौर से निर्धारित नहीं किया जा सकता और जिसे कम से कम तब तक तो बिल्कुल ही निर्धारित नहीं किया जा सकता जब तक कि आदमी प्रतिवादों के बियाबान में विचरता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, जीवन की आवश्यकताओं का मूल्य विलासिता की वस्तुओं की अपेक्षा अवश्य अधिक होना चाहिए। किसी वस्तु की उपयोगिता अधिक है या कम—इसके विषय में—निजी सम्पत्ति के आधिपत्य की परिस्थितियों में—न्यूनाधिक वस्तुगत, प्रत्यक्षतया सामान्य निर्णय केवल प्रतियोगिता के ही आधार पर किया जा सकता है; और, इसके बावजूद, ठीक इसी चीज को अनदेखा करने की सलाह दी जा रही है। परन्तु यदि प्रतियोगिता की सत्ता को स्वीकार कर लिया जाता है तो उत्पादन के खर्चे का प्रश्न भी सामने आ जाता है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति उसमे कम में नहीं बेचेगा जो उसने स्वयं उत्पादन में लगाया है। इस प्रकार, यहां भी, विरोध का एक पक्ष अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने दूसरे पक्ष में बदल जाता है।

आइए, इस गड़बड़-घुटाले के अन्दर हम कुछ स्पष्टता लाने की कोशिश करें। प्रत्येक वस्तु के मूल्य में दोनों घटक (factors) शामिल होते हैं, विरोधी पक्ष के लोग मनमाने ढंग से उन्हें जुदा कर देते हैं—और जैसा कि हम देख चुके हैं, इस काम में वे सफल भी नहीं होते। मूल्य वह सम्बन्ध है जो उत्पादन-व्यय (Production costs) का उपयोगिता (utility) के साथ होता है। मूल्य का उपयोग, सर्वप्रथम यह निर्णय करते समय होता है कि सम्बन्धित वस्तु का उत्पादन किया जाय या नहीं, अर्थात्, यह निर्णय करते समय कि उसकी उपयोगिता उत्पादन-व्यय के बराबर होती या नहीं। विनिमय के मूल्य के उपयोग की

बात तो केवल इसके बाद ही की जा सकती है। दो वस्तुओं का उत्पादन-व्यय यदि बराबर है तो उनके तुलनात्मक मूल्य का निर्धारण करने मे निर्णायक कारक उपयोगिता ही होगी।

यह आधार ही विनिमय का एकमात्र न्यायपूर्ण आधार है। परन्तु यदि इस आधार पर कोई चलता है तो वस्तु की उपयोगिता के विषय में निर्णय कौन करेगा? उसका निर्णय क्या केवल सम्बन्धित पक्षों के मत के आधार पर होगा? वैसी हालत में तो एक न एक पक्ष अवश्य ही ठग लिया जायगा। अथवा क्या हम यह मान लें कि उसका निर्धारण, सम्बन्धित पक्षो से स्वतन्त्र रूप से, तथा उनके लिए अस्पष्ट बना रहते हुए भी, वस्तु की अन्तर्निहित उपयोगिता के आधार पर होता है? यदि बात ऐसी ही है, तब तो विनिमय का काम केवल जोर-जबर्दस्ती के आधार पर ही हो सकता है, और प्रत्येक पक्ष यह समझेगा कि उसे ठग लिया गया है। किसी वस्तु की वास्तविक अन्तर्निहित उपयोगिता तथा उस उपयोगिता के निर्धारण के बीच के अन्तर्विरोध का, उपयोगिता के निर्धारण तथा जो लोग विनिमय करते हैं उनकी स्वतंत्रता के बीच के अन्तर्विरोध को तब तक नहीं मिटाया जा सकता जब तक कि निजी सम्पत्ति को न मिटा दिया जाय; और एक बार जब यह निजी सम्पत्ति मिट जायगी तब फिर जिस रूप मे विनिमय आज होता है उसका कोई प्रश्न ही नही रह जायगा। मूल्य की अवधारणा का व्यावहारिक उपयोग अधिकाधिक मात्रा मे तब उत्पादन के सम्बन्ध मे निर्णय करने के क्षेत्र तक सीमित होता जायगा, और उसका वही उचित स्थान है।

परन्तु इस समय क्या स्थिति है? हम देख चुके हैं कि मूल्य की अवधारणा को भंग करके बुरी तरह से छिन्न-विच्छिन्न कर दिया गया है और प्रत्येक पृथक पक्ष को पूर्ण (whole) घोषित कर दिया गया है। प्रतियोगिता द्वारा प्रारम्भ से ही विकृत कर दी गयी उत्पादन की लागत को ही मूल्य मान लिया गया है। यही स्थिति मात्र मनोगतवादी उपयोगिता के सम्बन्ध म है—क्योंकि और किसी प्रकार की उपयोगिता का अस्तित्व वर्तमान काल मे हो ही नहीं सकता। इन दोनों ही लगड़ी परिभाषाओं को सार्थकता प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि प्रतियोगिता का सहारा लिया जाय; और सबसे मज़े की बात यह है कि अंग्रेजों की नजर मे, उत्पादन के खर्च के मुकाबले मे, प्रतियोगिता ही उपयोगिता का प्रतिनिधित्व करती है; और, इसके एकदम विपरीत, "से" की नजर मे वह उपयोगिता के मुकाबले मे उत्पादन खर्च को पेश कर देती है। परन्तु वह (प्रतियोगिता—अनु०) किस प्रकार की उपयोगिता का, किस प्रकार के उत्पादन खर्च का प्रतिनिधित्व करती है? उसकी उपयोगिता निर्भर करती है संयोग पर, फ़ैशन पर,

धनियों की सनक पर; उसका उत्पादन खर्च माँग और पूर्ति के आकस्मिक सम्बन्ध के आधार पर घटता-बढ़ता रहता है।

वास्तविक मूल्य और विनिमय मूल्य के बीच का अन्तर एक वास्तविकता पर—इस वास्तविकता पर आधारित है कि वस्तु का मूल्य उस तथाकथित सम-मूल्य से भिन्न होता है जो व्यापार में उसके लिए दिया जाता है, अर्थात्, यह सम-मूल्य वास्तव में सम-मूल्य नहीं होता। यह तथाकथित सम-मूल्य (equivalent) दशा में उस वस्तु की क़ीमत (price) होता है, और अर्थशास्त्री यदि ईमानदारी से काम ले तो इस पद (term) का प्रयोग उसे "विनिमय के दौरान मूल्य" (Value in exchange) के लिए करना चाहिए। किन्तु उसे तो अब भी इस दिखावे को क़ायम रखना है कि क़ीमत किसी न किसी रूप में मूल्य के साथ जुड़ी हुई है—जिससे कि व्यापार की अनैतिकता एकदम उजागर न हो जाय! परन्तु, यह बात बिल्कुल सही है, तथा निजी सम्पत्ति का एक आधारभूत नियम है कि क़ीमत का निर्धारण उत्पादन खर्च तथा प्रतियोगिता की अन्योन्यक्रिया के माध्यम से होता है। अर्थशास्त्री ने सबसे पहले इसी शुद्ध रूप से अनुभव-सिद्ध नियम (empirical law) की खोज की थी; और फिर इस नियम से उसने "वास्तविक मूल्य" (real value) की, अर्थात्, उस मूल्य की धारणा का अपकर्षण किया था जो उस समय अस्तित्वशील होती है जिस समय कि प्रतियोगिता सतुलन की(equilibrium) दशा में होती है, जिस समय कि माँग और पूर्ति एक दूसरे को पूरा कर लेने की स्थिति,में होते हैं। इसके बाद, निस्सन्देह, जो बच जाता है वह उत्पादन खर्च होता है और अर्थशास्त्री फिर इसी को "वास्तविक मूल्य" की संज्ञा दे देता है, जबकि वह कीमत का मात्र एक विशिष्ट पक्ष ही होता है। इस प्रकार, अर्थशास्त्र की दुनिया में हर चीज (उल्टी—अनु०) अपने सर के बल खड़ी हुई है। मूल्य को जो प्रमुख उपादान (factor) है, क़ीमत का स्रोत है, स्वयं उसी की उत्पत्ति का क़ीमत का आश्रित बना दिया जाता है! जैसा कि सुविदित है, यह अपवर्तन (उल्टापन—अनु०) ही अपकर्षण (abstraction) का मूल तत्व है; इसके सम्बन्ध में देखिए फ़ायरबाख को।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार, किसी भी माल के उत्पादन खर्चे में तीन तत्व होते हैं: कच्चा माल पैदा करने के लिए आवश्यक जमीन के टुकड़े का लगान उसके मुनाफे के साथ पूंजी; तथा उत्पादन एवम् निर्माण-कार्य के लिए आवश्यक श्रम (मजदूरों—अनु०) की मजदूरी। परन्तु यह चीज तुरन्त ही स्पष्ट हो जाती है कि पूंजी और श्रम एक ही हैं, क्योंकि अर्थशास्त्री स्वयं स्वीकार करते हैं कि

पूंजी "संचित श्रम" (stored-up labour) होती है। अतः, फिर हमारे पास केवल दो पक्ष रह जाते हैं—प्राकृतिक, वस्तुगत पक्ष, जमीन; तथा मानवीय, मनोगतवादी पक्ष, श्रम, जिसमें पूंजी अन्तर्भूत होती है और, जिसमें पूंजी के अलावा एक तीसरा ऐसा उपादान (factor) भी समाविष्ट होता है जिसके विषय में अर्थशास्त्री कोई सोच-विचार नहीं करता—मेरा आशय है, फ़कत श्रम के शारीरिक तत्व के अतिरिक्त उस तत्व से जिसका सम्बन्ध आविष्कार से, चिन्तन के मानसिक तत्व (mental element of invention) से होता है। आविष्कार—कौशल से अर्थशास्त्री को क्या लेना-देना है? सारे अविष्कार, उसकी ओर से रत्तीभर भी प्रयास किये बिना ही नहीं क्या उसकी गोद में आ गिरे हैं? क्या उनमें से किसी एक के लिए भी उसे कुछ खर्च करना पड़ा है? तब फिर उत्पादन खर्च का हिसाब लगाते समय उनके बारे में क्यों वह मगज़-पच्ची करे? भूमि (जमीन), पूंजी तथा श्रम-- यही धन के लिए उसकी आवश्यकताएँ हैं; इनके अलावा किसी चीज़ की उसे दरकार नहीं। विज्ञान में उसे कोई दिलचस्पी नहीं। उसके लिए इस चीज का भी कोई महत्व नहीं कि उसे उसके उपहार बर्थोलेट, डेवी, लाईबिग, वॉट, कार्टराइट, आदि से प्राप्त हुए हैं—ऐसे उपहार जिनसे कि उसे और उसके उत्पादन को अपरिमित लाभ हुआ है! ऐसी चीजों की गणना करना वह नहीं जानता; विज्ञान की प्रगति के चरण उसके आँकड़ों की दुनिया से परे की चीजें हैं। परन्तु किसी भी ऐसी तर्कशील व्यवस्था में, जो हितों के उस विभाजन की सीमा को पार कर चुकी है जो अर्थशास्त्री की पुस्तक में पाये जाते हैं, मानसिक तत्व को निश्चित रूप से उत्पादन के तत्वों में सम्मिलित किया जायगा और अर्थशास्त्र में भी उत्पादन के ख़र्चों के बीच उसका स्थान उसे प्राप्त होगा। और यहाँ, इस बात को जानने से निश्चय ही सन्तोष मिलता है कि विज्ञान की प्रोन्नति से भौतिक प्रतिफल भी हस्तगत होता है; कि जेम्स वॉट द्वारा आविष्कृत भाप के इंजन जैसी विज्ञान की केवल एक ही उपलब्धि से संसार को पिछले पचास वर्षों में जितना लाभ हुआ है वह उस व्यय से कहीं अधिक है जो विज्ञान की प्रोन्नति के लिए आदि काल से लेकर आज तक उसने (संसार ने) किया है।

तब फिर हम देखते हैं कि उत्पादन की प्रक्रिया में दो तत्व काम करते हैं—प्रकृति तथा मनुष्य, जिसमें कि मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही रूप में सक्रिय रहता है। अब हम फिर अर्थशास्त्री और उसके उत्पादन के खर्च की ओर लौट जा सकते हैं।

अर्थशास्त्री कहता है कि जिस चीज पर एकाधिकारी कब्ज़ा नहीं किया

लिए, जो स्वयं उक्त वस्तु के विकास से ही उत्पन्न होती है, और, फलस्वरूप, अपने अन्दर समग्र व्यवहार का समावेश किये रहती है—हमें फिर इन दोनों परिभाषाओं को मिलाना पड़ेगा। लगान—भूमि की उत्पादकता के, प्राकृतिक पक्ष के (जिसमें कि प्राकृतिक उर्वरता तथा मानवीय सम्यता का—उन्नत करने के लिए प्रयुक्त किये गये श्रम का समावेश होता है) तथा मानवीय पक्ष के, प्रतियोगिता के बीच का सम्बन्ध होता है। इस "परिभाषा" को सुन कर अर्थशास्त्री अपने सिर हिला सकते हैं; पर यह देख कर उन्हें भारी परेशानी होगी कि इसमें उस हर बात का समावेश है जो इस विषय से सम्बन्ध रखती है।

व्यापारी पर दोषारोपण करने के लिए भूस्वामी के पास कोई आधार नहीं है।

जमीन पर एकाधिकार स्थापित करके वह डाकाजनी करता है। स्वयं अपने लाभ के लिए जनसंख्या में हुई वृद्धि का फायदा उठाकर—जिससे कि प्रतियोगिता और इसीलिए उसकी भू-सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जाता है—वह डाकाजनी करता है; जिस चीज को स्वयं उसने नहीं किया है—जो चीज नितान्त संयोग से उसके हाथ लग गयी है उसे अपने वैयक्तिक लाभ का स्रोत बनाकर वह केवल डाका डालता है। अपनी जमीन को पट्टे पर उठाकर, जिससे कि अन्ततोगत्वा वह उन सुधारों का भी स्वामी बन जाता है जो उसके काश्तकार (पट्टेदार—अनु०) द्वारा किये जाते हैं वह डाकाजनी ही करता है। बड़े-बड़े भूस्वामियों की निरन्तर बढ़ती जाती धन-सम्पदा का यही भेद है।

उन स्वयं-सिद्ध सूक्तियों का, जो आमदनी हासिल करने के भूस्वामी के तरीके को डाकाजनी सिद्ध करती हैं—जैसे कि इस बात का कि हर व्यक्ति को अधिकार है कि अपने श्रम की पैदावार का वह उपभोग करे, अथवा इस बात का कि जिसने बोया नहीं है वह काटेगा भी नहीं—हमने नहीं आविष्कार किया है। पहली सूक्ति में से बच्चों को खिलाने-पिलाने के कर्त्तव्य को निकाल दिया गया है; दूसरी प्रत्येक पीढ़ी को जीवित रहने के उसके अधिकार से वंचित कर देती है—क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी आगे बढ़ती तो उसी के आधार पर है जो पिछली पीढ़ी से विरासत में उसे मिलता है। ये स्वयं-सिद्ध सूक्तियाँ, एक प्रकार से, निजी सम्पत्ति की ही उत्पत्तियाँ हैं। आवश्यक है कि आदमी या तो इन निष्कर्षों पर अमल करे, या फिर एक पूर्वाश्रय के रूप में निजी सम्पत्ति को तिलांजलि दे दे।

वास्तव में तो, हस्तगत करने के प्रारम्भिक कार्य को भी स्वयं इसी बात को जोर-शोर से कह कर ही न्यायोचित ठहराया जाता है कि इससे पहले भी

सामूहिक सम्पत्ति के अधिकार मौजूद थे। इस भांति, हम चाहे जिस तरफ़ मुड़ें—निजी सम्पत्ति हमें अन्तर्विरोधों के ही जाल में फँसा देती है।

ज़मीन को—उस ज़मीन को जो कि हममें से प्रत्येक की और सबकी चीज़ है, जो कि हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है—क्रय-विक्रय (huckstering) की वस्तु बना देना—स्वयं अपने को क्रय-विक्रय की एक वस्तु बना देने की दिशा में उठाया गया अन्तिम कदम था। वह ऐसा अनैतिक कार्य था और आज भी बना हुआ है जिससे कि आत्म-परकीयकरण का कार्य ही केवल अधिक अनैतिक है। और, अनैतिकता के मामले में ज़मीन को हथियाने का प्रारम्भिक मूल कार्य—ज़मीन पर मुट्ठीभर लोगों द्वारा एकाधिकार कर लिये जाने का कार्य, शेष लोगों को उस चीज़ से वंचित कर देने का कार्य जो उनके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है—ज़मीन के बाद में किये जाने वाले क्रय-विक्रय के कार्य की अनैतिकता से किसी भी प्रकार पीछे नहीं है।

यहाँ फिर यदि निजी सम्पत्ति को हम तिलांजलि दे दें तो लगान की असलियत, उसकी वह तर्कसंगत धारणा सामने आ जाती है जो उसके मूल में निहित है। लगान के रूप में ज़मीन के मूल्य को उससे अलग कर दिये जाने पर वह फिर ज़मीन के साथ जुड़ जाता है। पैदावारों का मूल्य निर्धारण करते समय उत्पादन खर्च के एक अंश के रूप में इस मूल्य को भी, जिसे ज़मीन के बराबर-बराबर उन क्षेत्रों की उत्पादकता के आधार पर नापा जाता है जिनमें बराबर-बराबर श्रम लगाया गया है—निस्सन्देह उसके हिसाब में शामिल कर लिया जाता है; और, लगान की ही तरह, वह भी (मूल्य भी—अनु०) सम्बन्ध होता है उत्पादकता का प्रतियोगिता के साथ—परन्तु सच्ची प्रतियोगिता के साथ, उस प्रतियोगिता के साथ जो कि उसका समय आने पर विकसित हो जायगी।

हम देख चुके हैं कि शुरू-शुरू में पूँजी और श्रम अभिन्न होते हैं; बाद स्वयं अर्थशास्त्री द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं में हम देखते हैं कि, उत्पादन की प्रक्रिया में, पूँजी जो कि श्रम की उपज है, तत्क्षण पुनः श्रम की मिट्टी में, उसके उप-स्तर (substratum) में रूपान्तरित हो जाती है; और, इसलिए, श्रम से पूँजी के क्षणिक तौर से परिकल्पित विभाजन का स्थान तुरन्त ही दोनों की एकता ले लेती है। इसके बावजूद, अर्थशास्त्री पूँजी को श्रम से अलग कर देता है, और, इसके बावजूद, उनकी एकता को सिवा यह कहने के कि पूँजी "संचित श्रम" है, किसी अन्य रूप में वह मान्यता नहीं देता और इस विभाजन

से ही चिपका रहता है। निजी सम्पत्ति के कारण पूजी और श्रम के बीच होने वाला विभाजन श्रम के उस आन्तरिक द्विभाजन (dichotomy) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो इस विभाजित दशा के अनुरूप होता है तथा उसी से उत्पन्न होता है। और इस पृथक्करण के सम्पन्न हो जाने के बाद, पूंजी एक बार फिर मौलिक पूंजी (original capital) और मुनाफे मे—यह पूजी की वह वृद्धि है जो उत्पादन की प्रक्रिया मे उसे प्राप्त होती है—विभक्त हो जाती है, यद्यपि व्यवहार मे मुनाफे को तुरन्त पूंजी के साथ जोड दिया जाता है और उसी के साथ-साथ गतिमान कर दिया जाता है। वास्तव मे, मुनाफा स्वय भी सूद (interest) और असली मुनाफ़े (profit proper) मे बँट जाता है। सूद (ब्याज) के मामले मे तो इन विभाजनो का बेतुकापन हृद दर्जे तक पहुचा दिया जाता है। ब्याज पर उधार देने, बिना काम किये महज उधार के आधार पर धन प्राप्त करने की अनैतिकता यद्यपि निजी सम्पत्ति मे निहित होती है, फिर भी अब वह अन्धे तक को दिखलायी देने लगती है। पूर्वाग्रहो से मुक्त जन-समुदायों की चेतना, जो ऐसे मामलो मे आम तौर से सही होती है, इस अनैतिकता को बहुत लम्बे अरसे से इसी रूप मे देखती-समझती आयी है। ये समस्त सूक्ष्म विभेद (splits) तथा विभाजन (divisions) पूजी के श्रम से होने वाले प्रारम्भिक [पृथक्करण—अनु०।] पृथक्करण तथा इस पृथक्करण के चरम उत्कर्ष पर पहुच जाने —मनुष्य-जाति के पूंजीपतियो तथा मजदूरों मे विभाजित हो जाने से, उत्पन्न हुए है। यह विभाजन प्रति दिन अधिकाधिक तीव्र होता जाता है और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसका इस प्रकार गहरा होता जाना अनिवार्य है। परन्तु, अन्तिम विश्लेषण मे, यह पृथक्करण, जमीन के पूंजी और श्रम से हुए उस पृथक्करण की ही तरह जिस पर पहले विचार किया जा चुका है, एक असम्भव पृथक्करण है। किसी विशेष पैदावार मे जमीन, पूजी तथा श्रम का कितना-कितना हिस्सा है इसका पता नही लगाया जा सकता। ये तीनो परिमाण (magnitudes) ऐसे हैं जो अपरिमेय (incommensurable) हैं। जमीन कच्चा माल पैदा करती है, किन्तु ऐसा वह पूजी और श्रम के बिना नहीं करती। पूजी जमीन और श्रम की मौजूदगी को पहले ही से मान लेती है। और श्रम कम से कम जमीन को, और आम तौर से पूजी को भी, पहले ही से मानकर चलता है। इन तीनों तत्वों ...

... भिन्न होते हैं। उन्हे किसी चौथे सामान्य ... जा सकता। अतएव, मौजूदा ... को बाटने का जब सवाल उठता ... उसका निर्णय जिस माप-

दण्ड से—प्रतियोगिता के मापदण्ड से, अधिक सबल के धूर्ततापूर्ण अधिकार के मापदण्ड से—किया जाता है वह पूरे तौर से परकीय तथा आकस्मिक होता है। लगान में प्रतियोगिता निहित है; पूँजी के मुनाफ़े का निर्धारण पूरे तौर से प्रतियोगिता के ही माध्यम से होता है और आमदनी के सम्बन्ध में जो स्थिति है उसे आगे हम शीघ्र ही देखेंगे।

यदि हम निजी सम्पत्ति का परित्याग कर दें, तो ये तमाम अप्राकृतिक विभाजन स्वयं समाप्त हो जाते हैं। सूद और मुनाफ़े का फ़र्क मिट जाता है; बिना श्रम के, बिना गतिशीलता (movement) के पूँजी कुछ नहीं होती। मुनाफ़े का महत्त्व घटकर उस वज़न के बराबर हो जाता है जो उत्पादन-खर्च के निर्धारण में पूँजी रखती है; और, इस प्रकार, मुनाफ़ा उसी तरह पूँजी में अन्तर्निहित होता है जिस तरह कि पूँजी स्वयं श्रम के साथ अपनी प्रारम्भिक एकता की स्थिति में वापस पहुंच जाती है।

श्रम—जो उत्पादन का मुख्य उपादान (factor) है, 'धन-सम्पदा का स्रोत'' है; उन्मुक्त मानवीय कार्यशीलता (free human activity) है—अर्थशास्त्री के हाथों में पड़कर बुरी गत प्राप्त करता है। जिस तरह कि पूँजी को श्रम से पहले ही अलग किया जा चुका है, उसी तरह श्रम भी अब दोबारा विभक्त हो जाता है : श्रम की पैदावार मज़दूरी के रूप में श्रम का मुक़ाबला करने लगती है, वह उससे जुदा हो जाती है, और फिर, हमेशा की ही तरह, उसका भी निर्धारण प्रतियोगिता से ही होता है—क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, उत्पादन में श्रम का अंश कितना है इसका फ़ैसला करने के लिए कोई सुदृढ़ मापदण्ड नहीं है। यदि हम निजी सम्पत्ति का अन्त कर दें, तो यह अप्राकृतिक पृथक्करण भी समाप्त हो जाता है। श्रम स्वयं अपना पुरस्कार बन जाता है, और श्रम की मज़दूरी का वास्तविक महत्व, जो अभी तक परकीयकृत था, उजागर हो जाता है—अर्थात्, किसी वस्तु के उत्पादन खर्च के निर्धारण में श्रम का क्या महत्व है यह चीज़ स्पष्ट हो जाती है।

हम देख चुके हैं कि, जब तक निजी सम्पत्ति का अस्तित्व क़ायम है, तब हर चीज़ अन्ततोगत्वा प्रतियोगिता की हो बात पर जा पहुंचती है। अर्थ- की यह प्रमुख कोटि (category) है—उसकी सबसे प्यारी बेटी है जिसे

कि बराबर वह प्यार-दुलार करता रहता है, और अब मेडूसा* के सिर की प्रतीक्षा कीजिए—जल्दी ही वह आपको उसके दर्शन करायेगी।

निजी सम्पत्ति का तात्कालिक परिणाम उत्पादन का दो विरोधी पक्षों में —प्राकृतिक तथा मानवीय पक्षों में – विभाजित हो जाना था। एक पक्ष भूमि है जो मनुष्य द्वारा उपजाऊ न बनायी जाय तो मृत और बांझ होती है, और दूसरा पक्ष मानवीय कार्यशीलता (activity) है जिसके अस्तित्व की पहली शर्त उसी भूमि का होना है। इसके अतिरिक्त, हम देख चुके हैं कि मानवीय कार्यशीलता किस प्रकार श्रम और पूंजी में बंट गयी है और उसके ये दोनों पक्ष किस प्रकार एक दूसरे के विरोध में आ खड़े हुए हैं। इस भांति हम पहले ही देख चुके हैं कि एक दूसरे का पारस्परिक समर्थन करने के बजाय ये तीनों तत्व किस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष में जुटे हुए हैं। अब इसमें हमें यह और जोड़ देना है कि निजी सम्पत्ति, अपनी प्रगति-यात्रा में, इन तत्वों में से प्रत्येक को छोटे-छोटे टुकड़ों में विखण्डित कर देती है। जमीन का एक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के मुकाबले में, एक पूंजी दूसरी पूंजी के मुकाबले में, एक मजदूर दूसरे मजदूर के मुकाबले में खड़ा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, निजी सम्पत्ति चूंकि हर एक को अलग-थलग करके उसे स्वयं उसके क्रूर अकेलेपन में खड़ा कर देती है, और चूंकि इसके बावजूद, हर एक का हित वही होता है जो उसके पड़ोसी का होता है, इसलिए एक भूस्वामी के विरुद्ध दूसरा भूस्वामी, एक पूंजीपति के विरुद्ध दूसरा पूंजीपति, एक मजदूर, के विरुद्ध दूसरा मजदूर आ खड़ा होता है। ठीक इसी अभिन्नता से उत्पन्न होने वाले एक ही जैसे हितों के झगड़े-झंझट में ही मनुष्य-जाति की अब तक कि स्थिति की अनैतिकता ने अपनी परम निष्पत्ति प्राप्त की है और इस परम निष्पत्ति का ही नाम प्रतियोगिता है।

प्रतियोगिता की विरोधी है इजारेदारी। इजारेदारी की युद्ध-गर्जना व्यापारियों ने की थी; प्रतियोगिता उदारवादी अर्थशास्त्रियों की युद्ध के लिए पुकार है। इस चीज को देखना आसान है कि यह प्रतिवाद (antithesis) सर्वथा खोखला प्रतिवाद है। प्रत्येक प्रतियोगी के लिए, वह चाहे मजदूर हो, चाहे पूंजीपति, चाहे भूस्वामी, इजारेदारी की इच्छा करना ~~अवश्य~~ स्वाभाविक है। प्रतियोगियों के [illegible] सबों के

* [illegible] वाली तीन

विरुद्ध वह स्वयं अपनी इजारेदारी की स्थापना करने की ख्वाहिश करे। प्रतियोगिता स्वहित पर आधारित होती है, और स्वहित जन्म देता है इजारेदारी को। संक्षेप में, प्रतियोगिता इजारेदारी का रूप ले लेती है। दूसरी ओर, इजारेदारी प्रतियोगिता के ज्वार को नहीं रोक सकती—दरअसल तो, वह स्वयं ही प्रतियोगिता को जन्म देती है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि, उदाहरण के लिए, आयातों पर लगायी जाने वाली रोक अथवा ऊँचे तट कर (tariffs) अनिवार्य रूप से तस्करी की प्रतियोगिता को जन्म देते हैं। प्रतियोगिता का अन्तर्विरोध ठीक वैसा ही अन्तर्विरोध है जैसा कि निजी सम्पत्ति का होता है। हर एक के हित में यह है कि वह सब कुछ का मालिक बन जाय, किन्तु सबका हित इस बात में है कि हर एक बराबर-बराबर हिस्से का मालिक हो। इस प्रकार, आम हित तथा वैयक्तिक हित एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी होते हैं। प्रतियोगिता का अन्तर्विरोध यह है कि प्रत्येक के लिए इसके अलावा और कोई रास्ता ही नहीं है कि वह इजारेदारी की कामना करे, किन्तु इजारेदारी के परिणामस्वरूप अनिवार्यतः सबका नुकसान होगा और इसलिए सबके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उसको खतम करे। इसके अलावा, प्रतियोगिता तो इजारेदारी को—अर्थात् सम्पत्ति की इजारेदारी को पहले से ही मान कर चलती है (और यहां पर उदारपंथियों की मक्कारी एक बार फिर उजागर हो जाती है); और जब तक सम्पत्ति की इजारेदारी कायम है तब तक अपनी इजारेदारी की स्थापना करना भी उतनी ही मात्रा में न्यायोचित है—क्योंकि, एक बार कायम हो जाने के बाद, इजारेदारी स्वयं सम्पत्ति बन जाती है। इसलिए, यह कैसी दयनीय नीम-हकीम नुस्खे वाली नीति है कि छोटी-छोटी इजारेदारियों पर तो हमला किया जाय और जो (अर्थात्, निजी सम्पत्ति—अनु०) बुनियादी इजारेदारी है उसे छुट्टा छोड़ दिया जाय! और इसमें यदि अर्थशास्त्री की ऊपर उल्लिखित इस उक्ति को हम जोड़ दें कि जिस चीज पर इजारेदारी न कायम की जा सके उसका कोई मूल्य नहीं होता—कि, इसलिए, ऐसी कोई भी चीज जिसमें इस तरह की इजारेदारी कायम करने की गुन्जाइश न हो प्रतियोगिता के इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकती—तो हमारा यह कथन पूर्णतया सही सिद्ध हो जाता है कि प्रतियोगिता इजारेदारी के अस्तित्व को मानकर ही चलती है।

प्रतियोगिता का नियम यह है कि मांग और आपूर्ति हमेशा एक दूसरे की पूर्ति करने का (to complement) प्रयास करती हैं, और इसलिए एक दूसरे की पूर्ति कभी नहीं कर पाती। दोनों फिर अलग-अलग हो जाती हैं और खुले तौर से एक

दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। आपूर्ति हमेशा माँग के एकदम पीछे-पीछे चलती है, किन्तु पूरे तौर से उसे कभी पूरा नही कर पाती। या तो वह आवश्यकता से अधिक बड़ी होती है या उससे बहुत छोटी, माँग के अनुरूप वह कभी नहीं होती, क्योंकि मनुष्य-जाति की इस अचेतन अवस्था मे इस चीज को कोई नहीं जानता कि आपूर्ति अथवा माँग कितनी बड़ी है। माग यदि आपूर्ति से बड़ी होती है तो कीमत बढ़ जाती है और, फलस्वरूप, आपूर्ति को किसी हद तक बढ़ावा मिल जाता है। फिर ज्योंही वह (आपूर्ति—अनु०) बाजार मे आ जाती है त्योंही कीमतें गिर जाती हैं; और यदि वह माग से अधिक हो जाती है, तो कीमतो की गिरावट इतनी ज्यादा हो जाती है कि माँग को फिर बढ़ावा मिल जाता है। यह क्रम अन्तहीन ढग से चलता रहता है—एक अस्वास्थ्यकर स्थिति स्थायी तौर मे बनी रहती है—अति-बढ़ने तथा ढीला (या पीछे—अनु०) पड जाने का एक के बाद एक वाला यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। परन्तु इस क्रम मे प्रगति करने की कोई सम्भावना नहीं रहती—लगातार उतार-चढ़ाव की एक ऐसी दशा बनी रहती है जिसमे कि लक्ष्य पर कभी नही पहुचा जाता। सतत समायोजन (adjusıment) से युक्त इस नियम को, जिसमे एक जगह जो घाटा होता है उसे दूसरी जगह पूरा कर लिया जाता है, अर्थशास्त्री बहुत ही उत्कृष्ट चीज मानते है। यही उसका मुख्य गौरव है—उससे वह कभी नही अघाता, और उस पर वह उसके समस्त सम्भव और असम्भव प्रयोगो की दृष्टि से विचार करता है। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि यह नियम शुद्ध रूप से प्रकृति का एक नियम है, मस्तिष्क का नियम नही है। यह ऐसा नियम है जो क्रान्ति को जन्म देता है। अर्थशास्त्री माँग और पूर्त्ति के अपने सुन्दर-सलोने सिद्धान्त को लेकर आता है और आपके सामने यह सिद्ध कर देता है कि "आदमी आवश्यकता से अधिक कभी पैदा ही नही कर सकता", और व्यवहार इसका उत्तर ऐसे व्यापारिक सकटों (trade crises) के रूप मे देता है जो उसी नियमितता के साथ बारम्बार आते रहते है जिस नियमितता से कि धूमकेतु आते है, और जो कि अब औसतन हर पाँच से सात साल मे हमे देखने को मिलते हैं। पिछले ८० वर्षो के दौरान ये व्यापारिक सकट उतने ही नियम से आये है जितने नियम से पुराने जमाने मे बड़े-बड़े प्लेग आया करते थे—और ये सकट अपने साथ जितनी तकलीफ़ और अनैतिकता को लाते है उतनी वे प्लेग भी नहीं ला सके थे। (देखिए, वाडे का : "मध्यम तथा मजदूर वर्गो का इतिहास", लन्दन, १८३५, पृष्ठ २११)। निस्सन्देह, वाणिज्यिक उथल-पुथल के ये धक्के उक्त नियम की पुष्टि ही करते हैं, नि:सेद ढग से उसकी पुष्टि करते है—किन्तु इस काम को वे ऐसे ढग से करते हैं जो उससे बिल्कुल भिन्न है जिसे कि अर्थशास्त्री चाहता है कि हम मान लें। ऐसे नियम के बारे मे हम

क्या सोचें जो अपने को केवल आवधिक उथल-पुथल के झंझावातों के ही माध्यम से सही सिद्ध कर सकता है ? असंदिग्ध रूप से यह एक ऐसा प्राकृतिक नियम है जो भागीदारों (participants) की अचेतनता पर आधारित है । उत्पादकों को यदि यह मालूम होता कि उपभोक्ताओं की जरूरत कितनी है, उत्पादन को यदि वे संगठित कर सकते, उसे यदि वे आपस में बाँट ले सकते, तब तो प्रतियोगिता के कारण आने वाले उतार-चढ़ाव तथा संकट पैदा करने की उसकी प्रवृत्ति असम्भव हो जाती । उत्पादन कार्य को मानव प्राणियों की तरह सचेत रूप से—ऐसे बिखरे हुए अणुओं की तरह नहीं जिन्हें आपके जाति-मूल की चेतना हो नहीं है—चलाइए और तब इन तमाम कृत्रिम तथा अटिकाऊ प्रतिवादों पर आप विजय प्राप्त कर लेंगे । किन्तु जब तक वर्तमान अचेतन, विचार-विहीन ढंग से, संयोग की दया पर निर्भर रहते हुए, उत्पादन-कार्य आप करते रहेंगे—तब तक व्यापारिक संकट भी मौजूद रहेंगे; और, अनिवार्य रूप से, प्रत्येक क्रमिक संकट और भी अधिक सार्वलौकिक तथा इसीलिए पिछले संकट से और भी अधिक भयानक होता जायगा; अनिवार्य रूप से छोटे-छोटे पूंजीपतियों के और भी अधिक बड़े समुदाय को वह दरिद्र बना देगा और उस वर्ग के लोगों की संख्या के अनुपात में उत्तरोत्तर वृद्धि करता जायगा जो केवल अपने श्रम के ही सहारे जीवन-यापन करता है । इस भाँति, जिन मजदूरों को काम पर रखा जाना है उनके समुदाय को वह काफी बढ़ा देगा (हमारे अर्थशास्त्रियों के लिए यह एक विकट समस्या है) और अन्त में वह एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति को जन्म देगा जिसकी कि अर्थशास्त्रियों के दर्शन में स्वप्न में भी कभी कहीं कल्पना नहीं की गयी है ।

क़ीमतों में सतत रूप से होने वाली घटती, जिसे कि प्रतियोगिता की परिस्थिति पैदा करती रहती है, व्यापार को नैतिकता के अन्तिम अवशेषों से भी पूर्णतया वंचित कर देती है । अब मूल्य (value) का कोई प्रश्न नहीं रह जाता । वही व्यवस्था जो मूल्य को इतना अधिक महत्व देती हुई प्रतीत होती है, जो मुद्रा के रूप में मूल्य के अपकर्षण (abstraction) को स्वयं अपना अस्तित्व रखने का अधिकार प्रदान करती है—वही व्यवस्था प्रतियोगिता के माध्यम से सभी वस्तुओं के अन्तर्निहित मूल्य को नष्ट कर देती है तथा मूल्य पर आधारित एक दूसरे के साथ सभी वस्तुओं के सम्बन्ध को हर दिन और हर घण्टा बदलती रहती है । इस भँवर में किसी नैतिक आधार पर स्थित विनिमय के अस्तित्व की फिर कहाँ सम्भावना रह जाती है ? उतार-चढ़ाव के इस अविरल प्रवाह में प्रत्येक व्यक्ति को क्रय और विक्रय के लिए सबसे अनुकूल मुहूर्त की तलाश करते रहना चाहिए; प्रत्येक व्यक्ति को एक सट्टाबाज बन जाना चाहिए—अर्थात्, उसे ऐसी जगह फ़सल काटने की कोशिश करनी चाहिए जहाँ उसने बोया नहीं था; उसे दूसरों

के मत्थे अपने को धनाढ्य बना लेना चाहिए, दूसरे की विपत्तियों का भरपूर लाभ उठाना चाहिए, अथवा सयोग (chance) को अपने हित मे काम करने देना चाहिए। अपना उल्लू सीधा करने के लिए सट्टेबाज सदा आपदाओं की, विशेष रूप से बुरी फ़सलों की प्रतीक्षा करता रहता है। प्रत्येक वस्तु का वह अपने लाभ के लिए उपयोग करता है; उदाहरण के लिए, न्यू यॉर्क में जब आग लगी थी तब उसका भी उसने अपने हित मे इस्तेमाल कर लिया था। और अनैतिकता अपनी चरम सीमा पर पहुच जाती है स्टॉक एक्सचेन्ज [हिस्सो (शेयरो) के क्रय-विक्रय का स्थान—अनु०] की सट्टेबाजी में। वहां इतिहास, और उसके साथ-साथ, मानव-जाति को भी अवनत करके हिसाबी या जुआरी सट्टेबाज की लोलुपता की सन्तुष्टि का कुत्सित साधन बना दिया जाता है। और ईमानदार 'यदेय' व्यापारी को स्टॉक एक्सचेन्ज के जुए से ऊपर उठकर पारसियो की तरह यह कहने की नही चेष्टा करनी चाहिए कि "हे प्रभु, मैं तेरा शुक्रगुजार हू..." आदि। वह भी उतना ही पतित है जितना कि स्टॉको (मालो—अनु०) और शेयरो (हिस्सो—अनु०) मे सट्टा करने वाले लोग। वह भी उतनी ही सट्टेबाजी करता है जितनी कि वे करते हैं। ऐसा करने के लिए वह विवश है. प्रतियोगिता इसके लिए उसे बाध्य कर देती है। और इसलिए उसकी व्यापार सम्बन्धी गतिविधियों में भी उतनी ही अनैतिकता अन्तर्निहित रहती है जितनी कि उन लोगों की गतिविधियों में। प्रतियोगिता के साथ सम्बन्ध की सच्चाई उत्पादकता के साथ उपभोग के सम्बन्ध मे निहित है। ऐसे ससार मे जो मानव-जाति के योग्य होगा इसके अतिरिक्त और कोई प्रतियोगिता नही होगी। समाज को हिसाब लगाना पड़ेगा कि जो साधन उसे उपलब्ध हैं उनसे वह क्या पैदा कर सकता है; और, उपभोक्ताओ के समुदाय के साथ इस उत्पादक शक्ति के सम्बन्ध के अनुसार, वह यह तय करेगा कि उत्पादन को उसे कितना बढ़ाना या घटाना है, किस हद तक विलासिता की वस्तुओ को उसे बनने देना है, या उनके उत्पादन को कम करना है। किन्तु, इस सम्बन्ध के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा समाज के अन्दर मौजूद एक तर्क-सम्मत व्यवस्था में उत्पादक शक्ति का कितना इज़ाफ़ा किया जा सकता है इसके बारे मे सही निर्णय करने मे सहायता करने के लिए—मैं अपने पाठको का आवाहन करता हू कि वे अंग्रेज समाजवादियों को, तथा किसी हद तक फ़ूरिए की रचनाओं से परामर्श करें।

मनोगतवादी प्रतियोगिता—पूजी के विरुद्ध पूजी की, श्रम के विरुद्ध श्रम की, आदि प्रतियोगिता—उक्त परिस्थितियों में मानव प्रकृति में निहित सोत्साह अनुकरण करने की भावना (spirit of emulation) में रूपान्तरित हो जायगी

(इस धारणा को अभी तक केवल फ़ूरिए ने ही किसी हद तक सही ढग से प्रस्तुत किया है), विरोधी हितों के इन्द्रियातीत (समाप्त—अनु॰) हो जाने के उपरान्त प्रतियोगिता की इस भावना को उसके उचित तथा तर्क-सम्मत क्षेत्र में संसीमित कर दिया जायगा।

पूंजी के विरुद्ध पूंजी का, श्रम के विरुद्ध श्रम का, जमीन के विरुद्ध जमीन का संघर्ष उत्पादन को इतना तेज कर देता है कि वह समस्त प्राकृतिक और तर्क-सम्मत सम्बन्धों को उलट-पुलट देता है। कोई भी पूंजी दूसरी पूंजी की प्रतियोगिता का तब तक मुक़ाबला नहीं कर सकती जब तक कि अपनी सक्रियता की चरम सीमा पर न वह पहुंच जाय। जमीन के किसी भी खण्ड पर तब तक लाभदायी ढंग से खेती नहीं की जा सकती जब तक कि अपनी उत्पादकता में वह निरन्तर वृद्धि न करता रहे। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सामने कोई भी मजदूर तब तक टिक नहीं सकता जब तक कि वह अपनी सारी शक्ति काम में न झोंक दे। प्रतियोगिता के संघर्ष क्षेत्र में जो भी प्रवेश करता है वह तब तक सफलतापूर्वक उसका सामना नहीं कर सकता जब तक कि अपनी शक्ति को वह पूरे तौर से न उसमें लगा दे, जब तक कि प्रत्येक सच्चे मानवीय लक्ष्य को वह तिलांजलि न दे दे। एक ओर आवश्यकता से अधिक परिश्रम किये जाने का परिणाम अनिवार्य रूप से यह होता है कि दूसरी ओर काम मद्धिम पड़ जाता है। प्रतियोगिता का उतार-चढ़ाव जब कम होता है, मांग और पूर्ति, उपभोग और उत्पादन जब लगभग समान होते हैं, तब उत्पादन के विकास में एक ऐसी अवस्था का आ जाना अनिवार्य होता है जिसमें कि इतनी अधिक उत्पादन शक्ति अनावश्यक (superfluous) हो जाती है कि राष्ट्र के विशाल जन समुदाय के पास जिन्दा रहने का कोई साधन ही नहीं रह जाता, जिसमें कि केवल बहुतायत (प्रचुरता—अनु॰) के कारण लोग भूखों मरने लगते हैं। काफ़ी समय से इंगलैंड इसी पागलों-जैसी स्थिति में, इसी जीवित असंगति की स्थिति में पड़ा हुआ है। उत्पादन जब भी अधिक बड़े उतार-चढ़ावों का शिकार होता है, जैसा कि इस परिस्थिति के फलस्वरूप होना अनिवार्य है, तब तेज़ी (boom) और संकट, (crisis), अति-उत्पादन (over-production) और मन्दी (slump) का क्रम बारी-बारी से आरम्भ हो जाता है। इस पागलों जैसी परिस्थिति को अर्थशास्त्री कभी नहीं समझ सका है। इसे समझाने के लिए उसने जन संख्या के सिद्धान्त का आविष्कार किया है। यह सिद्धांत भी उतना ही लचर है—बल्कि कहना चाहिए कि उससे भी अधिक लचर है जितने अन्तर्वि

दौलत और दरिद्रता के साथ-साथ अस्तित्वशील होने का अन्तर्विरोध देखने को मिलता है। अर्थशास्त्री मे इतना साहस नहीं कि वह सच्चाई से दो-चार हो सके; उसमे इतना साहस नही है कि वह इस बात को स्वीकार कर ले कि यह अन्तर्विरोध सीधे-सीधे प्रतियोगिता का परिणाम है; क्योंकि ऐसा करने पर उसकी सारी व्यवस्था ही क्षत-विक्षत होकर धराशायी हो जायगी।

हमारे लिए इस चीज़ को समझना आसान है। मानव-जाति के पास जो उत्पादक शक्ति है वह अपरिमित है। पूजी, श्रम तथा विज्ञान के उपयोग से ज़मीन की उत्पादकता को किसी भी सीमा तक बढ़ा लिया जा सकता है। सर्वाधिक योग्य अर्थशास्त्रियो तथा संख्याविदो के मतानुसार (देखिए एलिसन द्वारा लिखित, "जन संख्या के सिद्धान्त", खण्ड १, अध्याय १ और २), दस वर्ष के अन्दर "आवश्यकता से अधिक आबादी वाले" ग्रेट ब्रिटेन को ऐसी स्थिति मे ले आया जा सकता है जिसमे कि वह इतना गल्ला पैदा कर लेगा जितना कि उसकी वर्तमान जन सख्या से छै गुना अधिक जन सख्या के लिए पर्याप्त होगा। पूजी दैनन्दिन बढ़ती जाती है; श्रम शक्ति जन सख्या के साथ बढ़ती जाती है, और विज्ञान प्रकृति की शक्तियो को दिन प्रति दिन अधिकाधिक मात्रा मे मानव के अधीन बनाता जाता है। इस निस्सीम उत्पादक क्षमता का उपयोग यदि सचेत रूप से और सबके हित मे किया जाय तो मनुष्य-जाति के हिस्से मे जो श्रम पड़ता है वह जल्दी ही घटकर न्यूनतम हो जायगा। समस्या को प्रतियोगिता के जिम्मे छोड़ देने पर वह भी ऐसा ही करती है, परन्तु वह ऐसा प्रतिवादों (antitheses) के दायरे मे करती है। ज़मीन के एक हिस्से पर सर्वश्रेष्ठ सम्भव ढंग से खेती की जाती है, लेकिन दूसरा हिस्सा बंजर पड़ा रहता है। ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड मे तीन करोड़ एकड़ अच्छी ज़मीन इसी तरह अनुर्वर पडी है। पूजी का एक हिस्सा प्रचण्ड गति से परिचालित (circulate) होता है; उसका दूसरा हिस्सा तिजोरी मे मृत पड़ा रहता है। मजदूरो का एक भाग चौदह या सोलह घण्टा प्रति दिन के हिसाब से काम करता है, और दूसरा बेकार और निष्क्रिय पड़ा रहता है और भूखो मरता है। अथवा विभाजन साथ ही साथ रहने के (एककालिकता के–अनु०) इस प्रदेश को तिलांजलि दे देता है: आज व्यापार अच्छा है; माग बहुत काफ़ी है; हर आदमी काम कर रहा है; पूजी का चमत्कारिक गति से आवर्त्तन हो रहा है; खेती लहलहा उठी है; मजदूर काम करते-करते अपने को बीमार बना लेता है। कल से ठहराव का दौर आरम्भ हो जाता है। ज़मीन पर खेती करना अलाभदायी हो जाता है; ज़मीन के पूरे के पूरे भू-भाग बिन जोते-बोये पड़े रहते हैं; पूजी का प्रवाह अचानक थम जाता है; मजदूरों के पास कोई काम नहीं रह

जाता, और पूरा देश फ़ाज़िल धन और फ़ाज़िल जनसंख्या के भँवर में फँस कर ऊब-डूब होने लगता है ।

विषय की इस व्याख्या को सही स्वीकार करने का जोखिम अर्थशास्त्री नहीं उठा सकता; इसे सही मान लेने पर, जैसा कि कहा जा चुका है, उसे प्रतियोगिता की अपनी पूरी व्यवस्था से हाथ धो बैठना पड़ेगा । उसे उत्पादन और उपभोग, फ़ाज़िल जनसंख्या और फ़ाज़िल धन के प्रतिवाद (विरोधी स्वरूप–अनु०) के थोथेपन को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ेगा। किन्तु, चूँकि इस वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता था, इसलिए सच्चाई और सिद्धान्त के बीच समानरूपता लाने के लिए जन संख्या के सिद्धान्त का आविष्कार किया गया ।

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक, माल्थस का कहना है कि जन संख्या जीवन-निर्वाह के साधनों पर हमेशा हावी रहती है; कि ज्योंही उत्पादन में वृद्धि होती है, त्योंही जन संख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है; और यह कि जन संख्या की जीवन निर्वाह के सुलभ साधनों से निरन्तर आगे बढ़ते जाने की यह सहज प्रवृत्ति ही सारे कष्टों और सारी बुराइयों की जड़ है । क्योंकि, जब लोग संख्या में आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं तो उनको एक न एक ढंग से ठिकाने लगाना आवश्यक हो जाता है : आवश्यक हो जाता है कि या तो हिंसा के द्वारा उनका काम तमाम कर दिया जाय, या उन्हें भूखों मरने के लिए छोड़ दिया जाय । परन्तु ज्योंही ऐसा कुछ हो जाता है, त्योंही जो रिक्त स्थान पैदा हो जाता है उसे एक बार फिर भर देने के लिए जन संख्या में वृद्धि करने वाले जो दूसरे तत्व हैं वे तत्क्षण सक्रिय हो जाते हैं : और, इस प्रकार, पुरानी मुसीबतें एक बार फिर शुरू हो जाती हैं । इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसा सभी परिस्थितियों में होता है—न केवल सभ्यता की, बल्कि आदिम-कालीन परिस्थितियों में भी। न्यू हौलैण्ड* में भी—जिसकी जनसंख्या की सघनता प्रति वर्ग मील एक है, वहाँ के जंगली लोग जन संख्या की बहुलता से उतने ही पीड़ित रहते हैं जितने कि इंगलैण्ड के लोग । संक्षेप में, यदि हम संगत बात करना चाहते हैं, तो हमें स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी पर जब केवल एक ही व्यक्ति अस्तित्वशील था तब भी उस पर जनाधिक्य था। चिन्तन की इस धारा का आशय यह है कि फ़ाज़िल चूँकि केवल गरीब ही लोग होते हैं इसलिए उनके लिए इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं किया जाना चाहिए कि भूख से मरने की

* आस्ट्रेलिया का पुराना नाम था।— सं०

इसकी क्रिया को जितना आसान बनाया जा सके उतना आसान बना दिया जाय, और उन्हें इस बात का विश्वास दिला दिया जाय कि मरने से बचने का कोई उपाय नहीं है और उनके पूरे वर्ग के परित्राण के लिए आवश्यक है कि प्रजनन की प्रक्रिया को वे सर्वथा न्यूनतम बनाये रखें ! अथवा, यदि यह चीज असम्भव सिद्ध होती है, तो आखिर में यही श्रेयस्कर होगा कि, जैसा कि "मार्कस"[१] ने सुझाया है, गरीबों के बच्चों को पीड़ाहीन ढंग से मार देने के लिए एक राजकीय संस्थान स्थापित किया जाय ! इस सुझाव के अनुसार, मजदूर वर्ग के प्रत्येक परिवार को केवल ढाई बच्चा रखने की अनुमति दी जायगी, इससे जो अधिक होंगे उन्हें कष्टहीन ढंग से मार दिया जायगा। दान-दया करने के काम को एक अपराध माना जायगा, क्योंकि उससे फ़ाज़िल जनसंख्या की वृद्धि को बढ़ावा मिलता है। वास्तव मे तो, अधिक लाभदायक यह होगा कि गरीबी को ही एक अपराध घोषित कर दिया जाय और अनाथालयों को जेलों में परिवर्तित कर दिया जाय—जैसा कि, नये "उदार पंथी" गरीबों के कानून[*] (Poor Law) के फलस्वरूप, इंगलैंड में पहले ही हो गया है। यह सही है कि यह सिद्धान्त बाइबिल के इस ईश्वरादेश से मेल नहीं खाता कि ईश्वर और उसकी सृष्टि सर्वथा दोषहीन (perfect) है; किन्तु "तथ्यों के विरुद्ध बाइबिल का सहारा लेना खण्डन करने का बहुत ही निकृष्ट तरीक़ा है" !

प्रकृति और मानव-जाति के विरुद्ध इस घिनौने और कुख्यात सिद्धांत का, इस बीभत्स ईश्वर-निन्दक विचार का क्या और भी अधिक विशदीकरण करते जाना मेरे लिए आवश्यक है ? क्या आवश्यक है कि इसके परिणामों को मैं और भी विस्तार से स्पष्ट करूँ ? यहाँ हमें अर्थशास्त्री की अनैतिकता का चरम रूप देखने को मिलता है। तमाम युद्धों तथा इजारेदारी व्यवस्था की समस्त विभीषिकाओं की भी इस सिद्धान्त के मुकाबले मे भला क्या हैसियत हो सकती है ! और यही वह सिद्धांत है जो मुक्त व्यापार की उदारवादी व्यवस्था की आधारशिला है। इस आधारशिला के हटते ही उसकी सम्पूर्ण इमारत ढह जायगी। क्योंकि यहाँ यदि यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त कष्टों, दरिद्रता तथा अपराधों का कारण यह प्रतियोगिता ही है, तब फिर उसका पक्षपोषण करने का साहस किसे होगा ?

ऊपर उल्लिखित अपनी रचना मे एलिसन ने माल्थसवादी सिद्धांत की चूलें तक हिला दी हैं। ऐसा उन्होंने पृथ्वी की उत्पादक शक्ति का हवाला देकर तथा माल्थसवादी सिद्धांत के विरुद्ध इस तथ्य को सामने प्रस्तुत कर के किया है कि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति उससे अधिक पैदा कर सकता है जितनी की कि उसे स्वयं

आवश्यकता होती है। यह तथ्य ऐसा है कि यदि यह न होता तो मानव-जाति अपनी संख्या में वृद्धि ही नहीं कर सकती थी; वास्तव में, वह जीवित ही नहीं रह सकती थी। यदि ऐसा न होता तो वे लोग जो अब भी बड़े हो रहे हैं जिन्दा कैसे रह सकते थे ? किन्तु एलिसन समस्या के मूल तक नहीं जाते और इसलिए अन्ततोगत्वा वह भी उसी निष्कर्ष पर जा पहुंचते हैं जिस पर कि माल्थस पहुंचा है। यह सच है कि वह सिद्ध कर देते हैं कि माल्थस का सिद्धान्त गलत है, किन्तु उन तथ्यों से वह इन्कार नहीं कर पाते जिन्होंने माल्थस के सिद्धान्त की स्थापना करने में उसे सहायता दी है।

इस समस्या पर माल्थस ने यदि इतने एकपक्षी ढंग से न विचार किया होता तो वह इस बात को देखे बिना न रह सकता कि फ़ाजिल जन संख्या या श्रम-शक्ति हमेशा फाजिल (अतिरिक्त—अनु०) धन-सम्पदा के साथ, फ़ाजिल पूंजी और फ़ाजिल भू-सम्पत्ति के साथ ही जुड़ी रहती है। जन संख्या केवल वहीं बहुत बड़ी होती है जहां समग्र उत्पादन शक्ति भी बहुत बड़ी होती है। इस बात की सच्चाई को, माल्थस ने जब लिखा था उसके बाद का, प्रत्येक अधिक जन संख्या रखने वाले देश का अनुभव, विशेष रूप से इंगलैण्ड का अनुभव भली भांति सिद्ध कर देता है। यही वे तथ्य हैं जिन पर उनकी सम्पूर्णता में माल्थस को विचार करना चाहिए था। यदि उन पर विचार किया गया होता तो अनिवार्य रूप से वह सही निष्कर्ष पर जा पहुंचता। ऐसा करने के बजाय, उसने एक तथ्य को छांट लिया, अन्य तथ्यों पर गौर नहीं किया, और इसलिए अपने विक्षिप्ततापूर्ण निष्कर्ष पर पहुंच गया। दूसरी भूल जो उसने की वह यह थी कि जीविका के साधनों का उसने रोजगार के (साधनों के) साथ घाल-मेल कर दिया। जन संख्या हमेशा रोजगार के साधनों पर दबाव डालती रहती है, और पैदा होने वाले लोगों की संख्या उन लोगों की संख्या पर निर्भर करती है जिन्हें काम-धन्धे में लगाया जा सकता है—संक्षेप में, श्रम-शक्ति के उत्पादन का नियमन अभी तक प्रतियोगिता के क़ानून द्वारा ही किया गया है और इसलिए वह आवधिक संकटों तथा उतार-चढ़ावों का भी शिकार होता है– यह ऐसी सच्चाई है जिसकी स्थापना करने का माल्थस को विशेष श्रेय है। किन्तु रोज़गार के साधन (means of employment) जीविका के साधन (means of subsistence) नहीं होते। मशीनों की शक्ति तथा पूंजी में वृद्धि होने के कारण ही, उसके फलस्वरूप ही, रोज़गार के साधनों में वृद्धि होती है। ज्योंही उत्पादक शक्ति जब भी बढ़ती है त्योंही जीविका के साधनों में भी बढ़ती हो जाती है। अर्थशास्त्र का नया अन्तर्विरोध उजागर हो जाता है।

की "माँग" वास्तविक माँग नहीं होती; उसके द्वारा किया जाने वाला "उपभोग" (consumption) कृत्रिम उपभोग होता है। अर्थशास्त्री की दृष्टि में तो केवल वही व्यक्ति वास्तव में माँग करता है, केवल वही व्यक्ति एक वास्तविक उपभोक्ता होता है जिसके पास जो चीज वह लेता है उसके बदले में देने के लिए कोई सम-मूल्य होता है। परन्तु यदि यह बात सच है कि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति जितना वह स्वयं उपभोग कर सकता है उससे अधिक पैदा करता है, कि बच्चे उन वृक्षों की तरह होते हैं जो उनमें लगायी गयी पूंजी के बदले में उससे कहीं अधिक मुनाफ़ा देते हैं—और ये बातें तो निश्चित रूप से सही ही हैं, है न?—तब फिर यह मान लिया जाना चाहिए कि प्रत्येक मजदूर उससे जितनी कि उसे आवश्यकता होती है कहीं अधिक पैदा कर सकता है और, इसलिए, जिस चीज की भी उसे जरूरत है उसके लिए उसकी व्यवस्था करने में समाज को बहुत खुश होना चाहिए; तथा मनुष्य के बड़े परिवार को समाज के लिए एक ऐसी भेंट मानना चाहिए जो कि अत्यंत स्वागत-योग्य है। किन्तु, अर्थशास्त्री का दृष्टिकोण तो भौंड़ा है, इसलिए उस भौतिक नक़दी के अतिरिक्त जो उसे दी जाती है, वह और किसी सम-मूल्य को नहीं जानता। अपने प्रतिवादों की दुनिया में वह इतनी बुरी तरह फँसा हुआ है कि उसे न तो स्पष्ट से स्पष्ट तथ्यों की उसे परवाह है और न अधिकतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों की।

अन्तर्विरोध का अन्त हम सीधे-सीधे उससे ऊपर उठकर (उसे transcend करके—अनु०) करते हैं। इस समय जो हित एक दूसरे के विरुद्ध है उनके मिलकर एक हो जाने से एक जगह अनियंत्रित जन संख्या होने और दूसरी जगह अतिरिक्त धन-सम्पदा होने के बीच का जो अन्तर्विरोध है वह मिट जाता है; इस अमीरी-गरीबी चमत्कारपूर्ण स्थिति का अन्त हो जाता है (यह स्थिति सभी धर्मों के सभी चमत्कारों को जोड़ दिया जाय तो भी उनसे अधिक चमत्कारपूर्ण सिद्ध होगी) कि एक राष्ट्र को भूखों इसलिए मरना पड़ता है कि उसके पास बहुत अधिक धन तथा (चीजों का—अनु०) अत्यधिक बाहुल्य है; और यह मूर्खतापूर्ण दावा भी समाप्त हो जाता है कि पृथ्वी में इतनी क्षमता नहीं है कि वह मनुष्यों को भरपेट खिला सके! ईसाईवादी अर्थशास्त्र (Christian economics) का यह सर्वोच्च दावा है—और इस बात को कि हमारा अर्थशास्त्र मूलतः ईसाईवादी है मैं प्रत्येक प्रस्थापना के आधार पर, प्रत्येक कोटि (category) के आधार पर सिद्ध कर दे सकता हूं और जल्दी ही वास्तव में ऐसा ही करूंगा।"[4] माल्थसवादी सिद्धान्त आत्मा और प्रकृति के बीच के अन्तर्विरोध से सम्बन्धित धार्मिक मत-सूत्र को, और उसके फलस्वरूप होने वाले दोनों के नैतिक पतन को

ही आर्थिक अभिव्यक्ति है। धर्म के सम्बन्ध में, तथा धर्म के ही साथ-साथ, इस अन्तर्विरोध को भी बहुत पहले ही दूर कर दिया जा चुका है; और, मैं आशा करता हूं कि; इस अन्तर्विरोध के निरे खोखलेपन को मैंने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी साफ़-साफ़ स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त, माल्थसवादी सिद्धान्त की ऐसी किसी भी हिमायत को मैं सक्षम नहीं मानूंगा जो, स्वयं उसके ही अपने सिद्धान्तों के आधार पर, मुझे यह नहीं समझा सकती कि किसी क़ौम के लोग निरे बाहुल्य के कारण कैसे भूखों मर सकते हैं और फिर अपने इस कथन को विवेक तथा वास्तविकता की कसौटी पर खरा नहीं सिद्ध कर देती।

साथ ही साथ, यह चीज़ भी निर्विवाद है कि यह माल्थसवादी सिद्धान्त सक्रमण का एक ऐसा आवश्यक प्रस्थान-बिन्दु बना है जिसने आगे की ओर एक बहुत बड़ा क़दम उठाने में हमारी सहायता की है। इसी सिद्धान्त की, तथा पूरे ही अर्थशास्त्र की कृपा से, हमारा ध्यान पृथ्वी तथा मानव-जाति की उत्पादक क्षमता की ओर आकर्षित हुआ है; और फिर इस आर्थिक निराशा पर क़ाबू पा लेने के बाद हम हमेशा-हमेशा के लिए जनाधिक्य के भय से मुक्त हो गये हैं। सामाजिक रूपान्तरण के पक्ष में उससे हमें सर्वाधिक सबल आर्थिक तर्क प्राप्त हुए हैं। क्योंकि, माल्थस पूरे तौर से भी यदि सही होता, तब भी रूपान्तरण की इस मुहिम को तत्काल ही हमें आरम्भ करना पड़ता; क्योंकि केवल इस रूपान्तरण से ही तथा इससे जन समुदायों को जो शिक्षा प्राप्त होती है उससे ही प्रजनन की प्रवृत्ति पर नैतिक आत्म-निग्रह का वह प्रतिबन्ध सम्भव हो सकता है जिसे माल्थस स्वयं जनाधिक्य (आवश्यकता से अधिक जनसंख्या—अनु०) की रोक-थाम के लिए सर्वाधिक कारगर तथा सहज उपाय के रूप में प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के माध्यम से मानवजाति के घोरतम अधःपतन का, प्रतियोगिता के प्रदेश पर उसकी निर्भरता का ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है। इसने हमें बतलाया है कि निजी सम्पत्ति ने किस प्रकार मानव को अन्ततोगत्वा एक ऐसे माल में बदल दिया है जिसका उत्पादन तथा विध्वंस भी माँग पर ही पूर्णतया निर्भर करता है; किस प्रकार प्रतियोगिता की व्यवस्था ने दसियों लाख लोगों का बर्बर संहार किया है और हर दिन बराबर करती रहती है। इस सब को हमने देखा है, और यह सब हमें इस बात के लिए ललकारता है कि निजी सम्पत्ति, प्रतियोगिता, तथा विरोधी हितों की इस व्यवस्था का उन्मूलन करके मानव-जाति की इस अधोगति का हम अन्त कर दें।

इसके बावजूद कि जनाधिक्य के सार्वभौमिक भय के लिए कोई सम्भावित आधार शेष न रह जाय—आइए, एक बार फिर [illegible]

उस सम्बन्ध पर विचार कर लें जो जनसंख्या के साथ उत्पादक-क्षमता का है। माल्थस ने एक सूत्र ढूंढ़ निकाला है। उसी को वह अपनी पूरी व्यवस्था का आधार बनाता है। वह कहता है कि जनसख्या मे ज्यामितीय श्रेणी के अनुसार वृद्धि होती है—१+२+४+८+१६+३२, आदि; (और—अनु०) जमीन की उत्पादक क्षमता में वृद्धि अंकगणितीय श्रेणी के अनुसार होती है—१+२+३+४+५+६। अन्तर स्पष्ट है, भयावह है; किन्तु क्या यह सही है? यह चीज कहाँ सिद्ध हो गयी है कि जमीन की उत्पादकता मे अंकगणितीय श्रेणी के अनुसार वृद्धि होती है? भूमि की मात्रा सीमित है। ठीक है। इस भूमि पर जिस श्रम-शक्ति को काम में लगाया जाता है वह जन सख्या के साथ-साथ बढ़ती जाती है। यदि हम इस बात को भी मान लें कि श्रम की वृद्धि के कारण पैदावार मे होने वाली वृद्धि मे हमेशा श्रम के अनुपात मे नहीं बढती होती: तब भी एक तीसरा तत्व रह जाता है—विज्ञान का तत्व—जिसकी प्रगति की क्षमता उतनी ही असीमित है और कम से कम उतनी ही तीव्र है जितनी कि जनसंख्या की प्रगति की। पर, निश्चय ही अर्थशास्त्री के लिए इस तत्व का कभी कोई महत्व नही रहा है। परन्तु इस शताब्दी की कृषि अपनी प्रगति के लिए अकेले रसायनशास्त्र,की ही—वास्तव मे, केवल दो व्यक्तियों, सर हम्फ्रेडेवी तथा जस्टस लाइबिग की ही—कितनी ऋणी है! किन्तु विज्ञान कम से कम उतनी तरक्की तो करता ही है जितनी कि आबादी। आबादी (जनसख्या) में पिछली पीढ़ी के आकार-विस्तार के अनुपात मे वृद्धि होती है, विज्ञान की तरक्की उस ज्ञान के अनुपात मे होती है जो पिछली पीढ़ी उत्तराधिकार में उसे सौंप जाती है। इस प्रकार, सामान्य से सामान्य परिस्थितियों मे भी उसकी तरक्की ज्यामितीय श्रेणी के अनुपात मे होती है। और विज्ञान के लिए असम्भव कौन चीज है? किन्तु जब तक कि "मिसीसिपी की घाटी मे ऐसी काफ़ी परती जमीन पड़ी हुई है जिसमें कि योरप की पूरी जनसख्या को बसा दिया जा सकता है"*; जब तक कि पृथ्वी के एक-तिहाई से अधिक भाग को ऐसा नहीं कहा जा सकता जिस पर खेती कर ली गयी हो; और जब तक कि स्वयं इस एक-तिहाई भाग के उत्पादन को भी—उन सुधारों का उपयोग करके जिनकी जानकारी प्राप्त हो चुकी है—छ:गुना और उससे भी अधिक बढ़ा लिया जा सकता है—तब तक आवश्यकता से अधिक आबादी की (जनाधिक्य की) बात करना एकदम बेतुकी चीज है।

इस प्रकार, प्रतियोगिता पूंजी को पूंजी के विरुद्ध, श्रम को श्रम के विरुद्ध,

---

* ए० एलिसन, पूर्व-उद्धृत कृति, पृष्ठ ५४८। ——स०

भू-सम्पत्ति को भू-सम्पत्ति के विरुद्ध भिड़ा देती है; और फिर इनमें से प्रत्येक दूसरे दो के विरुद्ध खड़ा कर देती है। संघर्ष में जो अधिक सबल होता है जीत जाता है; और संघर्ष के परिणाम के विषय में यदि भविष्यवाणी करनी तो हमें प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति का पता लगाना पड़ेगा। प्रारम्भ में, श्रम भू-सम्प और पूँजी दोनों से कमज़ोर होता है, क्योंकि भू-स्वामी लगान की आमदनी पर जिन्दा रह सकता है और पूँजीपति सूद की अपनी आमदनी पर, अथवा, आव कता पड़े तो, अपनी पूँजी अथवा पूँजीकृत अपनी भू-सम्पत्ति के सहारे जि बना रह सकता है; किन्तु मजदूर के लिए आवश्यक होता है कि अगर जिन्दा रहना चाहता है तो काम करे। इसका परिणाम यह होता है कि श्र हिस्से में केवल उसकी न्यूनतम आवश्यकताएँ, जीवन-निर्वाह के केवल न्यू साधन ही पड़ते हैं, और पैदावार का सबसे बड़ा भाग पूँजी और भू-सम्पत्ति बीच बँट जाता है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार कि अधिक बड़ी पूँजी अप छोटी पूँजी को और अधिक बड़ी भू-सम्पत्ति अपने से छोटी भू-सम्पत्ति बाज़ार से खदेड़ कर बाहर कर देती है, उसी प्रकार अधिक सबल मज़दूर से कमज़ोर मजदूर को बाज़ार से भगा देता है। व्यवहार इस निष्कर्ष की करता है। अधिक बड़े कारखानेदार और व्यापारी को अपने से छोटे कार दार और व्यापारी के मुक़ाबले में, और बड़े भू-स्वामी को एक एकड़ भू मालिक के मुकाबले में जो बेहतर स्थिति होती है उसे सभी जानते हैं। पि यह हुआ है कि, साधारण परिस्थितियों के अन्तर्गत ही, अधिक सबल के का अनुसार, बड़ी पूँजी और बड़ी भू-सम्पत्ति छोटी पूँजी और छोटी भू-सम्पत्ति लील जाती हैं--अर्थात्, सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण हो जाता है। व्यापार कृषि के संकटों के काल में केन्द्रीयकरण की यह प्रक्रिया और भी अधिक गति से आगे बढ़ती है। आम तौर से छोटी सम्पत्ति की अपेक्षा बड़ी स कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है, क्योंकि उसकी आमदनी में से सम्पत्ति-(*property-expenses*) के रूप में अपेक्षाकृत काफ़ी छोटा हिस्सा कटत निजी सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण का यह नियम भी निजी सम्पत्ति के अन्दर तरह निहित है जिस तरह कि अन्य सब नियम। मध्यम वर्ग तब तक नि खत्म होते जायेंगे जब तक कि दुनिया करोड़पतियों और कंगालों के बीच भू-स्वामियों और ग़रीब खेत मज़दूरों के बीच नहीं बँट जाती। इस प्र सामने सारे क़ानून, भू-सम्पत्ति के बंटवारे की सारी कार्रवाइयाँ, पूँजी को में विभक्त कर देने की सारी तदबीरें व्यर्थ सिद्ध होती हैं : यदि उससे परिस्थितियों का पूरे-तौर से रूपान्तरण नहीं हो जाता, वि विलयन नहीं हो जाता, निजी सम्पत्ति का परमोत्कर्ष (*Ueb*

lence) नही हो जाता तो, यह परिणाम निकलना अनिवार्य है, और अवश्यम्भावी रूप से सामने आयेगा ।

मुक्त व्यापार—जो कि हमारे वर्तमान-कालीन अर्थशास्त्रियो का आधार-स्तम्भ है, एक असम्भावना है । इजारेदारी कम से कम यह तो चाहती है कि उपभोक्ता की धोखा-धड़ी से रक्षा की जाय—चाहे अमल मे वह ऐसा कर न पाती हो । किन्तु इजारेदारी का उन्मूलन धोखा-धड़ी के लिए पूरा मार्ग उन्मुक्त कर देता है । आप कहते हैं कि प्रतियोगिता के अन्दर धोखाधड़ी को रोकने का उपाय मौजूद रहता है, क्योकि बुरी वस्तुओ को तो कोई भी नही खरीदेगा । पर इसका अर्थ तो यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह प्रत्येक वस्तु का विशेषज्ञ हो—जो कि सर्वथा असम्भव है । इसी से इजारेदारी की आवश्यकता पैदा होती है । अनेक वस्तुएँ वास्तव मे इसी बात को ज़ाहिर करती हैं । दवाइयो की निर्माणशालाओं, आदि के लिए आवश्यक है कि वे अपनी इजारेदारी क़ायम करें । और मुद्रा के लिए तो—जो कि सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है—इजारेदारी सबसे अधिक आवश्यक है । जब भी परिचारण का माध्यम (circulating medium) राजकीय इजारेदारी (state monopoly) नही रह गया है तभी हमेशा एक व्यापारिक संकट उसने खड़ा कर दिया है; और अंग्रेज अर्थशास्त्री, जिनमे डा० वाडे भी शामिल हैं, मानते हैं कि इस मामले मे इजारेदारी आवश्यक है । किन्तु इजारेदारी जाली मुद्रा (counterfeit money) से रक्षा नही कर सकती । आदमी इस प्रश्न के सम्बन्ध मे दो में से कोई भी एक दृष्टिकोण अपना ले सकता है जितना एक कठिन है उतना ही दूसरा । इजारेदारी मुक्त प्रतियोगिता को जन्म देती है, और मुक्त प्रतियोगिता, समय आने पर, इजारेदारी को जन्म देती है । अतएव, दोनो का पतन अवश्यम्भावी है, और इन कठिनाइयो का समाधान करने के लिए उस सिद्धान्त को ही इन्द्रियातीत बनाना होगा जो उन्हे जन्म देता है ।

प्रतियोगिता हमारे जीवन के सभी सम्बन्धों के अन्दर पैठ गयी है, और पारस्परिक दासता की उस प्रक्रिया को उसने पूरा कर दिया है जिसमें मनुष्य आज अपने को बाँधे हुए हैं । प्रतियोगिता ही वह ज़बर्दस्त प्रदान कमानी है जो हमारी बूढ़ी होती और मिटती हुई सामाजिक व्यवस्था अथवा, कहना चाहिए कि, अव्यवस्था को बारम्बार धक्का देकर क्रियाशील बना देती है; किन्तु, हर बार जब वह नया जोर लगाती है तो इस व्यवस्था की क्षीण होती हुई शक्ति के एक अंश को भी वह नष्ट कर देती है । प्रतियोगिता मानव-जाति की वस्त्वात्मक प्रगति को सुनिश्चित करती है; इसी प्रकार वह उसकी नैतिक प्रगति-

को भी संचालित करती है। जिसको भी अपराधों के आँकड़ों की कुछ भी जानकारी होगी उसे इस बात को देख कर आश्चर्य हुआ होगा कि अपराध (crimes) साल दर साल किस विचित्र नियमितता के साथ बराबर बढ़ते जाते हैं। उसने इस बात को भी देखा होगा कि किस प्रकार कुछ विशेष कारण कुछ विशेष प्रकार के अपराधों को उसी नियमितता के साथ जन्म देते हैं। कारखानों की व्यवस्था के विस्तार के साथ-साथ हर जगह अपराधों में भी वृद्धि हो जाती है। किसी भी बड़े शहर या जिले के सम्बन्ध में लगभग अचूक रूप से इस बात की एकदम सही-सही भविष्यवाणी की जा सकती है कि गिरफ्तारियों, (और) फौजदारी के मुकदमों की संख्या—हत्याओं, डकैतियों, छोटी चोरियों, आदि की संख्या—साल दर साल कितनी होगी। इंगलैंड में तो ऐसा काफ़ी बार किया भी जा चुका है। यह नियमितता इस बात को सिद्ध करती है कि अपराधों का भी संचालन प्रतियोगिता से ही होता है · कि समाज अपराध के लिए एक माँग पैदा करता है जिसे उसी के अनुरूप आपूर्ति के माध्यम से पूरा किया जाता है; कि गिरफ्तारियों आजीवन कारावास अथवा फाँसी की वजह से जो जगह खाली हो जाती है उसे दूसरे लोगों द्वारा तत्काल उसी तरह पूरा कर दिया जाता है जिस तरह कि जन संख्या के अन्दर होने वाली हर कमी को नये पैदा होने वालों द्वारा फ़ौरन पूरा कर दिया जाता है, कि, दूसरे शब्दों में, अपराध सजा के साधनों के ऊपर उसी तरह भारी बने रहते हैं जिस तरह कि लोग रोजगार के साधनों पर बराबर भारी बने रहते हैं। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत, यदि अन्य किन्हीं भी कारणों पर न विचार किया जाय तब भी, अपराधियों को सजा देना कितना न्यायपूर्ण है इसका फैसला मैं अपने पाठकों पर छोड़ देता हूँ। यहाँ मेरा मकसद केवल यह दिखलाना है कि प्रतियोगिता का विस्तार नैतिकता के क्षेत्र में भी हो गया है, और निजी सम्पत्ति ने मनुष्य को पतन के कितने गहरे गड्ढे में ढकेल दिया है।

श्रम के विरुद्ध पूँजी और जमीन के संघर्ष में, पहले दोनों तत्वों को श्रम के ऊपर एक और भी विशेष लाभदायक सुविधा प्राप्त है—विज्ञान की सहायता की सुविधा, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में विज्ञान का भी इस्तेमाल श्रम के विरुद्ध किया जाता है। उदाहरण के लिए, लगभग सभी यांत्रिक आविष्कार श्रम-शक्ति के अभाव के ही कारण हुए हैं। हारग्रीव्स, क्रॉम्पटन तथा आर्कराइट की सूती [illegible] की मशीनों का आविष्कार ठीक इसी कारण हुआ था। श्रम के [illegible] [illegible] कभी नहीं हुई जिसके लिए किसी न किसी एक आविष्कार को [illegible] हो जिससे श्रम की उत्पादकता में काफ़ी वृद्धि हो गयी थी और [illegible] की मांग घट गयी थी। इंग्लैंड में १७७० से [illegible]

इतिहास इस बात का बराबर साक्षी है। सूत की कताई से सम्बन्धित पिछल महान आविष्कार, स्वतः कार्यरत चर्खे (सेल्फ-एक्टिंग-म्यूल: self-acting mule का आविष्कार केवल श्रम की मांग तथा बढ़ती हुई मजदूरियों की ही वजह हुआ था। मशीन के श्रम को उसने दुगना कर दिया था और, इस प्रकार, हा के श्रम को घटा कर आधा कर दिया था, आधे मजदूरों को उसने काम से निकाल दिया था और, इस प्रकार, अन्य मजदूरों की मजदूरी को भी घटाकर आधा कर दिया था; फैक्टरी के मालिकों के विरुद्ध मजदूरों के एक षड्यन्त्र को उसने कुचल दिया था और पूंजी के विरुद्ध अपने असमान संघर्ष में जिस शक्ति के आधार पर श्रम अब तक भी डटा हुआ था उसके अन्तिम अवशेषों को भी उसने नष्ट कर दिया था (देखिए डा० उरे की पुस्तक : "कारखानेदारों का दर्शन", खण्ड २)। परन्तु अर्थशास्त्री अब यह कहता है कि अपने परिणाम की दृष्टि से मशीनें मजदूरों के लिए हितकर ही होती हैं क्योंकि उत्पादन को वे अपेक्षाकृत सस्ता बना देती हैं और इस प्रकार उनकी पैदावार के लिए एक नये तथा और भी अधिक बड़े बाजार की सृष्टि कर देती है, और, इस भांति, अन्ततोगत्वा, उन मजदूरों को वे पुनः काम में लगा लेती हैं जिन्हें काम से निकाल दिया गया था। बिल्कुल ठीक। किन्तु, अर्थशास्त्री इस बात को क्या फिर भूले जा रहा है कि श्रम-शक्ति का उत्पादन प्रतियोगिता के द्वारा विनियमित होता है, कि श्रम शक्ति सदा ही रोजगार के साधनों के ऊपर भारी दबाव डालती रहती है, और, इसलिए, उसके लिए लाभदायी ये सुविधाएँ जब उसके हित में काम आने की स्थिति में होती हैं तब मजदूरों के सामने प्रतिद्वन्द्वियों की एक अतिरिक्त संख्या पहले से ही काम के लिए तैयार उनकी प्रतीक्षा करती होती है, जिसकी वजह से ये सारी लाभदायी सुविधाएँ मात्र एक भ्रम-जाल बन कर रह जाती हैं; किन्तु मशीनों के कारण जो नुकसान होते हैं—आधे मजदूरों के हाथ से जीवन निर्वाह के साधनों के अचानक छीन लिये जाने तथा शेष आधे मजदूरों की मजदूरी में कमी आ जाने के कारण—वे कतई भ्रान्तिपूर्ण नहीं होते ? अर्थशास्त्री क्या इस बात को भूल रहा है कि आविष्कारों की प्रगति-यात्रा कभी रुकती नहीं और, इसलिए, ये नुकसान पहुंचाने वाली चीजें अपने को चिर-स्थायी बना लेती हैं ? क्या वह इस बात को भूल रहा है कि श्रम-विभाजन की व्यवस्था का हमारी सभ्यता द्वारा इतने उच्च स्तर तक विकास कर दिये जाने के बाद, मजदूर केवल तभी जिन्दा रह सकता है जब कि उसे एक अमुक मशीन में काम के एक अमुक अंश को करने के लिए लगा दिया जाय; कि रोजगार के एक धन्धे से दूसरे, अधिक नये, धन्धे में लग सकना वयस्क मजदूर के लिए हमेशा ही लगभग पूर्णतया असम्भव होता है ?

जब मैं मशीनों के प्रभावों की ओर ध्यान देता हूं तो मेरा ध्यान एक दूसरे विषय की ओर चला जाता है जो प्रत्यक्ष रूप से कुछ कम प्रासंगिक है— अर्थात् फैक्टरी की व्यवस्था की ओर। यहाँ पर इस विषय में विचार करने की न तो मेरी इच्छा और न उसके लिए मेरे पास समय ही है। इसके अतिरिक्त, मुझे आशा है कि इस व्यवस्था की घृणित अनैतिकता की विस्तार के साथ व्याख्या करने का तथा अर्थशास्त्री के उस पाखण्डीपन का निर्ममता के साथ पर्दाफाश करने का मुझे जल्दी ही अवसर मिलेगा—जो यहाँ अपनी सारी चमक-दमक के साथ शोभायमान दिखलायी दे रहा है।"

अक्तूबर और नवम्बर, १८४३ में लिखित।

पत्रिका के पाठ के अनुसार मुद्रित

सर्वप्रथम १८४४ में "ड्यूश-फ्रान्ज़ोशिस्चे जाहबुख़ेर" नामक पत्रिका में प्रकाशित।

टिप्पणियाँ
तथा अनुक्रमणिकाएँ

9317

टिप्पणियाँ

१- "अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ" मार्क्स की वह पहली कृति है जिसमे परिपक्व होते हुए अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी तथा कम्युनिस्ट विचारों के दृष्टिकोण से राजनीतिक अर्थशास्त्र की समस्याओ को व्यवस्थित रूप से सुसम्पादित करने का प्रयास उन्होने किया था तथा, उस समय प्रचलित दार्शनिक और अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे, अपने आलोचनात्मक विचारो के निष्कर्षों का भी संश्लेषण किया था।

स्पष्टतया, आरम्भ मे इस पाण्डुलिपि को मार्क्स ने समस्याओ के सम्बन्ध मे स्वयं अपने विचारों को स्पष्ट करने की दृष्टि से लिखा था। किन्तु जिस समय इस कृति पर वह काम कर रहे थे उस समय उनके मन मे यह विचार आया कि अपने समय के पूजीवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था तथा विचारधारात्मक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए वह एक पुस्तक प्रकाशित करें। पेरिस में अपने निवास-काल के अंतिम दिनों में, १ फरवरी, १८४५ को, डार्मस्टॉड के एक प्रकाशक, कार्ल लेस्के के साथ "राजनीति तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना" के नाम से एक पुस्तक लिखने का उन्होने इकरार-नामा (अनुबन्ध) किया।

इस रचना का आधार वह अपनी "अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ पाण्डुलिपियों" को तथा, सम्भवतः, अपनी पहले की एक और पाण्डुलिपि, "हेगेल के क़ानून सम्बन्धी दर्शन की आलोचना" को बनाना चाहते थे। उस समय उनकी यह योजना पूरी नहीं हो सकी, क्योंकि मार्क्स दूसरी पुस्तकें लिखने मे व्यस्त थे। किसी हद तक इसका एक कारण यह भी था कि प्रकाशक के साथ उनका जो अनुबन्ध हुआ था वह सितम्बर, १८४६ मे रद्द हो गया था, क्योंकि प्रकाशक ऐसे एक क्रान्तिकारी लेखक के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के विचार से डर गया था। परन्तु, (१९वीं शताब्दी के) छठे दशक के आरम्भ मे अर्थशास्त्र पर एक पुस्तक लिखने का विचार फिर मार्क्स के मस्तिष्क मे उठा। इस भाँति, १८४४ की पाण्डुलिपियों का सम्बन्ध उसी योजना से है जिसके आधार पर कई वर्ष बाद मार्क्स ने अपने ग्रंथ "पूंजी" की रचना की थी।

'अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ' एक अपूर्ण रचना है और अन्ततः मात्र एक कच्चा मसौदा है। इसके मूल पाठ का काफ़ी भाग खो गया है। जो बच गया है उसमें तीन पाण्डुलिपियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक का अपना अलग-अलग पृष्ठ-क्रम (रोमन अंकों में) है। पहली पाण्डुलिपि में २७ पृष्ठ हैं जिनमें से १ से १२ तथा १७ से २७ पृष्ठ दो खड़ी रेखाओं से तीन कालमों में विभाजित कर दिये गये है। उनके निम्न शीर्षक भी पहले से ही लिखे हुए थे: "श्रम की मजदूरी," "पूंजी का मुनाफ़ा" (इस भाग में स्वयं लेखक द्वारा ही लिखे गये उप शीर्षक भी मौजूद हैं) तथा "ज़मीन का लगान"। यह बतला सकना कठिन है कि इन कालमों को मार्क्स ने किस क्रम से भरा था। पृष्ठ सात (७) पर जो तीन कालम हैं उनमें "श्रम की मजदूरी" वाले भाग का मूल पाठ दिया हुआ है। १३ से १६ तक (xiii-xvi) तक के पृष्ठ दो कालमों में विभाजित हैं और "श्रम की मजदूरी" से सम्बन्धित अंशों का (पृष्ठ xiii-xv), "पूंजी का मुनाफ़ा" (पृष्ठ xiii-xvi) तथा 'ज़मीन का लगान" (पृष्ठ xvi) के मूलपाठ दिये गये हैं। १७ से २१ (xvii-xxi) तक के पृष्ठों पर केवल 'ज़मीन का लगान" वाले कालम को लिखकर पूरा किया गया है। पृष्ठ २२ से लेकर पृष्ठ २७ तक (xxvii), जहाँ पहुंचकर पाण्डुलिपि का क्रम टूट जाता है, मार्क्स ने शीर्षकों की उपेक्षा करते हुए इस किनारे से उस किनारे तक तीन कालमों में कुछ दूसरी ही चीज़ लिखी है: इन पृष्ठों के मूल पाठ को सम्पादकों ने उसकी विषय-वस्तु के आधार पर "पृथक्कृत श्रम" का शीर्षक देकर एक अलग अनुभाग में दे दिया है।

दूसरी पाण्डुलिपि के केवल अन्तिम चार पृष्ठ (पृष्ठ xL—xLiii ४० से ४३) ही बच पाये हैं।

तीसरी पाण्डुलिपि में (खाली पृष्ठों को छोड़कर) ४१ पृष्ठ हैं। ये दो कालमों में बँटे हुए हैं। इनकी पृष्ठ संख्या १ से ४३ (i से xLiii) तक स्वयं मार्क्स ने अपने हाथ से डाली थी (ऐसा करते समय वह दो संख्याएँ २२ और २५ (xxii—xxv) लिखना भूल गये थे। दूसरी पाण्डुलिपि के सुरक्षित अंश की ही तरह, तीसरी पाण्डुलिपि में भी लेखक ने कोई शीर्षक नहीं दिये हैं; मूल पाठ को सम्पादकों ने क्रमबद्ध किया है तथा शीर्षक भी उन्हीने दिये हैं।

लिखते समय कभी-कभी मार्क्स मूल विषय-वस्तु से दूर चले जाते थे और प्रश्न का विशदीकरण करते-करते उसे रोककर दूसरे प्रश्न का विश्लेषण लगते थे। ३९ से ४० (xxxix—xL) पृष्ठ पर उनका वह सामान्य पाया जाता है जिसे पहली पाण्डुलिपि के मूलपाठ से पहले इस पुस्तक

में दिया गया है। हीगेल के द्वन्द्ववाद के आलोचनात्मक विश्लेषण से सम्बन्धित अनुभाग का मूल पाठ, जिसका मार्क्स ने अपने प्राक्कथन में अन्तिम अध्याय के रूप में उल्लेख किया है, भिन्न-भिन्न पृष्ठों पर बिखरा हुआ था। मार्क्स के संकेतों के अनुसार उसे एक अनुभाग में क्रम-बद्ध करके अन्त में दे दिया गया है।

रचना के ढाँचे का चित्र पाठक के सामने अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट करने के लिए पाण्डुलिपि के पृष्ठों की संख्याओं को मूलपाठ में खड़ी रेखाओं के रूप में ज्यों का त्यों दे दिया गया है। टिप्पणियाँ स्पष्ट कर देती हैं कि मूल पाठ को कहाँ ब्यौरेवार फिर से व्यवस्थित किया गया है। उन अंशों को जिन्हें एक सीधी रेखा से मार्क्स ने काट दिया था नोकदार कोष्ठकों में दे दिया गया है, उन अलग-अलग शब्दों या शब्द-पदों को जिन्हें लेखक ने काट दिया था पृष्ठ के नीचे टिप्पणी के रूप में केवल वहीं दिया गया है जहाँ वे मूल पाठ के अनुपूरक का काम करते हैं। पाण्डुलिपियों के विभिन्न भागों का आम नाम तथा उनके *अलग-अलग उप शीर्षक, जो चतुष्कोण कोष्टकों में बन्द हैं लेखक के सूत्रीकरणों* के ही आधार पर सम्पादकों ने जोड़ दिये हैं। कुछ जगहों पर मूल पाठ को सम्पादकों ने अलग-अलग पैराग्राफों में बाँट कर रख दिया है। फ्रान्सीसी स्रोतों से मार्क्स द्वारा फ्रान्सीसी भाषा में दिये गये उद्धरणों को अथवा जर्मन भाषा में किये गये उनके अपने अनुवाद को—दोनों ही स्थितियों में अंग्रेजी में दिया गया है और मार्क्स द्वारा उद्धृत किये गये फ्रान्सीसी भाषा के मूलपाठों को पृष्ठ के नीचे टिप्पणियों के रूप में दिया गया है। उद्धरणों में जिन शब्दों पर जोर दिया गया है वह जोर आम-तौर पर स्वयं मार्क्स ने दिया था; उन्हें, तथा जिन लेखकों के उद्धरण लिये गये हैं उनके द्वारा शब्दों पर दिये गये जोर को, हर जगह काले टाइप में जता दिया गया है।

"अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ" को सर्वप्रथम मास्को में वहाँ के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान ने मूल भाषा में प्रकाशित किया था: मार्क्स/एंगेल्स, Gesamtausgabe, Erste Abt, खण्ड ३, १९३२।

अंग्रेजी में इस कृति को सर्वप्रथम "विदेशी भाषा प्रकाशन गृह" (अब "प्रगति प्रकाशन") ने मास्को में प्रकाशित किया था। अंग्रेजी में इसका अनुवाद मार्टिन मिलीगन ने किया था। पृष्ठ १७

२. यहाँ ब्रूनो बेयर की यहूदियों के प्रश्न से सम्बन्धित पुस्तकों की आलोचनाओं, लेखों तथा उन पुस्तिकाओं (पेम्फ़लेटों), की ओर संकेत किया जा रहा है जिनमें इस विषय पर ड्यूश—फ्रान्ज़ोसिश्चे जाहर्बोखेर में छपा मार्क्स का भी लेख शामिल है।

इन्हें "Von den neuesten Schriften uber die Judenfrage" के शीर्षक से "Allgemeine Literatur-Zeitung" नामक मासिक पत्रिका (अंक १, दिसम्बर १८४३, तथा अंक ४, मार्च १८४४) में प्रकाशित किया गया था।

जिन कथनों को उद्धृत किया गया है उनमें से अधिकांश इन्हीं समालोचनाओं में से लिये गये हैं। "काल्पनिक शब्दाडम्बर" तथा "ठोस जन समुदाय" आदि कथनों को ब्रूनो बेयर के महत्त्वाकांक्षित लेख, "Was ist jetzt der Gegenstand der Kritik ?" में देखा जा सकता है। उनका यह लेख जुलाई १८४४ में "Allgemeine Literatur-Zeitung" के अंक ८ में छपा था। इस मासिक पत्रिका का विस्तृत आलोचनात्मक मूल्यांकन बाद में मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी कृति "पवित्र परिवार, अथवा आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना" में किया था (देखिए : मार्क्स/एंगेल्स, "ग्रन्थावली", खण्ड २, बर्लिन, १९५८, पृष्ठ ३–२२३)। पृष्ठ २०

३. मार्क्स यहाँ स्पष्टतया वाइटलिंग की रचनाओं : "Die Menschheit, wie sie ist und wie sie sein sollte" (पेरिस, १८३८) तथा "Garantien der Harmonie und Freiheit" (विविस, १८४२) का हवाला दे रहे हैं।

मोज़ेज़ हेस ने तीन लेखों को "Einundzwanzig Bogen aus der Schweiz" (स्विटज़रलैण्ड से प्राप्त इक्कीस पन्ने) नामक संग्रह में (१८४३ में ज्यूरिख तथा विण्टरथुर से) छापा था। इस संग्रह को जोर्ज हरवेग ने प्रकाशित किया था। इन लेखों के शीर्षक निम्न प्रकार थे : "सोशलिज्म और कम्युनिज्म", "कर्म का दर्शन" तथा "Die Eine und die ganze Freiheit"।

इन लेखों को बिना किसी लेख का नाम दिये प्रकाशित किया गया था। उनमें से पहले दो के साथ यह टिप्पणी जुड़ी हुई थी : "Europaische Triarchie के प्रकाशक द्वारा लिखित"। पृष्ठ २०

४. हीगेलीय दर्शन में "तत्व" शब्द का अर्थ चिन्तन का प्राणमूलक तत्व होता है। इसका प्रयोग इस बात पर बल देने के लिए किया जाता है कि चिन्तन एक प्रक्रिया है, और इसलिए चिन्तन की किसी प्रणाली के ये तत्व गति के विकास की अवस्थाएँ (मंजिलें) भी होते हैं। शब्द "भावना" (Empfindung) मानसिक जीवन के अपेक्षाकृत ऐसे निम्न स्वरूपों की ओर संकेत करता है जिनमें मनोगत और वस्तुगत के बीच कोई भेद नहीं किया जाता। पृष्ठ २२

५. इस प्रस्तावना को लिखने के कुछ ही दिन बाद मार्क्स ने अपने इस कौ "पवित्र परिवार, अथवा आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना" लिख

कर पूरा किया। इसे उन्होंने एंगेल्स के सहयोग से लिखा था। (टिप्पणी २ देखिए) पृष्ठ २३

६. "साधारण मानवता" : इन शब्दों को (पाण्डुलिपि में फ्रान्सीसी भाषा में "simple humanite" लिखा गया है) मार्क्स ने एडम स्मिथ की कृति "राष्ट्रों की सम्पदा" के प्रथम खण्ड (अध्याय ८) से लिया था। इनका इस्तेमाल गार्नियर के १८०२ के फ्रान्सीसी अनुवाद (Recherches Sur la nature et les causes de la richesse des nations, पेरिस, खण्ड १, पृष्ठ १३८) में किया गया था। बाद में मार्क्स ने जो हवाले दिये थे उन सबका सम्बन्ध इसी प्रकाशन से था। पेरिस की उनकी "नोट-बुकों" में इस प्रकाशन का सारांश, मय राजनीतिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित उसके उद्धरणों के, मौजूद है। पर वर्तमान पुस्तक में उक्त रचना से जहाँ भी उद्धरण या हवाले दिये गये हैं उनकी पृष्ठ संख्याओं का सम्बन्ध एडम स्मिथ द्वारा रचित "राष्ट्रों की सम्पदा" के "एवरीमैन" के पुस्तकालय संस्करण के खण्ड १ से है। गार्नियर के संस्करण के सन्दर्भों को चतुष्कोण कोष्ठकों में इंगित किया गया है। पृष्ठ २४

७. "राजनीतिक अर्थशास्त्र" के लिए मार्क्स जर्मन पारिभाषिक शब्द "Nationalokonomie" का प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग वे दो अर्थों में करते हैं : विज्ञान अथवा सिद्धान्त के अर्थ में तथा आर्थिक व्यवस्था के अर्थ में।

पृष्ठ ३०

८. लूदोन की पुस्तक एक अंग्रेजी पाण्डुलिपि का (जो कि, लगता है कि, मूल अंग्रेजी में कभी नहीं प्रकाशित हुई थी) फ्रान्सीसी भाषा में अनुवाद थी। लेखक ने अंग्रेजी में एक छोटी-सी पुस्तिका अवश्य छापी थी। उसका नाम था, "जनसंख्या तथा उसके भरण-पोषण के बीच का सन्तुलन प्रमाणित", लीमिंगटन, १८३६। पृष्ठ ३९

९. सी० पेक्वेयर तथा ई० बुरेत जैसे अनेक फ्रान्सीसी लेखकों के उद्धरणों को अपनी पाण्डुलिपि में मार्क्स ने फ्रान्सीसी भाषा में ही दिया है : किन्तु जे. बी. से. की पुस्तक से जिन अंशों को उन्होंने उद्धृत किया है उन्हें उन्होंने स्वयं अनुवाद करके जर्मन भाषा में दिया है। पृष्ठ ४४

१०. अभी तक एडम स्मिथ के ग्रन्थ से (उसके फ्रान्सीसी अनुवाद से) जो उद्धरण मार्क्स देते थे वे कभी फ्रान्सीसी में और कभी जर्मन भाषा में होते थे, किन्तु पाण्डुलिपि के इस पृष्ठ से आगे, आमतौर से, अब उन्हें जर्मन भाषा में ही दिया गया है। इस पुस्तक में फ्रान्सीसी संस्करण के पृष्ठों की संख्या के बजाय

अंग्रेज़ी संस्करण के सम्बन्धित पृष्ठों की ही संख्या दी गयी है और मार्क्स के हवालों को चतुष्कोण कोष्ठकों में दे दिया गया है (देखिए : टिप्पणी ६)। पृष्ठ ४२

११. इस स्थल पर और इसके बाद छोटे टाइप में जो पाठ छपा है वह स्मिथ के ग्रन्थ का एकदम सही-सही उद्धरण होने के बजाय उसके सम्बन्धित अंशों का संक्षिप्त सार है। आगे चलकर पुस्तक के ऐसे अंशों को छोटे टाइप में, किन्तु बिना उद्धरण चिन्हों के, दिया गया है। पृष्ठ ४६

१२. पहली पाण्डुलिपि के पिछले पृष्ठ (पृष्ठ ७) पर "पूंजी का मुनाफ़ा" तथा "ज़मीन का लगान" से सम्बन्धित अंशों का पाठ मौजूद नहीं है (देखिए : टिप्पणी ११। पृष्ठ ५३

१३. इस पूरे पैराग्राफ़ को, जिसमें कि रिकार्डो की पुस्तक के एफ़० एस० कान्सटेन्सियो द्वारा किये गये फ़ान्सीसी अनुवाद, Des principes de l'economie politique et de l'impot (राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, तथा कराधान), पेरिस, १८३५, खण्ड २, पृष्ठ १९४–९५ (पुस्तक के अंग्रेज़ी संस्करण : "On the Principles of Political Fconomy and Taxation," लन्दन, १८१७ को भी देखिए), तथा सिस्मान्दी की कृति "Nouveau Principes de' economie politique" (राजनीतिक अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्त), पेरिस, १८१९, खण्ड २, पृष्ठ ३३१ का उद्धरण शामिल है, ई० बुरेत की कृति, "De la misere des classes laborieuses en Angleterre et en Faance" (इंगलैण्ड और फ़ान्स में मज़दूर वर्ग की दुर्दशा), पेरिस, १८४०, खण्ड १, पृष्ठ ६–७, से लिया गया है। पृष्ठ ६४

१४. निम्न लेखांश की ओर संकेत किया गया है : 'पूरे तौर से ईमानदारी के साथ खोली गयी लाटरी में जिन्हें इनाम मिलते हैं उन्हें वह सब लाभ के रूप में मिल जाना चाहिए जिसे वे लोग गँवाते हैं जिनके हाथ कुछ नहीं लगता। एक ऐसे पेशे में जिसमें एक व्यक्ति की सफ़लता को सम्भव बनाने के लिए २० व्यक्ति असफल होते हैं, उस एक व्यक्ति को वह सब लाभ के रूप में प्राप्त होना चाहिए जो असफल बीस को मिलना चाहिए था''। (स्मिथ, पूर्व उद्धृत कृति, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ६४)। पृष्ठ ६८

१५. देखिए : टिप्पणी १२। पृष्ठ ७५

१६ गल्ला क़ानून : कई क़ानून जो इंगलैण्ड में, इसलिए पास किये गये थे कि घरेलू बाजार में गल्ले की क़ीमतों को ऊँचा बनाये रखने के उद्देश्य

से बाहर से आने वाले (आयातित) अनाजों पर ऊँची चुंगी लगा दी गयी थी (इस सम्बन्ध में पहला क़ानून बहुत पहले पन्द्रहवीं शताब्दी मे ही पास किया जा चुका था)। १९वीं शताब्दी के प्रथम एक-तिहाई भाग में कई ऐसे क़ानून (१८१५, १८२२, आदि-आदि में) पास किये गये थे जिनके द्वारा अनाज के आयात से सम्बन्धित परिस्थितियों को बदल दिया गया था। १८२८ मे एक सर्पी अनुमाप (स्लाइडिंग स्केल) की व्यवस्था लागू कर दी गयी थी। इससे अनाज के आयात पर करों का बोझ बढ गया था और घरेलू बाज़ार मे क़ीमतें घट गयीं थीं।

१८३८ मे मेन्चेस्टर के कारख़ानों के मालिकों कॉबडेन और ब्राइट ने गल्ला क़ानून विरोधी संघ (एण्टी-कौर्न-लॉ लीग) की स्थापना की। अनाज की बढ़ती हुई क़ीमतों से उत्पन्न जनता के असन्तोष का इस सघ ने व्यापक रूप से इस्तेमाल किया। अनाज करो को समाप्त करने तथा व्यापार की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने की माँग के लिए आन्दोलन करते हुए यह सघ इस बात की कोशिश करता था कि भू-सम्पत्ति से सम्बन्धित अभिजात वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ कमजोर हो जायें और मजदूरो की भी मजदूरियाँ घट जायें।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग तथा भू-सम्पत्ति से सम्बन्धित अभिजात वर्ग के बीच के इस सघर्ष के फलस्वरूप गल्ला क़ानूनों को १८४६ मे रद्द कर दिया गया था। पृष्ठ ७७

१७ पृष्ठ १३ से १५ तक (XIII-XV) दो कालमों में बँटे हुए हैं; पहली पाण्डुलिपि के अन्य पृष्ठों की तरह इन्हें तीन कालमो मे नहीं बाँटा गया है। उनमें "जमीन का लगान" वाले अंश से सम्बन्धित मूल पाठ नहीं है। पृष्ठ १६ (XVI) पर, जिसमे कि दो कालम हैं, यह पाठ पहले कालम मे दिया गया है। बाद के पृष्ठों पर उसे दूसरे कालम मे दिया गया है। पृष्ठ ७९

१८. विरोधी तत्वों की एकता के सम्बन्ध मे अब भी हीगेल की पारिभाषिक शब्दावली तथा उनके दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए, मार्क्स Entwicklung (आत्म-सिद्धि का लोप) के मुक़ाबले मे Verwirklichung (आत्म-सिद्धि) शब्द को रखते हैं। पृष्ठ ९०

१९. अपनी दूसरी रचनाओं की तरह इस पाण्डुलिपि मे भी "परकीयकरण" के विचार को व्यक्त करने के लिए मार्क्स ने दो जर्मन पारिभाषिक शब्दो Entausserung तथा Entfremdung का इस्तेमाल किया है। इस कृति मे पहले वाले शब्द का अनुवाद आम तौर से "परकीयकरण" के रूप मे तथा बाद

के समाज की एक विशेषता के रूप में स्त्रियों पर सबका मिला-जुला स्वामित्व होगा ! इस चीज को उपभोग सम्बन्धी कम्युनिस्टी आदर्शों के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। १५३४-३५ में जर्मनी के अनाबैपटिस्टों (पुनर्दीक्षा में विश्वास करने वाले लोगो) ने, जिन्होंने मुन्सटर में सत्ता पर अधिकार कर लिया था, इसे समझदारी के अनुसार बहुपत्नीत्व की प्रथा चालू करने चेष्टा की थी। "Civitas Solis" के लेखक, तोम्मासो कैम्पानेला ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में अपने आदर्श समाज में एक-पत्नीत्व की प्रथा को नामन्जूर कर दिया था। आदिमकालीन कम्युनिस्टी समुदायों की यह भी विशेषता थी कि वे त्याग-संयम में विश्वास करते थे तथा विज्ञान एवं कला की कृतियों के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे। इनमें से कुछ आदिमकालीन समतावादी लक्षणों को, विशेष रूप से कलाओं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को, १९वीं शताब्दी के प्रथम अर्धांश की कम्युनिस्टी प्रवृत्तियों ने विरासत में प्राप्त किया था। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे और पांचवें दशकों में फ्रान्सीसी गुप्त सोसायटियों ने ('मजदूर समतावादियों," "मानवतावादियों" आदि ने) उन्हें इसी प्रकार उत्तराधिकार में पाया था। उनमें बाबूफ़ के अनुयायी थे (इनके चरित्र-चित्रण के लिए एंगेल्स की रचना, "महाद्वीप पर सामाजिक सुधार की प्रगति" को देखिए: मार्क्स/एंगेल्स, सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड [illegible] बर्लिन, १९६९, पृष्ठ ४८०-९६)। पृष्ठ १२३

३१. यह टिप्पणी मार्क्स ने पाण्डुलिपि के पृष्ठ ५ पर लिखी है। [illegible] उन्होंने मुख्य पाठ से एक क्षैतिज (पड़ी) रेखा के द्वारा अलग कर दिया है किन्तु अर्थ के अनुसार उसका सकेत इसी अंश की ओर है। पृष्ठ १२३

३२. पाण्डुलिपि का यह भाग उस पारिभाषिक शब्दावली की विलक्षणता को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है जिसका मार्क्स ने अपनी रचनाओं में इस्ते-माल किया है। उस समय तक उन पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने निर्माण नहीं किया था जो वैज्ञानिक कम्युनिज्म की उन धारणाओं को पर्याप्त रूप से व्यक्त कर सकें जिनका वह विकास कर रहे थे। इस सम्बन्ध में वह तब तक फ़्रायरबाख के ही प्रभाव में थे। मार्क्स की पारिभाषिक शब्दावली का अपूर्ण स्वरूप भी उनकी शिक्षाओं की अपूर्ण स्थिति के ही अनुरूप था। इसीलिए, शब्दों के प्रयोग में वह अन्तर हमें देखने को मिलता है जो उनकी प्रारम्भिक तथा बाद की परिपक्व [illegible] में मौजूद है। "अर्थशास्त्र तथा दर्शन सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियों" [illegible] शब्द का प्रयोग मार्क्स ने सामाजिक विज्ञान के विकास [illegible] करने के लिए नहीं, बल्कि समाज की उस अवस्था को बताने के लि[illegible]

किया है जिसमें वह क्रान्तिकारी रूपान्तरण के काम को पूरा कर लेता है और निजी सम्पत्ति, वर्ग-विरोधों, परकीयकरण, आदि-आदि का उन्मूलन कर चुका होता है। "कम्युनिज्म बराबर है मानवतावाद के"—इस उक्ति का भी प्रयोग मार्क्स ने इसी अर्थ में किया है। "स्वयं कम्युनिज्म" को उस समय वह क्रान्तिकारी रूपान्तरण के अन्तिम लक्ष्य के रूप मे नही, बल्कि इस रूपान्तरण की एक प्रक्रिया के रूप मे, एक ऐसे विकास-क्रम के रूप मे देखते-समझते थे जो अन्त में उस लक्ष्य तक पहुचा देगा। वह उसे उस प्रक्रिया की अपेक्षाकृत एक नीची अवस्था के रूप मे देखते थे। पृष्ठ १३७

३३. इस कथन में स्पष्टतया अंग्रेज भू-गर्भशास्त्री, सर चार्ल्स लियेल के स सिद्धान्त का हवाला दिया जा रहा है जिसमे, तीन खण्डों की अपनी कृति भू-गर्भशास्त्र के सिद्धान्त" (१८३०-३३) के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि पृथ्वी की परपटी (भू-पृष्ठ) का क्रमशः विकास हुआ है। इसी के साथ-साथ उन्होंने जल-प्लावनों (महा प्रलय) के आम-तौर से प्रचलित सिद्धांत का भी खण्डन कर दिया था। अपने सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए लियेल ने "ऐतिहासिक भू-गर्भ शास्त्र" शब्द-पद का प्रयोग किया था। "रचना-भौमिकी" (geognosy) शब्द का प्रचलन १८वी शताब्दी के जर्मन वैज्ञानिक अब्राहम वर्नर ने, जो कि खनिज विज्ञान के विशेषज्ञ थे, शुरू किया था। एलेक्जेण्डर हम्बोल्ट ने भी उसका प्रयोग किया था। पृष्ठ १३८

३४. शोधकर्ता इस कथन की भिन्न-भिन्न ढग से व्याख्या करते हैं। उनमें से कई कहते है कि मार्क्स का आशय इससे अपरिष्कृत, समतावादी उस तरह के कम्युनिज्म (साम्यवाद) से था जिसका प्रतिपादन बाबूफ और उनके अनुयायियो द्वारा किया जा रहा था। उस कम्युनिज्म की ऐतिहासिक भूमिका को वह स्वीकार करते थे, किन्तु उनका विचार था कि उसके कमजोर पक्षो की उपेक्षा कर सकना भी असम्भव था। किन्तु इस कथन की व्याख्या उन विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो के आधार पर करना—जिनका पाण्डुलिपि मे प्रयोग किया गया है (देखिए टिप्पणी ३२) अधिक औचित्यपूर्ण लगता है। 'कम्युनिज्म" शब्द का प्रयोग मार्क्स ने यहां वर्ग-विहीन समाज की उच्चतर अवस्था को जताने के लिए नहीं किया था (वर्ग-विहीन समाज की इस उच्चतर अवस्था को जतलाने के लिए वह उस समय "समाजवाद" (सोशलिज्म) अथवा "कम्युनिज्म जो मानवतावाद के बराबर है" शब्दों का प्रयोग करते थे)। उसका (कम्युनिज्म शब्द का) इस्तेमाल उस गति की ओर (विभिन्न रूपों में, जिनमे कि समतावादी कम्युनिज्म की प्रारंभिक अवस्था के आदिम-कालीन स्वरूप भी शामिल थे)

४१. जीव विकास विज्ञान (ontology) : कुछ दार्शनिक प्रणालियों में, वे सत्ता (being) के सिद्धान्त के रूप में, वस्तुओं की प्रकृति के सिद्धान्त के प में प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ १६७

४२. आरम्भ में हीगेलीय द्वन्द्ववाद से सम्बन्धित अनुभाग की कल्पना र्स ने स्पष्टतया एक दार्शनिक विषयान्तरण के रूप में की थी। इसे तीसरी डुलिपि के एक भाग में "निजी सम्पत्ति तथा कम्युनिज्म" के शीर्षक से छापा गा है। इसे दूसरे अनुभागों के साथ-साथ दूसरी पाण्डुलिपि के अलग-अलग ठों के अनुपूरक के रूप में लिखा गया था। (इस पुस्तक के पृष्ठ १२१ से १४० को देखिए)। अतएव, इस अनुभाग के आरम्भ को (पाण्डुलिपि के पृष्ठ ११) मार्क्स ने बिन्दु ६ लिखा था क्योंकि इसे वह पिछले अनुभाग में दिये गये बिन्दुओं का अग्रभाग मानते थे। इसके बाद के अनुभाग के आरम्भ को होंने बिन्दु ७ में लिखा है। इसका शीर्षक है, "निजी सम्पत्ति के शासन के अन्तर्गत तथा समाजवाद के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताएँ"। यह पाण्डुलिपि के पृष्ठ १४ पर है। परन्तु, अपनी पाण्डुलिपि के आगे के पृष्ठों पर इस विषय पर विचार करते समय ऐसा लगता है कि मार्क्स ने यह तय कर लिया था कि सारी सामग्री को एक अलग अन्तिम (उपसंहारात्मक) अध्याय में इकट्ठा कर दिया जाय। इसका उल्लेख उन्होंने प्राक्कथन के अपने प्रारूप में किया है। पाण्डुलिपि के अनेक अनुभागों की ही तरह, यह अध्याय भी पूरा नहीं हो पाया था। इसे, लिखते समय मार्क्स ने हीगेल की कृति, "Phonomenologie des Geistes" के अन्तिम अध्याय ("परम ज्ञान") से विशेष उद्धरण निकाले थे। ये उद्धरण उसी नोट-बुक में हैं जिसमें तीसरी पाडुलिपि है (इन उद्धरणों को इस संस्करण में नहीं छापा गया है)। पृष्ठ १७५

४३. यह सन्दर्भ पूरे-तौर से सही नहीं है। जिस पुस्तक का उल्लेख किया गया है उसके पृष्ठ १९३ पर ब्रूनो बेयर ने हीगेलवाद-विरोधी श्री ग्रुप्पे के विरुद्ध नहीं, बल्कि दक्षिणपंथी हीगेलवादी मारहाइनके के विरुद्ध लिखा है। पृष्ठ १७६

४४. मार्क्स यहाँ हीगेल के सम्बन्ध में फायरबाख की आलोचनात्मक टिप्पणियों की ओर संकेत कर रहे हैं। ये टिप्पणियाँ उनकी पुस्तक, "Grundsatze der Philosophie der Zukunft" के पृष्ठ २९-३० पर पायी जाती हैं।

यह टिप्पणी तीसरी पाण्डुलिपि के पृष्ठ १३ के एकदम नीचे बिना यह इंगित किये हुए दी गयी है कि उसका संकेत किसकी ओर है। उस वाक्य के बाद, जिसकी ओर यह टिप्पणी संकेत करती प्रतीत होती है, जो तारक चिन्ह लगा दिया गया है उसे सम्पादकों ने लगाया है। पृष्ठ १७९

४५. यहाँ तीसरी पाण्डुलिपि के (जिसके एक भाग मे "निजी सम्पत्ति के शासन के अन्तर्गत तथा समाजवाद के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताएँ" से संबंधित अनुभाग का पाठ दिया हुआ है) पृष्ठ १७ पर मार्क्स ने यह टिप्पणी लिखी थी : "देखिए पृष्ठ १३"। यह बात सिद्ध करती है कि यह पाठ उसी भाग का अग्रिम सिलसिला है जिसमे हीगेलीय द्वन्द्ववाद के आलोचनात्मक विश्लेषण पर विचार किया गया है और जिसका आरम्भ पृष्ठ ११-१३ पर हुआ था। पृष्ठ १८२

४६. तीसरी पाण्डुलिपि के पृष्ठ १८ के अन्त मे मार्क्स की एक टिप्पणी है : "क्रमशः पृष्ठ २२ पर।" किन्तु, पृष्ठ सख्या डालते समय सख्या २२ को मार्क्स छोड़ गये थे (देखिए टिप्पणी सख्या १)। सम्बन्धित अध्याय के पाठ का शेष भाग उस पेज पर दिया हुआ है जिस पर लेखक ने २३ की सख्या डाली है। इस बात की पुष्टि उनकी इस टिप्पणी से भी होती है कि "देखिए पृष्ठ १८।" पृष्ठ १८४

४७. स्पष्टतया मार्क्स यहाँ न केवल श्रम तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र की कुछ अन्य कोटियों के सम्बन्ध मे हीगेल के विचारों के अंग्रेज क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के विचारों के साथ साम्य की ही बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि अर्थशास्त्र सम्बन्धी कृतियों के विषय में उनके गहन ज्ञान की ओर भी सकेत कर रहे हैं। १८०३-०४ मे जेना विश्वविद्यालय मे हीगेल ने जो भाषण दिये थे उनमे उन्होंने एडम स्मिथ के ग्रन्थ का जिक्र किया था। अपनी रचना, "Philosophie des Rechts"(अधिकारों का दर्शन)में (पृष्ठ १८६ पर) उन्होंने स्मिथ, "से" तथा रिकार्डो का उल्लेख किया है और अर्थशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन के तीव्र विकास को दर्शित किया है। पृष्ठ १८५

४८. अपनी कृति, "Phänomenologie des Geistes ("मस्तिष्क-सम्बन्धी घटना क्रम-विज्ञान) मे हीगेल ने "वस्तु-तत्व" (Dingheit) शब्द का प्रयोग सज्ञान की प्रक्रिया की एक अमूर्त, सार्वलौकिक मध्यस्थता करने वाली कड़ी को व्यक्त करने के लिए किया है; "वस्तु-तत्व" अलग-अलग वस्तुओं के विशिष्ट गुणों की सामान्य-धर्मता (सामान्यता) को उद्घाटित करता है। उसका पर्याय है : "शुद्ध सारतत्त्व" (das reine Wesen)। पृष्ठ १८७

४९. "चेतना की वस्तु को फतह करने" से सम्बन्धित "उपर्युक्त सभी मुद्दों में" अभिव्यक्त इन आठ मुद्दों (बिन्दुओं) को क्रमशः हीगेल की कृति, Phänomenologie des Geistes (मस्तिष्क-सम्बन्धी घटना-क्रम-विज्ञान) के अंतिम अध्याय ("परम ज्ञान") के पृष्ठ १ और ३ से उद्धृत किया गया है। पृष्ठ १८८

५०. तीसरी पाण्डुलिपि की पृष्ठ संख्या लिखते समय संख्या २५ को मार्क्स लिखना भूल गये थे। पृष्ठ १८८

५१. यहाँ मार्क्स फायरबाख की रचना, Grundsotze der Philosophie Zukunft के पृष्ठ ३० का हवाला दे रहे हैं जिसमें कहा गया है कि "हीगेल ऐसे विचारक हैं जो चिन्तन प्रक्रिया में स्वयं अपने को पीछे छोड़ देते हैं"। १९४

५२. इस गिनती में हीगेल के "Encyclopadie der philosophischen senschaften" में दी गयी मुख्य कोटियों को उसी क्रम से दिया गया है के अनुसार हीगेल ने उनकी जाँच-पड़ताल की थी। इसी प्रकार, जिन टियों को (पृष्ठ१९६-१९७) मार्क्स ने "नागरिक क़ानून" से लेकर "विश्व इतिहास" तक यहाँ उद्धृत किया है, उनको उसी क्रम से रखा गया है जिसमें वे त की रचना, "अधिकारों का दर्शन" में सामने आयी हैं। पृष्ठ १९७

५३. "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा" अर्थशास्त्र के न्ध में लिखी गयी एंगेल्स की पहली रचना है। "Deutsch-Franzosische rbucher" में उनकी जो रचनाएं छपी थीं उनमें यह प्रमुख थी। इसने तथा र्स द्वारा लिखे गये कार्यक्रम सम्बन्धी लेखों ने मिलकर ही इस पत्रिका की वस्तु- ; विचारधारा को सुनिश्चित कर दिया था। एंगेल्स की इस रचना में मार्क्स अत्यधिक दिलचस्पी थी। उन्होंने उसका एक संक्षिप्त विवरण तैयार किया बाद में अपनी कृतियों में इस रचना का उन्होंने एक से अधिक बार उल्लेख किया था। "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान" (१८५९) के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में मार्क्स ने इसे "अर्थशास्त्र सम्बन्धी कोटियों की आलोचना के सम्बन्ध में अत्यंत प्रतिभा-सम्पन्न निबन्ध" बतलाया था। इस बात के बावजूद कि इस रचना में अपरिपक्वता के कुछ ऐसे चिन्ह थे जिनका विचारों के विन्यास की प्रारम्भिक अवस्था में मौजूद होना अनिवार्य था, इस रचना में भौतिकवादी अर्थशास्त्र सम्बन्धी नयी दिशा की कुछ मान्यताओं का स्पष्ट पूर्वानुमान मौजूद था। उसकी कमियां ये थीं कि उस पर फ़ायरबाख के निरपेक्ष मानवतावाद का प्रभाव था— उसे पूरे तौर से मिटाया नहीं जा सका था, मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का मूल्यांकन उसमें एकपक्षीय था, इत्यादि। इन कमियों के बारे में एक आम तरीके से एंगेल्स ने लीबनेख्त के नाम १३ अप्रैल, १८७१ को लिखे अपने पत्र में स्वयं भी लिखा था।

प्रगतिशील हलकों के दूसरे प्रतिनिधियों पर भी इस रचना का गहरा प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिए, बर्लिन के डा० जुलियस वाल्देक ने,

वेडेमेयर के नाम लिखे गये अपने एक पत्र में इस रचना के विचारों की परिपक्वता तथा साहसिकता की सराहना करते हुए कहा था : "एंगेल्स ने वास्तविक चमत्कार कर दिखलाया है" ! (गी० मेयर, Friedrich Engels, Eine Biographie, खण्ड १, पृष्ठ १७१) ।

अंग्रेजी में "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा" सबसे पहले कार्ल मार्क्स की पुस्तक, "अर्थशास्त्र तथा दर्शन-सम्बन्धी १८४४ की पाण्डुलिपियाँ" के एक परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई थी (विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, १९५९) । पृष्ठ २११

५४. "प्रत्ता कानून-विरोधी संघ" : देखिए, टिप्पणी संख्या १६ । पृष्ठ २२६

५५. न्यू यौर्क में १६ दिसम्बर १८३५ को लगी आग की ओर संकेत है । पृष्ठ २३५

५६. "मारकस" के हस्ताक्षरों से इंगलैण्ड में उस समय कई पुस्तिकाएँ (पैम्फ़लेट) प्रकाशित हुई थीं । १८३९ में जौन हिल, ब्लैकहाऊस कोर्ट, फ्लीट-स्ट्रीट द्वारा मुद्रित "जन संकुलता (घनी आबादी) को सीमित करने की सम्भावना" तथा "बिना कष्ट के मार देने का सिद्धान्त"—इन पुस्तिकाओं में छपी थीं । "बिना कष्ट के मार देने का सिद्धान्त" के प्रकाशन की घोषणा "द न्यू मोरल वर्ल्ड" (नयी नैतिक दुनिया) में १९ अगस्त, १८४० को की गयी थी। इन पुस्तिकाओं ने आबादी के सम्बन्ध में माल्थस के मानव-द्रोही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था । "मारकस" के प्रमुख विचारों को, निजी परिचलन के लिए छापे गये गुमनाम पैम्फ़लेटः "जन संकुलता पर निबन्ध" में भी सार रूप में दे दिया गया था । यह पैम्फ़लेट १८३८ में छपा था । पृष्ठ २३९

५७. १८३४ के "ग़रीब कानून सशोधन अधिनियम" की ओर इशारा है । इस क़ानून के अन्तर्गत ग़रीबों को अनाथालयों में रख दिया गया था । इन अनाथालयों को जनता "ग़रीब क़ानून के शाही कारागार" कहती थी । इस क़ानून को रद्द कराने की माँग चार्टिस्टों की एक मुख्य माँग थी ।

"इस क़ानून का चरित्र-चित्रण मार्क्स की रचना, 'प्रशा का बादशाह और सामाजिक सुधारः लेखक एक प्रशियाई' (नामक) लेख पर हाशिये पर लिखी गयी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ" में दिया गया है (देखिए: मार्क्स/एंगेल्स : सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड १, पृष्ठ ३९७-९९)। पृष्ठ २३९

५८. सुलभ सामग्री के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि इस कथन से किस साहित्यिक योजना का हवाला यहाँ दिया जा रहा है। सम्भवतः

ल्स के दिमाग़ मे अंग्रेज़ो के सामाजिक इतिहास पर एक पुस्तक लिखने की जना थी। उसका उल्लेख उन्होने इस कृति के अन्त मे किया है (इस पुस्तक पृष्ठ २४६ देखिए)। "इंगलैण्ड की दशा" के शीर्षक से एगेल्स ने एक लेख-ला लिखी थी। वही एक प्रकार से इस रचना की सक्षिप्त प्रारम्भिक रूपरेखा । उसमें एडम स्मिथ की अर्थशास्त्र सम्बन्धी शिक्षाओं तथा वेन्थम और मिल उपयोगितावाद को एगेल्स ने निजी सम्पत्ति का आधिपत्य, स्वार्थान्धता, ा व्यक्ति का परकीयकरण, आदि कह कर चित्रित किया था। उन्होने लाया था कि विश्व और विश्व व्यवस्था के सम्बन्ध मे ईसाइयों के ष्टिकोण से उत्पन्न होने वाले सिद्धान्तों की ससिद्धि का ही प्रतिनिधित्व ये विचार ते थे। परन्तु, यह भी बहुत सम्भव है कि एगेल्स के दिमाग़ मे अर्थशास्त्र के बन्ध मे कोई और विशेष पुस्तक लिखने की योजना रही हो। एक साल बाद, न अर्थशास्त्री लिस्ट के सम्बन्ध मे एक पुस्तिका तैयार करने के लिए विशेष से उन्होंने काम किया था (मार्क्स के नाम १९ नवम्बर, १८४४ को लिखे उनके पत्र को देखिए)। पृष्ठ २४१

५९. एगेल्स के दिमाग़ मे अंग्रेज़ो के सामाजिक इतिहास पर उस पुस्तक योजना है जिसे वह लिखना चाहते थे। इंगलैण्ड के अपने प्रवास के दिनो मे वम्बर १८४२—अगस्त १८४४) उन्होने इसके लिए सामग्री भी जमा की थी। पुस्तक में इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा के सम्बन्ध में वह एक पूरा याय लिखना चाहते थे। बाद में उन्होने अपनी योजना को बदल दिया था र इंगलैण्ड के सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में अलग से एक विशेष पुस्तक लिखने फ़ैसला किया था। जर्मनी लौट आने पर इस किताब को उन्होने पूरा किया । "**इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा**" के नाम से यह पुस्तक १८४५ मे इपज़िग मे प्रकाशित हुई थी। पृष्ठ २४८

नामों की अनुक्रमणिका

ह

उद्धृत तथा उल्लिखित साहित्य की अनुक्रमणिका

कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स की कृतियाँ

मार्क्स, कार्ल

Marks Karl Zur kritik der Hegelschen, Rechtsphilosophie. Einleitung. In : Deutsch-Französische Jahrbucher, 1844. S. 74-85

एंगेल्स फ्रेडरिक

Engels, Friedrich Umrisse zu einer Kritik der Nationalokonomie. In : Deutsch-Französische Jahrbucher, 1-2. Lfg., 1844, S 86-114.

अन्य लेखकों की कृतियाँ तथा दस्तावेजें

उ

उरे, एण्ड्रयू

Ure, Andrew. The Philosophy of Manufactures ; or, an exposition of the Scientific, Moral and Commercial Economy of the Factory System of Great Britain, London, 1835

ए

एलिसन, आर्कीबाल्ड : "जनसंख्या के सिद्धान्त, तथा मानवीय सुख के साथ उनका सम्बन्ध," खण्ड १ और २, लन्दन, १८४० ।

एसकिलस : "बन्दी प्रोमथियस"

इंगलैण्ड में आयरलैण्ड के सम्बन्ध... प्रकाशित जाँच-समितियों की रिपो... के अंश ।

गेटे, जोहान वोल्फगांग फॉन : फास्ट...
त्रे [स्कोव]

Goethe, Johann Wolfgang vo... Faust, Der Tragodie, Erster T...
—Die Grenzen der mensc... heit.

त्रे [स्कोव]

T [reskow], A. v. Der ber... mannische Distrikt zwisch... Birmingham und Wolverhamp... on, mit besonderer Bezugnahm... auf die Gewinnung des Eisen... In : Deutsche Vierteljahrs Schrif... 2 Heft. Stuttgart und Tubinge... [1838].

देस्तुत द ट्रेसी, [आन्तोनी-लुई क्लॉद...] कोम्ते द : "विचारधारा के तत्व"...

Destutt de Tracy, [Antoin... Louis-Claude] Compte de El... mens d'ideologie IVe et Ve ... rties. Traite de la volonte et ... ses effets. Paris, 1826.

प

प्रूधों, पियरे-जोसेफ़ : "सम्पत्ति कहाँ से आयी ?"

Proudhon, Pierre-Joseph. Qu'-est-ce que la propriete ? Ou recherches sur le principe du droit et du gouvernement. Premier memoire, Paris, 1840.

पेक्केयर को [न्स्तैन्तिन]

Pecqueur, C[onstantin] Theorie nouvelle d'economie sociale et politique, ou etudes sur l'organisation des societes, Paris, 1842

फ

फ़ायरबाख़, लुडविग :

Feuerbach, Ludwig. Grundsatze der Philosophie der Zukunft, Zurich und Winterthur, 1843

—Vorlaufige Thesen zur Reformation der Philosophie. In : Anekdota zur neuesten deutschen Philosophie und Publicistik von Bruno Bauer, Ludwig Feuerbach, Friedrich Koppen, Karl Nauwerck, Arnold Ruge und einigen Ungenannten; hrsg. von Arnold Ruge. Bd 1-II, Zurich und Winterthur, 1843.

—Das Wesen des Christenthums, Leipzig, 1841

फुक, जोर्ज लुडविग विल्हेल्म :

Funke, Georg Ludwig Wilhelm Die aus der unbeschrankten Theilbarkeit des Grundeigenthums hervorgehenden Nachtheile hinsichtlich der Cultur des Bodens und der Bevolkerung und die hierdurch bewirkte Auflosung der historischen Elemente des Staates und somit des standisch-organischen Staates selbst, Hamburg und Gotha, 1839.

ब

बुरेत, युजेनो :

Buret, Eugene. De la misere des classes laborieuses en Angleterre et en France; de la nature, de la misere, de son existence, de ses effets, de ses causes, et de l'insuffisance des remedes qu'on lui a opposes jusqu'ici; avec l'indication des moyens propres a en affranchir les societes, T. 1, Paris, 1840.

बेयर, ब्रूनो :

Bauer, Bruno Das entdeckte Christenthum. Eine Erinnerung an das achtzehnte Jahrhundert und ein Beitrag zur Krisis des neunzehnten, Zurich und Winterthur, 1843

—Die gute Sache der Freiheit und meine eigene Angelegenheit, Zurich und Winterthur, 1842

—Kritik der evangelischen Geschichte der Synoptiker, Bd. 1-2, Leipzig, 1841; Bd. 3, Braunschweig, 1842.

म

मारकस

Marcus. An Essay on Populousness, Printed for the Author, 1838.

—On the Possibility of Limiting Populousness Printed by John Hill, Black Horse Court, Fleet Street, 1838

—The Theory of Painless Extinction. Cf The New Moral World : Advertisements, 29 VIII 1840.

मिल, जे [म्स] : "राजनीतिक अर्थशास्त्र के तत्व।"

Mill, J [ames] Elemens d'economie politique Traduits de l'anglais par J T Parisot, Paris, 1823.

मोजर, जस्टस :

Moser, Justus : Patriotische Phantasien. Hrsg. von seiner Tochter J. W. J. v. Voigt, geb. Moser. 4 Teile, Berlin, 1775

र

रिकार्डो, डेविड :

Ricardo, David. Des principes de l'economie politique, et de l'impot. Traduit de l'anglais par F. S. Constancio D M etc; avec des notes explicatives et critiques, par M. Jean-Baptiste Say. T. 2, 2e ed., Paris, 1835.

ल

लियो, हेनरिख :

Leo, Heinrich. Studien und Skizzen zu einer Naturlehre des Staates Halle, 1833.

लूडोन, चार्ल्स :

Louden Charles, Solution du probleme de la population et de la subsistance, soumise a un medecin dans une serie de lettres, Paris, 1842.

व

वाइटलिंग, विलहेल्म

Weitling, Wilhelm. Das Evangelium eines armen Sunders, Bern, 1845

—Garantien der Harmonie und Freiheit, Vivis, 1842

—Die Menschheit, wie sie ist und wie sie sein sollte, Paris, 1838.

वाडे, जोन

Wade, John History of the Middle and Working Classes; with a popular Exposition of the Economical and Political Principles, which Have Influenced the Past and the Present Condition of the Industrious Orders Also an Appendix of Prices, Rates of Wages, Population, Poor Rates, etc , London, 1835

श

शुल्ज, विलहेल्म

Schulz Wilhelm. Die [illegible]gung der Production. Eine ges-

-chichtlich-statistische Abhandlung zur Grundlegung einer neuen Wissenschaft des Staats und der Gesellschaft, Zurich, und Winterthur, 1843.

शेक्सपियर, विलियम : एथेन्स का टिमान

Shakespeare, William Timon of Athens

शेवालियर, मिशेल :

Chevalier, Michel Des interets materiels en France Travaux publics, Paris, 1838.

श

स्कारबेक, फ्रेदरिक

Skarbek, Frederic Theorie des richesses sociales. Suivie d' une bibliographie de l'economie politique, T 1—2, Paris, 1839.

स्मिथ, एडम :

Smith, Adam. An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations, Vols 1—3, London, 1789

—Recherches sur la Nature et les causes de la richesse des Nations. Traduction nouvelle, avec des notes et observations, par Germain Garnier T. 1—5, Paris, 1802.

सिस्मान्दी, ज्याँ शार्ल-लियोनार्द सिमान्दे द :

Sismondi, J [ean-] C [harles-] L [eonard] Simonde de Nouveaux principes d' economie politique ou de la richesse dans ses rapports avac la population, T. 1—2, Paris, 1819.

से, ज्याँ बाप्तिस्ते :

Say, Jean-Baptiste Traite d'economie politique, ou simple exposition de la maniere dont se forment, se distribuent, et se consomment les richesses, T. 1-23me ed., Paris, 1817.

ह

हेगेल, जोर्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक :

Hegel, Georg Wilhelm Friedrich. Werke, Berlin, 1831.

—Phanomenologie des Geistes, Bd 2, 1832.

—Wissenschaft der Logik, Bd 3—5, 1833—34

—Encyclopadie der philosophischen Wissenschaften im Grundrisse, 3 Ausg., Heidelberg, 1830

हेस, मोजेज :

Hess, Moses. Philosophie der Tat. In: Einundzwanzig Bogen aus der Schweiz. Hrsg. von Georg Herwegh, Zurich und Winterthur, 1843

धर्म

लेखक : कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स

सम्पादक और अनुवादक : रमेश सिनहा

वैज्ञानिक समाजवाद के आद्य संस्थापकों की इस अमर कृति में धर्म के सारतत्व, धर्म की उत्पत्ति तथा वर्ग समाज में धर्म की भूमिका के बारे में सही मार्क्सवादी विचारों को प्रतिपादित किया गया है।

जिस तरह स्त्रियों के दुख को देखकर महाकवि तुलसीदास के मुंह से निकल पड़ा था, "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" उसी प्रकार धर्म के नाम पर जनता के दोहन-उत्पीड़न को देखकर महान मनीषी मार्क्स कह उठे थे, 'धर्म जनता की अफीम है।" इन शब्दों को पा जाने के बाद मार्क्सवाद के विरोधियों ने यह भी सोचने-समझने या बतलाने की जरूरत नहीं समझी कि उनका प्रयोग मार्क्स ने किस सन्दर्भ में और क्यों किया था।

इसकी वजह यह थी कि शोषक वर्ग यह नहीं चाहते कि कोई ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा आगे बढ़ सके जो उनके शोषण के खिलाफ़ है।

इस ग्रन्थ में सविस्तार बतलाया गया है कि मार्क्स और एंगेल्स ने धर्म के "मिथ्या" तथा "भ्रान्तिपूर्ण" रूप की आलोचना किसलिए की थी और इस आलोचना के द्वारा मनुष्य के लिए वे किस प्रकार का बोधत्व और देवत्व प्राप्त करना चाहते हैं।

यह महान ग्रन्थ अब तक हिन्दी में अप्राप्य था। ग्रन्थ में मार्क्स और एंगेल्स के चित्र भी दिये गये हैं।

पृष्ठ संख्या २६६, सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य मात्र १॥ रुपया

•

कम्युनिस्ट नैतिकता

लेखक : मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, आदि

सम्पादक और अनुवादक : रमेश सिनहा

कम्युनिस्ट नैतिकता क्या है ? क्या कम्युनिस्ट किसी नैतिकता को मानते भी हैं ? सत्य के बारे में उनका क्या मत है ? क्या बड़े लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में वे साधनों की परवाह नहीं करते ?

इसके अतिरिक्त, विवाह, प्रेम, परिवार, देशभक्ति, कर्त्तव्यपरायणता, मनुष्य के आत्मिक जीवन तथा मूल्यों से सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में कम्युनिस्टों की क्या धारणाएं हैं ?

इन प्रश्नो के उत्तर से परिचित होना आज केवल सैद्धान्तिक या दार्शनिक महत्व की चीज नहीं रह गयी है। यह तात्कालिक व्यावहारिक महत्व की भी चीज बन गयी है। कम्युनिस्ट विचारधारा देश की धरती में समा कर एक नई राष्ट्रीय परम्परा और एक नये भारतीय मार्ग की लीक डाल रही है।

इस पुस्तक में संग्रहीत स्फुट उद्धरणो; पत्रों, लेखाशों, आदि में उपर्युक्त प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है।

इससे कम्युनिस्टो को और निकट से जानने तथा देश और दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन की अविजेय शक्ति के नैतिक स्रोतों को समझने में सहायता मिलेगी।

पृष्ठ २६६। सचित्र, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल १० रुपया

पार्टी जीवन के लेनिनवादी आदर्श

लेखक : आई० प्रोनोन तथा एम० स्तेपीचेव

अनुवादक और सम्पादक : रमेश सिनहा

कम्युनिस्ट पार्टी और उसके चरित्र, उसकी बनावट, उसके संगठनात्मक नियमो, उसकी कार्य-पद्धति और उसके उच्च आदर्शों से परिचित कराने वाली निस्सदेह यह सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है।

कम्युनिस्ट को कैसा होना चाहिए, कम्युनिस्ट होना कितने सम्मान और गौरव की बात है, और कम्युनिस्ट को पार्टी में तथा जनता के बीच किस तरह काम करना चाहिए—यह सब मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के उद्धरण देकर और उनके जीवन के उदाहरण प्रस्तुत करके बड़े सरल और प्रभावी ढंग से बतलाया गया है।

पार्टी के अन्दर जनतन्त्र है कि नहीं? पार्टी सदस्यों के क्या अधिकार होते हैं? आलोचना—आत्म-आलोचना का क्या अर्थ होता है? सामूहिक नेतृत्व का सिद्धांत क्यों जरूरी है? काम की जाँच-पड़ताल कैसे और क्यों करनी चाहिए? जन संगठन क्यों निर्णायक महत्व रखते हैं? नौजवान कम्युनिस्टों का संगठन क्यों आवश्यक है? इन सभी प्रश्नों पर इस पुस्तक मे सोदाहरण प्रकाश डाला गया है।

दूसरी कोई ऐसी पुस्तक अभी तक देखने में नहीं आयी।

कार्ड बोर्ड की बढ़िया जिल्द, आकर्षक आवरण। पृष्ठ १८२, मूल्य दस रुपया।

१. युवकों से सम्बोधन

युवकों, नौजवानों उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा क्रान्ति के प्रति उनके उत्तर-दायित्व और उसमे उनकी भूमिका के सम्बन्ध मे लेनिन की प्राय: समस्त बहुमूल्य रचनाओं, पत्रों आदि को इस कृति मे एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। यह सामग्री हिन्दी में अभी तक कही भी प्राप्य नही थी।

पृष्ठ ३६० । सजिल्द । मूल्य पन्द्रह रुपया

२. साहित्य और कला

लेनिन की इस महत्वपूर्ण पुस्तक में साहित्य और कला के सम्बन्ध में उनके लेखों, पत्रों, स्फुट विचारों तथा उनसे सम्बन्धित संस्मरणों को एकत्रित कर दिया गया है। प्रत्येक लेखक, साहित्यकार तथा विज्ञ पाठक के लिए इस कृति का पढ़ना अनिवार्य माना जाना चाहिए।

पृष्ठ ३७६ । सजिल्द । मूल्य पन्द्रह रुपया

३. लेनिन और धर्म

धर्म—जैसे महत्वपूर्ण तथा विवादास्पद विषय के सम्बन्ध में लेनिन के ओजस्वी विचार इस पुस्तक मे सग्रहीत हैं।

पृष्ठ १२४ । कार्डबोर्ड कवर । मूल्य तीन रुपया

४. जनता के बीच पार्टी का काम

इस पुस्तक मे जनता के बीच काम करने से सम्बन्धित उन अनेक ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है जिनका प्रायः सभी देशों के जन आन्दोलनों को और, विशेषकर, क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलनों को किसी न किसी समय अवश्य सामना करना पड़ता है।

यह एक ऐसा गुटका है जिसे प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता तथा क्रान्तिकारी को हमेशा अपने पास रखना चाहिए।

पृष्ठ १८८ । कार्डबोर्ड कवर । मूल्य आठ रुपया

५. पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन

इसमे संग्रहीत लेखों मे लेनिन ने बतलाया है कि पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन का क्या सम्बन्ध है, पार्टी साहित्य किसे कहते हैं, पार्टी का पत्र कैसा होना चाहिए, साहित्य मे पक्षधरता का क्या महत्व है, आदि। (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ ८४ । मूल्य तीन

६. क्रान्तिकारी सेना और क्रान्तिकारी सरकार

क्रान्तिकारी संघर्षों, जनता को शिक्षित करने में क्रान्तिक
भूमिका, क्रान्ति के टेढ़े-मेढ़े और "छलांगों में भरे" रास्तों, क्रा
संजीदा और योजनापूर्ण तैयारियां, "क्रान्ति में बल और
भूमिका", आदि-आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्याओं पर
संकलन में प्रकाश डाला है। (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ १२०। मूल्य तीन रु

७. मार्क्सवाद के सिद्धान्त

इसमें मार्क्सवाद या कम्युनिज्म के मूल सिद्धान्तों को, उनके
आर्थिक सिद्धान्तों को, अत्यन्त संक्षेप में व्याख्या की गयी है और
वर्ग-संघर्ष की कार्यनीति" पर भी प्रकाश डाला गया। (दूसरा स

पृष्ठ ८०।

८. राज्यसत्ता क्या है

इस पुस्तिका में संग्रहीत लेनिन के दो व्याख्यानों में बड़े रो
ढंग से बतलाया गया है कि राज्यसत्ता क्या है, कब और कैसे पै
क्या उसने रूप लिये, और अब उसका क्या भविष्य है। (तीसरा

पृष्ठ ३२।

९. अवसरवाद तथा द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का

इसमें संग्रहीत रचनाओं का लेनिन-साहित्य में अत्यन्त महत्व
अवसरवाद, क्रान्तिकारी परिस्थिति और क्रान्ति, ज्ञान-प्राप्ति की
विषयों पर इसमें अन्तर्राष्ट्रीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रकाश डा

पृष्ठ १६०। मूल

इण्डिया
सी-७/२, रिवर बैंक कालो